भारतीय अर्थशास्त्र की रूपरेखा

प्रथम भाग

लेखक

शंकरसहाय सक्सेना एम० ए०, एम० कॉम०

प्रिंसिपल, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर

डीन, क़ामर्स-फैकल्टी, राजपूताना-विश्वविद्यालय

तथा

प्रेमनारायण माथुर एम० ए०, बी० कॉम०

भूतपूर्व गृह तथा शिक्षा मंत्री, राजस्थान

एवं आचार्य, वनस्थली-विद्यापीठ

श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आ

प्रथम संस्करण : १६५१
द्वितीय संस्करण : १६५२

मूल्य ८)

द्वितीय संस्करण की भूमिका

भारतीय अर्थशास्त्र की रूप रेखा के प्रथम भाग का प्रथम संस्करण केवल कुछ मास में ही समाप्त हो गया। यह इस बात का द्योतक है कि पुस्तक अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई। लेखक पुस्तक के द्वितीय संस्करण को लेकर उपस्थित होते हुए एक संतोष का अनुभव करते हैं।

द्वितीय संस्करण में पुस्तक में बहुत अधिक परिवर्तन और संशोधन कर दिया गया है। भारत आज एक आर्थिक संकट में से निकल रहा है। अस्तु; जो भी आर्थिक समस्याएँ भारत के सामने आज उपस्थित हैं उनका प्रस्तुत पुस्तक में विशद विवेचन किया गया है।

योजना आयोग द्वारा उपस्थित की हुए पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में भी पुस्तक के दूसरे भाग में एक पृथक् परिच्छेद लिखा गया है। जहाँ तक खेती के सम्बंध में योजना आयोग के सुझाव हैं वे संक्षेप में प्रथम भाग के अन्तिम परिच्छेद में दे दिए हैं। लेखकों ने इस बात की भरसक चेष्टा की है कि पुस्तक को प्रामाणिक और सब प्रकार से पूर्ण बनाया जावे। हमें विश्वास है कि पुस्तक भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए अब पहले से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

उदयपुर
१५-१२-१९५१

शंकरसहाय सक्सेना
प्रेमनारायण माथुर

निवेदन

शताब्दियों के उपरान्त भारतवर्ष ने राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त की है और वह अब शीघ्र ही एक विदेशी भाषा की दासता को अस्वीकार कर मातृभाषा के द्वारा उच्च शिक्षा का प्रबंध करने में प्रयत्नशील हैं। परंतु मातृभाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने में सबसे बड़ी कठिनाई उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों की है। अंग्रेजी में प्रत्येक विषय पर हज़ारों की संख्या में उच्चकोटि की पुस्तकें हैं, परन्तु हिन्दी का साहित्य अभी तक इस दृष्टि से निर्धन है।

लेखकों का यह व्यक्तिगत अनुभव रहा है कि जब भी किसी विश्वविद्यालय में देशी भाषाओं को माध्यम बनाने का प्रश्न उठा तभी उसके विरोधी पाठ्य पुस्तकों के अभाव को लेकर उपस्थित हुए। इस अभाव को पूरा करने के उद्देश्य से ही लेखक पिछले वर्षों में हिन्दी अर्थशास्त्रसाहित्य के निर्माण का कार्य करते रहे हैं। और इसी उद्देश्य से वे इस पुस्तक को लेकर उपस्थित हुए हैं।

यद्यपि इस पुस्तक को लिखने का मुख्य उद्देश्य विश्व-विद्यालयों की परीक्षाओं के लिए "भारतीय अर्थशास्त्र" पर एक प्रामाणिक पुस्तक हिन्दी में देना है, परन्तु पुस्तक लिखते समय इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है कि एक शिक्षित व्यक्ति, जो कि भारत की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करना चाहता हो, अर्थशास्त्र की जानकारी न होने पर भी भारत की आर्थिक समस्याओं की पूरी जानकारी प्राप्त कर सके।

राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के उपरान्त भारत को अपनी अर्थव्यवस्था का पुनः नवीन ढंग से निर्माण करना होगा। भारत के विभाजन से कुछ नवीन आर्थिक समस्याएँ हमारे देश के सामने खड़ी होगई हैं। इन सभी प्रश्नों का विस्तृत उत्तर पुस्तक में देने का प्रयत्न किया गया है। जो नवीन योजनाएँ भारत सरकार अथवा प्रान्तीय सरकारों ने अपने हाथ में ले रक्खी हैं उनका विस्तृत वि[illegible], [illegible] किया गया है संक्षेप में पुस्तक में भारत की सभी आर्थिक समस्याओं का दि[illegible]वन कराने का प्रयत्न किया गया है।

लेखकों का यह विश्वास है कि पुस्तक अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों, अध्यापकों राजनीतिज्ञों तथा सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

उदयपुर
२—१—५१

शंकरसहाय सक्सेना
प्रेमनारायण माथुर

विषय-सूची

परिच्छेद १

परिच्छेद २

परिच्छेद ३

परिच्छेद ४

परिच्छेद ५

परिच्छेद ६

परिच्छेद ७

परिच्छेद ८

सरकार द्वारा खाद तैयार करने के कारखानों की स्थापना—औज़ार—पशु की अत्यन्त हीन दशा—गोवंश की हीन दशा के कारण—चारे की कमी—गाय-बैलों की नस्ल सुधारना—जिला-बोर्ड द्वारा सहायता—सहकारी नस्ल-सुधार-समितियां—गोशाला—गो सेवा-संघ—पशुओं के रोग— भारत में पशुओं का महत्त्व—राष्ट्रीय सम्पत्ति में पशु-धन्धे का स्थान—भारत का विभाजन और पशु धन—बीज—किसान को स्वयं अपना बीज उत्पन्न करना चाहिए।

परिच्छेद ६

खेती के लिए साख की आवश्यकता—किसान को तीन प्रकार की साख चाहिए—ग्राम्य साख के स्रोत—महाजन या साहूकार—सरकार द्वारा दिये गए तकावी ऋण—कृषि सम्बन्धी साख—ग्राम्य अर्थ कारपोरेशन बिल : पूँजी, साख, प्रबन्ध—ग्रामीण-ऋण किसान के ऋणी होने के कारण : खेती की पैदावार कम होना, भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होना, भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार होना, ग्रामीण ऋण का अधिकांश में अनुत्पादक होना, सामाजिक कृत्य, फसल का नष्ट हो जाना, पैतृक ऋण, ऋण मिलने की सुविधा और अत्यधिक सूद, मुकदमेबाजी, ढोरों की मृत्यु, लगान—ऋणी होने से हानियां—ग्रामीण-ऋण की समस्या को हल करने का प्रयत्न—ऋण परिशोध—भावनगर राज्य में ऋण-परिशोध—ऋण-परिशोध के प्रयत्न—लेन-देन पर नियन्त्रण—ऋण-समझौता बोर्ड—बाधित समझौता—ग्रामीण दिवालिया कानून—लेखक की योजना—महायुद्ध और ग्रामीण ऋण—प्रति वर्ग के प्रति व्यक्ति पर ऋण।

परिच्छेद १०

भारत में सहकारिता आन्दोलन का आरम्भ—१९०४ का कानून, मल्टी यूनिट कोआपरेटिव सोसायटीज ऐक्ट १९४२—कृषि साख-सहकारी समितियां—सेंट्रल बैंक तथा बैंकिंग यूनियन : साधारण सभा, संचालन, पूँजी—प्रान्तीय सहकारी बैंक या सर्वोपरि बैंक : सदस्यता, संचालन, कार्यशील पूँजी, पूँजी लगाना—प्रान्तीय बैंक और सेण्ट्रल बैंक—प्रान्तीय बैंक और सहकारिता विभाग—प्रान्तीय बैंक और रिजर्व बैंक—आडिट—अखिल भारतीय प्रान्तीय सहकारी बैंक एसोसिएशन—सहकारी [illegible] बैंक—बैंक के उद्देश्य—भूमि बंधक बैंकों की दशा: पंजाब, मदरास, [illegible], बंगाल, [illegible] प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, अजमेर-मेरवाड़ा—

निवेदन

शताब्दियों के उपरान्त भारतवर्ष ने राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त की है और वह अब शीघ्र ही एक विदेशी भाषा की दासता को अस्वीकार कर मातृभाषा के द्वारा उच्च शिक्षा का प्रबंध करने में प्रयत्नशील है। परंतु मातृभाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने में सबसे बड़ी कठिनाई उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों की है। अंग्रेजी में प्रत्येक विषय पर हज़ारों की संख्या में उच्चकोटि की पुस्तकें हैं, परन्तु हिन्दी का साहित्य अभी तक इस दृष्टि से निर्धन है।

लेखकों का यह व्यक्तिगत अनुभव रहा है कि जब भी किसी विश्वविद्यालय में देशी भाषाओं को माध्यम बनाने का प्रश्न उठा तभी उसके विरोधी पाठ्य पुस्तकों के अभाव को लेकर उपस्थित हुए। इस अभाव को पूरा करने के उद्देश्य से ही लेखक पिछले वर्षों में हिन्दी अर्थशास्त्रसाहित्य के निर्माण का कार्य करते रहे हैं। और इसी उद्देश्य से वे इस पुस्तक को लेकर उपस्थित हुए हैं।

यद्यपि इस पुस्तक को लिखने का मुख्य उद्देश्य विश्व-विद्यालयों की परीक्षाओं के लिए "भारतीय अर्थशास्त्र" पर एक प्रामाणिक पुस्तक हिन्दी में देना है, परन्तु पुस्तक लिखते समय इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है कि एक शिक्षित व्यक्ति, जो कि भारत की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करना चाहता हो, अर्थशास्त्र की जानकारी न होने पर भी भारत की आर्थिक समस्याओं की पूरी जानकारी प्राप्त कर सके।

राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के उपरान्त भारत को अपनी अर्थव्यवस्था का पुनः नवीन ढंग से निर्माण करना होगा। भारत के विभाजन से कुछ नवीन आर्थिक समस्याएँ हमारे देश के सामने खड़ी होगई हैं। इन सभी प्रश्नों का विस्तृत उत्तर पुस्तक में देने का प्रयत्न किया गया है। जो नवीन योजनाएँ भारत सरकार अथवा प्रान्तीय सरकारों ने अपने हाथ में ले रक्खी हैं उनका विस्तृत वि[illegible], [illegible] किया गया है संक्षेप में पुस्तक में भारत की सभी आर्थिक समस्याओं का दि[illegible]न कराने का प्रयत्न किया गया है।

लेखकों का यह विश्वास है कि पुस्तक अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों, अध्यापकों, राजनीतिज्ञों तथा सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

उदयपुर
२—१—५१

शंकरसहाय सक्सेना
प्रेमनारायण माथुर

परिच्छेद १४

परिच्छेद १५

परिच्छेद १६

परिच्छेद १

प्रस्तावना

'भारतीय अर्थशास्त्र' के सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न जो हमारे सामने उपस्थित होता है वह यह है कि क्या 'भारतीय अर्थशास्त्र' कोई पृथक अथवा स्वतंत्र शास्त्र है। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में दो भिन्न मत हैं। प्राचीन अर्थशास्त्रियों का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सभी देशों में एक समान लागू होते हैं और वे सर्वकालीन हैं; उनके मतानुसार चाहे आप भारत को लें अथवा ब्रिटेन, संयुक्तराज अमेरिका, अरब या अफ्रीका को लें, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सब देशों में एक समान लागू होंगे। उनकी दृष्टि में भारतीय अर्थशास्त्र अथवा अफ्रीका के अर्थशास्त्र की बात कहना मिथ्या है। इस प्रकार का कोई शास्त्र नहीं हो सकता। उनकी सम्मति में एक देश की आर्थिक समस्याओं को अन्य देशों की आर्थिक समस्याओं से भिन्न नहीं किया जा सकता। कुछ अर्थशास्त्री तो यहाँ तक कहते हैं कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द मिथ्या और भ्रमोत्पादक है। अस्तु, प्राचीन अर्थशास्त्रियों के मतानुसार 'भारतीय अर्थशास्त्र' जैसा कोई पृथक शास्त्र नहीं हो सकता, और न उसके अध्ययन करने की आवश्यकता है।

आर्थिक विचारों से सम्बन्ध रखने वाला एक दूसरा मत भी है जिसको 'ऐतिहासिक मत' कहते हैं और जिसका सर्व प्रथम प्रतिपादन जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री 'लिस्ट' ने किया था। उसका कहना था कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त सर्वकालीन अथवा सर्वदेशीय नहीं हैं। उसका कहना था कि किसी देश की भौगोलिक परिस्थिति, प्रकृति, सामाजिक संगठन, उसका इतिहास, उसकी परम्पराएँ, उसके निवासियों की मनोवृत्ति, उसकी संस्कृति, इत्यादि का उस देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है और इनके कारण अर्थशास्त्र के कथित सर्वदेशीय सिद्धान्तों में उलट-फेर हो जाता है। उदाहरण के लिए मुक्तद्वार व्यापार नीति (Free Trade) ब्रिटेन के उद्योग-धंधों के लिए उन्नीसवीं शताब्दी में लाभदायक सिद्ध हुई और वही नीति अंग्रेजी शासन काल में भारत में लागू करदी गई। अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि यह मुक्तद्वार व्यापार नीति भारतीय उद्योग-धंधों के लिए कैसी हानिकर और विनाशकारी सिद्ध

हुई। जो बात किसी एक देश के आर्थिक हित में हो वही दूसरे देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। यह जानने के लिए कि किसी देश के आर्थिक हित में क्या लाभकारी होगा हमें उस देश की विशेष परिस्थितियों का अध्ययन करना होगा। इस दृष्टि से देखने पर हम यह कह सकते हैं कि हमें "भारतीय अर्थशास्त्र" का एक स्वतंत्र विषय के रूप में अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि यद्यपि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त मनुष्य स्वभाव की कुछ आधारभूत मान्यताओं पर आधारित हैं और इस कारण बहुत कुछ हद तक सर्वदेशीय और सर्वकालीन हैं फिर भी वे देश विशेष की भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक संगठन, तथा परम्पराओं से प्रभावित होते हैं और उनमें उलट-फेर होता है।

अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए कि हम 'भारतीय अर्थशास्त्र' का विशेष रूप से अध्ययन करें और उसे एक विशेष विषय स्वीकार करें। सच तो यह है कि ब्रिटेन तथा आयरलैंड इत्यादि देशों की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए "इंग्लिश पोलीटिकिल इकानामी" या "ब्रिटिश इकानामी" अथवा "नेशनल इकानामी आव आयरलैंड" शब्दों का उपयोग बराबर किया जाता है। आज प्रत्येक देश में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अध्ययन के अतिरिक्त उस देश की विशेष आर्थिक समस्याओं का विशेष अध्ययन करने पर जोर दिया जा रहा है।

भारतीय अर्थशास्त्र की परिभाषा : यह निश्चय कर लेने के उपरान्त कि भारतीय अर्थशास्त्र का एक स्वतंत्र विषय के रूप में अध्ययन करना आवश्यक है, यह भी आवश्यक है कि हम उसकी परिभाषा करें। भारतीय अर्थशास्त्र के बहुत से अर्थ किए जा सकते हैं।

(१) "भारतीय अर्थशास्त्र" शब्द का पहला अर्थ तो यह हो सकता है कि हम उसको "भारतीय आर्थिक विचारों का इतिहास" (History of Indian Economic Thought) के अर्थों में लें। इस बात के यथेष्ट प्रमाण हमें मिलते हैं कि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने "वर्त" अर्थात् सम्पत्ति शास्त्र के सिद्धान्तो पर बहुत कुछ लिखा था। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि प्राचीन भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे हुए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का हम अध्ययन करें तो वह बहुत ही रोचक होगा। प्राचीन भारतीय विद्वानों के अर्थशास्त्र सिद्धान्त सम्बन्धी विचार, बृहस्पति तथा कौटिल्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्रों में, तथा महाभारत और मनुस्मृति, तथा नीति ग्रन्थों में बिखरे हुए पड़े हैं; परन्तु इन ग्रन्थों के बीच में इतने अधिक समय का अन्तर हो गया है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार शृंखलाबद्ध नहीं मिलते। हाँ, स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी तथा रानाडे महोदय के समय से अवश्य हमें भारतीय आर्थिक विचारों का शृंखलाबद्ध इतिहास उपलब्ध है। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों का अध्ययन बहुत रुचिकर और महत्वपूर्ण हो सकता है किन्तु "भारतीय अर्थशास्त्र" का वास्तविक रूप

इससे सर्वथा भिन्न है। भारतीय अर्थशास्त्र में हम प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारों का अध्ययन नहीं कर सकते। हमें आज प्राचीन आर्थिक इतिहास से कुछ लेना-देना नहीं है; हमें तो भारतीय अर्थशास्त्र में वर्तमान आर्थिक समस्याओं का हल निकालने के अभिप्राय से अध्ययन करना है।

(२) "भारतीय अर्थशास्त्र" का एक दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की विवेचना भारतीय उदाहरण देकर की जावे, किन्तु यह ठीक नहीं है।

(३) एक तीसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि "भारतीय अर्थशास्त्र" अर्थशास्त्र के नवीन सिद्धान्तों का समूह है। यह धारणा इस आधार पर आश्रित है कि भारतीय समाज तथा यहाँ की परिस्थितियाँ पश्चिमीय सभ्यता तथा परिस्थितियों से इतनी भिन्न हैं कि अर्थशास्त्र की आधारभूत मान्यताएँ इस देश में कभी भी लागू नहीं हो सकतीं। किन्तु "भारतीय अर्थशास्त्र" इससे सर्वथा भिन्न है। भारतीय अर्थशास्त्र में हम अर्थशास्त्र के नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने नहीं जारहे हैं। सच तो यह है कि भारतीय तथ्यों पर आधारित कोई नवीन अर्थशास्त्र हम नहीं बना सकते; केवल भारत की सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक विशेष परिस्थितियों के कारण तथा यहाँ के भिन्न वातावरण के कारण जो अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को लागू करने में कुछ संशोधन तथा परिवर्द्धन करने की आवश्यकता है उसका ही हम "भारतीय अर्थशास्त्र" में अध्ययन कर सकते हैं।

भारतीय अर्थशास्त्र का वास्तविक अर्थ : भारतीय अर्थशास्त्र का वास्तविक अर्थ है भारत की आर्थिक समस्याओं तथा उनको हल करने के उपायों का अध्ययन। भारतीय अर्थशास्त्र में हमें विशेष परिस्थितियों (सामाजिक तथा राजनैतिक) का भारत की आर्थिक स्थिति पर कैसा प्रभाव पड़ता है इसका भी अध्ययन करना होगा। इसके अतिरिक्त हमें उन विशेष आर्थिक समस्याओं का भी अध्ययन करना होगा जिनका देश को सामना करना पड़ रहा है और जिनका हमें हल ढूंढ निकालना होगा। भारत की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि हमारा देश अभी भी पश्चिमी राष्ट्रों की तुलना में पिछड़ा हुआ है और हमें धंधों को देश में विकसित करना है। अस्तु, उसकी समस्याएँ औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों की समस्याओं से भिन्न हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन में रीति रिवाजों का वहाँ के आर्थिक जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं है परन्तु भारत में रीति रिवाजों का आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भारत में सामाजिक संस्थाओं तथा नियमों का देश के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव है। उदाहरण के लिए भारतीय समाज का अनेक जातियों में बँटा होना (जाति प्रथा), सम्मिलित

कुटुम्ब तथा पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम—सभी हमारे आर्थिक जीवन पर विशेष प्रभाव डालते हैं। भारत की जलवायु तथा अन्य भौगोलिक परिस्थितियों ने भी भारत के आर्थिक जीवन में अन्य देशों की तुलना में भिन्नता उत्पन्न कर दी है।

१५ अगस्त १९४७ से पूर्व भारत परतंत्र था। वह अपनी अर्थनीति में भी स्वतंत्र नहीं था। विदेशी सरकार की अर्थनीति ने भारत की आर्थिक उन्नति में जितनी अधिक रुकावट उत्पन्न की उतनी और किसी भी कारण से नहीं हुई। निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी विदेशी सरकार ने देश को आर्थिक दृष्टि से उन्नत नहीं होने दिया। आज हम स्वतंत्र हैं और आशा है कि सरकार की अर्थनीति देश को समृद्धिशाली बनाने में सहायक होगी।

अतएव हमें भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करते समय इन बातों का ध्यान रखना होगा कि यहाँ की सामाजिक, राजनैतिक तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ भारतीय आर्थिक जीवन पर विशेष रूप से प्रभाव डालती हैं और भिन्नता उत्पन्न करती हैं। "अतएव भारतीय आर्थिक समस्याएँ विशेषतया उसकी अपनी हैं और उनका विधिवत् अध्ययन करना तथा उनका हल ढूँढ निकालना ही भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र है।"

संक्षेप में हम भारतीय अर्थशास्त्रकी परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं: **"भारतीय अर्थशास्त्र भारत की आर्थिक समस्याओं, उनके कारण तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उनका हल निकालने का अध्ययन है।"**

भारतीय अर्थशास्त्र का प्रारम्भ : जब भारत में ब्रिटिश शासन की नींव दृढ़ हो गई तो शासकवर्ग उसका आर्थिक शोषण करने लगे। उन्होंने भारत के प्रति बागीचा नीति (Plantation Policy) को अपनाया। अंग्रेज शासकों ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि भारतवर्ष केवल एकमात्र खेतिहर देश बन जावे और वह ब्रिटेन के कारखानों को कच्चा माल भेजता रहे; साथ ही वह ब्रिटेन के कारखानों के तैयार किए हुए माल के लिए एक विशाल बाजार बन जावे जहाँ कि ब्रिटेन का माल बिका करे। इस नीति को अपनाते समय हमारे अंग्रेज शासक उन सार्वभौम आर्थिक सिद्धान्तों की दुहाई देते थे जिनको इंग्लैण्ड के अर्थशास्त्रियों ने प्रचारित किया था। वे यह भूल गये कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त परिस्थिति के अनुसार संशोधित हो सकते हैं। उन्होंने कहा कि क्योंकि मुक्तद्वार नीति (Free Trade) ब्रिटेन के लिए लाभदायक थी इस कारण वह भारतवर्ष के लिए भी लाभदायक होगी। क्योंकि अहस्तक्षेप नीति (Laissez-faire Policy) ब्रिटेन के लिए उपयुक्त थी, वह भारत के लिए भी उपयुक्त समझी गई, यद्यपि यहाँ व्यक्तिगत उद्योग-धंधों का विकास नहीं हुआ था।

ब्रिटिश सरकार की इस घातक अर्थनीति का भारतीय अर्थशास्त्रियों तथा राज-

नैतिक नेताओं ने कड़ा विरोध किया। दादाभाई नौरोजी, दिनशा वाचा, रमेश चन्द्र दत्त, जी० सुब्राह्मणियम ऐयर इत्यादि ने अंग्रेजों की शोषण नीति का कड़ा विरोध किया। उन्होंने सरकार पर यह दोषारोपण किया कि सरकार की अर्थनीति से भारत को कोई लाभ नहीं पहुँचता तथा ब्रिटेन के हितों को बढ़ाने तथा उनकी रक्षा करने के लिए भारत के हितों को बलिदान कर दिया जाता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारत का जो आर्थिक शोषण हो रहा है उसको रोका जावे तथा मुद्रा, माल, तथा आयात-कर नीति को भारत के हितों के अनुकूल निर्धारित किया जावे।

यद्यपि ऊपर लिखे अर्थशास्त्र के विद्वानों ने भारत की निर्धनता का मुख्य कारण ढूँढ निकाला था किन्तु श्रीमान् रानाडे ने केवल भारत की निर्धनता तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होने के मुख्य कारणों का ही अध्ययन नहीं किया वरन् उसका विस्तार-पूर्वक अध्ययन करके उसके हल भी ढूँढ निकाले। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि अर्थशास्त्र की बहुत सी आधारभूत मान्यताएँ भारत के सम्बन्ध में लागू नहीं होतीं अतएव राज्य को भारत की विशेष परिस्थितियों की ओर से उदासीन नहीं होना चाहिए। अपनी पुस्तक 'Essay on Indian Economics' उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में भारत सरकार द्वारा ब्रिटेन के लिए उपयुक्त अर्थनीति का अंधानुसरण करने के विरुद्ध लिखी थीं। क्योंकि यह मान्यताएँ (उदार व्यक्तिवाद, स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा, पूंजी और श्रम की गतिशीलता) आर्थिक दृष्टि से उन्नतिशील राष्ट्रों में भी सत्य नहीं हैं; हमारे समाज में तो वे बिल्कुल ही लागू नहीं होतीं। हमारे लिए एक साधारण मनुष्य आर्थिक मनुष्य से सर्वथा भिन्न है। इस देश में परिवार, जाति का प्रभाव, मनुष्य का सामाजिक पद निर्धारित करता है; मनुष्य का व्यक्तित्व उसके पद को निर्धारित करने में इतना सहायक नहीं होता। यद्यपि देश में आर्थिक स्वार्थ की भावना का अभाव नहीं है किन्तु भारतीयों का एकमात्र वही लक्ष्य नहीं है। केवल सम्पत्ति (Wealth) के पीछे ही एक औसत भारतीय नहीं पड़ा रहता, वही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं है। भारतवर्ष में रीति-रस्म तथा राज्य के नियम अधिक प्रभावशाली हैं, प्रति-स्पर्धा (Competition) का इतना अधिक प्रभाव नहीं है। यहाँ न तो पूंजी (Capital) और न श्रम ही अधिक गतिशील है। लाभ तथा मजदूरी परिपाटी द्वारा अधिक निर्धारित होती हैं, परिस्थिति के परिवर्तन के साथ उनमें परिवर्तन नहीं होता। जनसंख्या तेजी से बढ़ती है, केवल महामारी तथा अकाल ही उसकी वृद्धि को रोकते हैं; और उत्पादन लगभग एकसा रहता है, वह आगे नहीं बढ़ता। ऐसे समाज में अर्थशास्त्र की आधारभूत मान्यताएँ सत्य प्रमाणित नहीं होतीं। यों कहने के लिए यह सत्य है कि समयानुसार पहाड़ों को नदियाँ काट काट कर समुद्र में बहा ले जायँगी, घाटियाँ पट जायँगी, तथा सूर्य ठण्डा हो जायगा परन्तु इस सत्य के रहते हुए भी हमारे

व्यवहार पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार से अर्थशास्त्र की आधारभूत मान्यताएँ भारतवर्ष में व्यवहार में लागू नहीं होतीं। इसी कारण रानाडे महोदय ने इस बात की माँग की कि "पुराने अर्थशास्त्र सिद्धांतो को दुहाई न देकर हमें परिस्थितियों को ध्यान में रख कर अर्थशास्त्र के सिद्धांतो को लागू करना चाहिए।"

श्रीमान् रानाडे महोदय ने सरकार तथा जनता का इस ओर ध्यान दिला कर देश की महान सेवा की इसमें कोई सन्देह नहीं। उनके कार्य का इस देश में वही महत्व है जैसा कि फ्रेडरिक लिस्ट का योरोप के अर्थशास्त्र जगत में था। फ्रेडरिक लिस्ट ने अपने "राष्ट्रीय अर्थशास्त्र" में उन प्राचीन अर्थशास्त्र सिद्धांतों का घोर विरोध किया जिनको अर्थशास्त्री सर्वकालीन और सार्वभौम सत्य मानते थे। जर्मनी के इस विद्वान ने सबसे पहले विद्वानों का इस ओर ध्यान दिलाया कि यह सिद्धांत सर्वकालीन और सार्वभौम सत्य नहीं हैं, उनका प्रत्येक देश की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रख कर ही अध्ययन करना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि रानाडे महोदय ने भारतवर्ष की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर जो इस प्रकार का विरोध खड़ा किया उससे देश को लाभ हुआ। उनकी देश के प्रति यह महान सेवा थी। परन्तु जब रानाडे महोदय ने यह लिखा था तब से परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। किन्तु रानाडे महोदय के तर्क को लेकर आज भी कुछ लेखक यह कहते नहीं थकते कि अर्थशास्त्र की आधारभूत मान्यताएं भारत की विशेष परिस्थिति में बिलकुल लागू नहीं होतीं और अर्थ शास्त्र के सिद्धान्तों का भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने में कोई भी उपयोग नहीं है। सच तो यह है कि पिछले ५० वर्षों में भारत की आर्थिक परिस्थिति में बहुत परिवर्तन हुआ है और वे पश्चिमीय देशों जैसी ही होती जा रही है। इसके अतिरिक्त पिछले वर्षों अर्थ शास्त्रियों ने यह दावा करना छोड़ दिया है कि अर्थ शास्त्र के सिद्धान्त सार्वभौम सत्य हैं तथा सब जगह एक समान लागू होते हैं। अर्थशास्त्र ने आज अपनी मान्यताओं का संशोधन कर लिया है तथा यह पहले से बहुत अधिक मानवीय तथा व्यवहारिक हो गया है।

भारत की मुख्य आर्थिक समस्या : भारत के पास अनन्त प्राकृतिक देन है किन्तु हम अभी तक उसको पूर्ण रूप से उन्नत नहीं कर सके हैं। हमारे राष्ट्र के आर्थिक जीवन में खेती का विशेष महत्व है। लगभग ८० प्रतिशत जनसंख्या केवल खेती पर निर्वाह करती है जो कि एक बहुत ही अनिश्चित तथा पिछड़ा हुआ धंधा है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश जनसंख्या निर्धनता का जीवन व्यतीत करती है; बहुतों को तो भरपेट भोजन भी प्राप्त नहीं होता। उनकी अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं होतीं। आये दिन दुर्भिक्ष मुँह बाये खड़ा रहता है।

यद्यपि भारत प्राकृतिक देन की दृष्टि से धनी है, उसके पास असंख्य जनसंख्या होने के कारण एक बहुत विस्तृत बाजार है तथा श्रम और पूंजी की कमी नहीं है परन्तु फिर भी देश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। इसका मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार ने देश की औद्योगिक उन्नति की ओर कभी ध्यान नहीं दिया वरन् देश की औद्योगिक उन्नति न होने दी। इसके अतिरिक्त भारतीय श्रम की अपेक्षाकृत अकुशलता, संगठन का अभाव, तथा व्यवसायिक साहस की कमी भी हमारी औद्योगिक हीनता के कारण थे। जो कुछ भी धंधे अभी तक इस देश में स्थापित हुए हैं वे अधिकतर विदेशी पूंजी की सहायता से स्थापित हुए हैं। हाँ, पिछले कुछ वर्षों से भारतीय पूंजी और भारतीय पूंजीपतियों ने इस ओर ध्यान दिया है और अब जो धंधे स्थापित हो रहे हैं वह भारतीय पूंजी की सहायता से ही स्थापित हो रहे हैं। भारत के स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त विदेशी पूंजी का प्रभाव कम होता जा रहा है।

अतएव भारत की मुख्य आर्थिक समस्या उसकी बढ़ी हुई निर्धनता है जो कि उसके आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण है। यह तभी दूर हो सकती है जब कि भारत का आर्थिक योजना के अनुसार पुनः निर्माण होगा जिससे कि भारत में खेती और उद्योग-धन्धों की उन्नति हो और उनमें सामञ्जस्य स्थापित हो सके। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यही है कि हम भारत की निर्धनता के कारण और उसको दूर करने के उपाय ढूँढ निकालें। आगे के परिच्छेदों में हम इसी मुख्य समस्या का अध्ययन करेंगे।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का उपयोग

भारतीय अर्थशास्त्र भारत की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन कराता है। इस देश की आर्थिक समस्याएँ इतनी विभिन्न और पेचीदा हैं कि उनका अध्ययन करने से केवल यही ज्ञात नहीं होता कि हम देश को समृद्धिशाली किस प्रकार बना सकते हैं परन्तु उसके अध्ययन से मस्तिष्क का विकास होता है। जब तक कि कोई व्यक्ति अपने देश की आर्थिक समस्याओं को जानता न हो और उसने उनका अध्ययन न किया हो तब तक वह सही अर्थों में शिक्षित नहीं कहा जा सकता। आज हमारे देश की आर्थिक समस्याएँ ऐसी जटिल हो गई हैं कि सरकार तथा जनता के सम्मिलित प्रयत्न के बिना उनका हल हो सकना कठिन ही नहीं, असम्भव है। अस्तु, आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि प्रत्येक नागरिक देश की आर्थिक समस्याओ से अवगत हो और उनका अध्ययन करे। आज तो स्थिति यह है कि बहुत से शिक्षित भारतीय देश के सामने जो गम्भीर आर्थिक समस्याएँ हैं उनको समझते ही नहीं। भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से उनके ज्ञान की वृद्धि होगी, मस्तिष्क का विकास होगा तथा वे देश की आर्थिक समस्याओं से अवगत हो सकेंगे। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय

अर्थशास्त्र के अध्ययन का सांस्कृतिक महत्व है।

सांस्कृतिक महत्व को यदि छोड़ भी दें तो भी आज इस विषय का अध्ययन हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। शताब्दियों के उपरान्त देश स्वतन्त्र हुआ है और हम यहाँ जनतन्त्र की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। परन्तु जनतन्त्र तभी सफल हो सकता है, देश तभी समृद्धिशाली बन सकता है और भारत की निर्धन जनता तभी आर्थिक स्वराज्य प्राप्त कर सकती है जब कि भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों को भारत की आर्थिक समस्याओं का ज्ञान हो। यदि व्यवस्थापिका सभा के सदस्य मुद्रा पद्धति, कर नीति (Tariff Policy), विदेशी विनिमय (Foreign Exchange), राजस्व (Public Finance) तथा कृषि और उद्योग-धंधों के सम्बन्ध में कुछ न जानें तो वे उसका हल किस प्रकार ढूँढ़ सकते हैं? आज तो देश की संसद या व्यवस्थापिका सभाओं को मुख्यतः आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में कानून बनाना पड़ता है, अतएव आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक भारतीय भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करे।

द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप तथा इस देश के विभाजन के फलस्वरूप बहुत सी गम्भीर आर्थिक समस्याएँ प्रकट हो गई हैं। उन समस्याओं को हल किए बिना हम आर्थिक उन्नति नहीं कर सकते। यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम उन समस्याओं का अध्ययन करें और उनका हल ढूँढ़ निकालें। जब तक हम इन समस्याओं को सफलता पूर्वक हल नहीं कर लेते तब तक वास्तविक स्वतन्त्रता हमसे दूर रहेगी।

व्यवहारिक दृष्टि से भी भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। भारतीय कृषि की समस्याओं का अध्ययन खेती करने वालों के लिए, औद्योगिक समस्याओं का अध्ययन व्यवसायियों के लिए, व्यापार वाणिज्य की गति विधि की जानकारी व्यापारियों के लिए तथा मजदूर समस्याओं का अध्ययन मजदूर कार्यकर्त्ताओं के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। उसी प्रकार बैंकिंग का कार्य करने वालों को भारतीय बैंकिंग का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि उससे हमें भारत की मुख्य आर्थिक समस्या अर्थात् भारत की निर्धनता को दूर करने में सहायता मिलती है।

परिच्छेद २

भारत की भूमि अर्थात् प्राकृतिक साधन

मनुष्य अपनी भौगोलिक परिस्थितियों की उपज है। कोई भी मनुष्य समूह तभी बढ़ सकता है, समृद्धिशाली तथा सबल बन सकता है, जब उसकी प्रकृति धनी हो और वह उसके लिए यथेष्ट भोजन तथा जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उपलब्ध कर सके। प्रत्येक व्यक्ति को—चाहे वह धनी हो या निर्धन हो, सभ्य हो अथवा असभ्य हो, ठंडे देश का रहने वाला हो अथवा गरम देश का रहने वाला हो—भोजन, वस्त्र, मकान, ईंधन, आराम तथा विलासिता की वस्तुएँ, औजार तथा धंधों के लिए आवश्यक सामान तो अवश्य ही चाहिए जिससे कि वह अधिक धन (Wealth) उत्पन्न कर सके। ऊपर बताई हुई सभी वस्तुएँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में भूमि से ही उत्पन्न होती हैं। अस्तु, बहुत अंशों में किसी देश की प्रकृति ही उसके निवासियों के पेशों, उद्योग-धन्धों, उनके रहने के ढंग तथा उनके स्वभाव को निर्धारित करती है। अस्तु, भारतवर्ष की आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के पूर्व यह आवश्यक है कि हम भारत के प्राकृतिक साधनों का अध्ययन कर लें।

बर्मा को छोड़कर अविभाजित भारतवर्ष का क्षेत्रफल १५,४२,३३२ वर्ग मील था। उसकी उत्तर से दक्षिण तक लम्बाई २००० मील तथा पूर्व से पश्चिम तक चौड़ाई २५०० मील थी। वह एशिया के महादेश से ऊँची सुलेमान पहाड़ियों से उत्तर-पश्चिम की ओर, तथा उत्तर में हिन्दूकुश तथा महापर्वत हिमालय की गगनचुम्बी शृंखलाओं से पृथक कर दिया गया है तथा उसके पश्चिमीय तथा पूर्वीय किनारों को क्रमशः अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी धोते हैं।

विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान का क्षेत्रफल लगभग २,३६,००० वर्ग मील है और शेष भारत का क्षेत्रफल लगभग १३,६४,००० वर्ग मील रह गया है और उसकी उत्तर-पश्चिमीय प्राकृतिक सीमा नष्ट होकर छिन्न-भिन्न हो गई है। हिन्द यूनियन की सीमा पंजाब के बीच से राजपूताने की सीमा पर होकर जाने से अत्यन्त अप्राकृतिक तथा अरक्षित हो गई है।

भारत की स्थिति, जहाँ तक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रश्न है, अत्यन्त सुविधा-जनक है। वह पूर्वीय गोलार्द्ध के मध्य में है और हिन्द महासागर के सिर पर स्थित है।

नई दुनिया तथा पुरानी दुनिया के लिए जितने भी व्यापारिक मार्ग हैं अर्थात् अफ्रीका तथा योरोप, पश्चिमीय आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण में प्रशान्त महासागर के द्वीप, चीन, और पूर्व में जापान तथा अमेरिका को जाने वाले मार्गों को भारत के बंदरगाहों को छूना ही पड़ता है। एक प्रकार से भारत इन व्यापारिक मार्गों का निर्देशक है। यद्यपि हिमालय की ऊँची श्रेणियों ने भारत के स्थलीय व्यापारिक मार्गों का विकास नहीं होने दिया और उसको अपने पड़ोसियों से दूर रक्खा फिर भी उत्तर-पश्चिम के दर्रों से उसका अफ़गानिस्तान तथा फारस से व्यापारिक सम्बन्ध था। पूर्व में तिब्बत और चीन से भी कुछ व्यापार इन दर्रों के मार्ग से होता है।

भारत के समुद्रतट की यद्यपि लम्बाई बहुत है—३००० मील से अधिक है—किन्तु वह कटा फटा कम होने के कारण यहाँ आधुनिक ढंग के बन्दरगाह अधिक नहीं हैं। समुद्र तट के समीप अधिकतर छिछला है और समुद्रतट अधिकतर रेतीला और चौरस है। इन्हीं कारणों से भारत में अच्छे बन्दरगाहों की कमी है।

भारतवर्ष के प्राकृतिक भाग : भारतवर्ष एक विशाल देश है। यहाँ समतल मैदान, गगनचुम्बी ऊँचे पर्वत, नदियों की घाटियाँ, विस्तृत मरु-भूमि, सघन वन—सभी प्रकार के प्रदेश देखने को मिलते हैं परन्तु पृथ्वी की बनावट के अनुसार हम देश को चार भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) हिमालय का पहाड़ी प्रदेश जो उत्तर में स्थित है ;

(२) गंगा और सिंध का मैदान जो गंगा के डेल्टा से सिन्ध के डेल्टा तक फैला हुआ है ;

(३) दक्षिण का पठार जो मैदानों के दक्षिण में है ;

(४) तटीय मैदान जो दक्षिण पठार के पूर्व और पश्चिम में है ।

पर्वतीय प्रदेश : दक्षिण पठार के उत्तर-पूर्व में जो प्रदेश है और जो आज हिमालय का पर्वतीय देश तथा गंगा के मैदान के नाम से प्रसिद्ध हैं, किसी समय समुद्र के नीचे छिपा हुआ था। जिस समय दक्षिण पठार ज्वालामुखी के विस्फोट के कारण लावा से ढक गया उसी समय पृथ्वी के धरातल में ऐसा भयंकर परिवर्तन हुआ कि जिसमें उत्तर के छिछले समुद्र का धरातल ऊँचा उठकर संसार के सबसे ऊँचे पर्वत में परिणित हो गया। इन नवीन पर्वतश्रेणी से नदियों ने प्रति वर्ष अनन्त राशि में मिट्टी तथा रेत ला-लाकर इस छिछले समुद्र को पाटना आरम्भ कर दिया और धीरे-धीरे इस विस्तृत मैदान को संसार में सबसे अधिक उपजाऊ मैदानों में परिणित कर दिया।

उत्तर का विशाल हिमालय पर्वत संसार भर के पहाड़ों से अधिक ऊँचा है। इसकी पर्वत श्रेणियाँ [illegible] से आरम्भ होती है। हिमालय पर्वतश्रेणी की लम्बाई पूर्व [illegible] में [illegible] पश्चिमोत्तर भाग तक २००० मील है और उसकी चौड़ाई

१८० से २२० मील है जिसमें संसार के सब से ऊँचे शिखर मौजूद हैं। हिमालय की अभेद्य दीवार ने भारतवर्ष को अपने पड़ोसी देशों से सर्वथा पृथक कर दिया है। इस पर्वतमाला की मुख्य श्रेणी की औसत ऊँचाई २०,००० फीट है। मार्ग अत्यन्त दुर्गम है और किसी प्रकार का आवागमन तथा व्यापार कठिन है।

किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हिमालय से इस देश को कोई लाभ नहीं है। सच तो यह है कि हिमालय का हमारे आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हिमालय का भारत के जलवायु पर गहरा असर है। भारत के उत्तरी भाग में जो वर्षा होती है उसका मुख्य कारण हिमालय पर्वत ही है। मानसून इन पहाड़ों से टकरा कर सारा जल उत्तर के मैदानों में गिरा देती है। यदि उत्तर में हिमालय की पर्वतश्रेणियाँ न होतीं तो मानसून हवाएँ उत्तर भारत को पार करके चली जातीं और वह सूखा रह जाता। हिमालय से केवल यही लाभ नहीं है वरन् उसका ढाल इस प्रकार का है कि जो नदियाँ उत्तर में तिब्बत में निकलती हैं वे भी दक्षिण की ओर मुड़कर भारत को जल देतीं हैं। इस प्रकार जो वर्षा भारत की सीमा के बाहर होती है उसका लाभ भी भारत को ही मिलता है। हिमालय से निकली हुई नदियों पर ही हमारे देश का मुख्य धंधा खेती निर्भर है। हिमालय पर बर्फ जमी रहने के कारण इनसे निकली हुई नदियों में गर्मी में भी पानी रहता है जिससे कि खेती की सिंचाई होती है। हिमालय उत्तर की अत्यन्त ठंडी हवाओं को रोक लेते हैं, नहीं तो इन ठंडी हवाओं के कारण खेती को बहुत हानि पहुँचती। इसके अतिरिक्त इन पर्वतों पर खड़े हुए वनों में अटूट वन-सम्पत्ति भरी हुई है जिस पर बहुत से धंधे निर्भर हैं। हिमालय में जलविद्युत् उत्पन्न करने के लिए बहुत ही उपयुक्त स्थान हैं।

हिमालय की पश्चिमीय पर्वत की शाखाएँ नीची और उजाड़ हैं। नदियों ने इन पहाड़ियों को काट कर सुगम दर्रे बना दिए हैं। इनमें खैबर और बोलन के दर्रे मुख्य हैं। शताब्दियों से भारत का अपने पड़ोसी अफगानिस्तान से इन्हीं दर्रों में होकर कारवां द्वारा व्यापार होता चला आ रहा है। हिमालय की पूर्वीय श्रेणियाँ जो पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी के मोड़ से दक्षिण की ओर जाती हैं और आसाम तथा ब्रह्मा में फैली हुई हैं, सघन वनों से ढकी हुई हैं।

गंगा व सिंध का मैदान : हिमालय के दक्षिण में सिंध और गंगा का उपजाऊ मैदान है। यह संसार के अत्यन्त उपजाऊ प्रदेशों में से है, इसी कारण यह अत्यन्त घना आबाद है। यह मैदान पश्चिम में अधिक चौड़ा और पूर्व में कम चौड़ा है। इसका क्षेत्रफल ५ लाख वर्ग मील है। इस विशाल मैदान में पत्थर का कहीं नाम तक नहीं मिलता। इस मैदान का दक्षिण-पूर्वीय भाग गंगा का बेसिन है और उत्तर-

पश्चिमीय भाग सिंध का बेसिन है। पश्चिमीय भाग मरुभूमि है। यह मरुभूमि हवा द्वारा उड़ाकर लाई हुई बालू से बना है। उत्तर में भाभर और तराई को छोड़कर शेष मैदान में गंगा और सिंध की सहायक नदियों का एक जाल बिछा हुआ है और उनके द्वारा लाई हुई मिट्टी से यह मैदान बने हैं।

उत्तर में जहाँ हिमालय की श्रेणियाँ आरम्भ होती हैं वहाँ पर असंख्य नदियों ने कंकड़ और पत्थर के ढेर इकट्ठे कर दिये हैं। यह पथरीले ढाल हिमालय पहाड़ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पाये जाते हैं। इन्हें 'भाभर' कहते हैं। 'भाभर' में चूना अधिक होने के कारण छोटी-छोटी नदियों और नालों का पानी इस प्रदेश में सूख जाता है, केवल बड़ी नदियों का पानी ऊपर बहता रहता है। इसलिए इस प्रदेश में खेती नहीं हो सकती।

भाभर के आगे जमीन मैदान में मिल जाती है। यहाँ पर वह पानी जो भाभर के अन्दर चला जाता है, पृथ्वी पर प्रगट होता है; इससे यहाँ दलदल और नमी बहुत है। इस नम प्रदेश में लम्बी घास और सघन वन हैं परन्तु नमी अधिक होने के कारण यहाँ मलेरिया का प्रकोप रहता है और आबादी कम है। इसको 'तराई' कहते हैं।

दक्षिण का पठार : गङ्गा और सिंध के मैदान के दक्षिण में पठार है। दक्षिण का पठार वास्तव में खुली घाटियों का प्रदेश है। यहाँ ढाल अधिक नहीं है और नदियाँ धीरे-धीरे बहती हैं। कहीं-कहीं पहाड़ियों का ढाल बहुत अधिक है परन्तु अधिकतर प्रायद्वीप में वास्तविक पर्वतश्रेणियाँ नहीं मिलतीं। यह तीनों ओर से पहाड़ों से घिरा है। उत्तर में विन्ध्य और सतपुड़ा हैं तथा पूर्व और पश्चिम में क्रमशः पूर्वीय तथा पश्चिमीय घाट हैं। दोनों घाटों के दोनों ओर दो पतली समथल भूमि की पट्टियाँ हैं। दक्षिण पठार का धरातल ऊबड़ खाबड़ है तथा उसमें चट्टानें हैं। अतएव वहाँ की वनस्पति में बहुत भेद है। दक्षिण के पठार का ढाल पश्चिम से पूर्व की ओर है, अधिकांश नदियाँ बङ्गाल की खाड़ी में गिरती हैं। दक्षिण में पठार की सभी नदियों में केवल वर्षा में पानी रहता है अन्यथा वे सूखी रहती हैं क्योंकि यहाँ के पहाड़ों पर बर्फ नहीं जमता। यही कारण है कि दक्षिण के पठार की नदियाँ न तो सिंचाई के लिए उपयुक्त हैं और न वे महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग ही बन सकती हैं, दक्षिण के पठार में नर्बदा और ताप्ती की घाटियों में बहुत बड़े और उपजाऊ मैदान हैं जिनमें बहुत अधिक पैदावार होती है। दक्षिण के पठार में नदियों, घाटियों तथा पूर्वी समुद्रतट के मैदानों तथा पश्चिमीय समुद्रतट के मैदानों में बहुत उपजाऊ मिट्टी पाई जाती है।

पठार के पश्चिम में पश्चिमीय घाट तथा पूर्वीय किनारे पर पूर्वीय घाट स्थित

है। पश्चिमीय घाट एक अभेद्य दीवार की भाँति पश्चिमीय किनारे पर खड़ा है। इसमें कुछ दर्रों में से होकर ही आने-जाने का मार्ग है। इनमें "भोरघाट" तथा "थालघाट" मुख्य हैं। पश्चिमीय घाट तथा समुद्र में अधिक अन्तर नहीं है। इसलिए पश्चिमीय तट के मैदान बहुत पतली पट्टी की भांति हैं। घाट के पश्चिमीय ढाल से निकल कर अरब सागर में गिरने वाली नदियों की संख्या बहुत अधिक है किन्तु वे बहुत छोटी हैं। जो नदियाँ पश्चिमीय घाट के पूर्वी ढाल से निकलती हैं उनकी घाटियाँ चौड़ी हैं तथा उनके मुहाने बड़े हैं।

पूर्वीय घाट पश्चिमीय घाट की भाँति ऊँचा और एकसा नहीं है। बहुत से स्थानों पर नदियों ने इस पर्वतश्रेणी को काटकर अपने डेल्टा बना लिए हैं। इस पर्वतश्रेणी और समुद्र के बीच एक नीचा मैदान है। पश्चिमीय तटीय मैदान से यह अधिक विस्तृत और चौड़ा है। पूर्वीय घाट की पर्वतश्रेणी बहुत नीची और टूटी हुई है। इस कारण यहाँ मार्ग आसानी से बनाये जा सकते हैं। पूर्वीय घाट दक्षिण में नीलगिरी पहाड़ियों द्वारा पश्चिमीय घाट से जुड़े हुए हैं।

मिट्टी : भारत एक विशाल देश है; इस कारण यहाँ कई प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। हम यहाँ केवल खेती की उपयोगिता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टियों का वर्णन करेंगे। नीचे लिखी मुख्य मिट्टियाँ भारत में पाई जाती हैं।

लाल मिट्टी : यह मिट्टी लाल होती है क्योंकि इसमें लोहा मिला होता है। यह मदरास, मैसूर, दक्षिण-पूर्व, बम्बई, हैदराबाद और मध्यप्रान्त के पूर्व में तथा छोटा नागपुर, उड़ीसा और बङ्गाल के दक्षिण में पाई जाती है। यह मिट्टी बहुत प्रकार की चट्टानों से बनी है, इस कारण यह गहराई और उर्वरा शक्ति में बहुत तरह की होती है। ऊँचे मैदानों में पाई जाने वाली लाल मिट्टी उर्वरा नहीं होती किन्तु जो नीचे मैदानों में पाई जाती है वह बहुत अच्छी होती है। इस मिट्टी में नाइट्रोजन (Nitrogen), फासफोरिक एसिड (Phosphoric Acid) और बनस्पति का अंश कम होता है परन्तु पोटाश और चूना यथेष्ट मिलता है।

काली मिट्टी (Black Soil) : काली मिट्टी सारे दक्षिण ट्रैप तथा मदरास के कुछ जिलों में पाई जाती है। दक्षिण ट्रैप में यह मिट्टी २,००,००० वर्ग मील में फैली हुई है। यह मिट्टी भी कई तरह की होती है। पहाड़ियों की ढालों और ऊँचे मैदानों पर पाई जाने वाली काली मिट्टी अधिक उपजाऊ नहीं होती परन्तु टूटी हुई पहाड़ियों के बीच की तथा मैदानों की मिट्टी बहुत उर्वरा और गहरी होती है।

बरसात के दिनों में यह मिट्टी चिकनी और लिबलिबी हो जाती है और गरमी के दिनों में उसमें बहुत दरारें पड़ जाती हैं। यह मिट्टी अधिकतर बहुत उपजाऊ होती है। मालवा के कुछ मैदानों में जहाँ यह मिट्टी पाई जाती है लगभग २००० वर्षों से

बिना सिंचाई, खाद, और भूमि को विश्राम दिये खेत जोते और बोये जाते हैं। मिट्टी में धातुओं की अधिक मिलावट होने से रंग काला हो गया है। इस मिट्टी पर कपास बहुत होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि वर्षा के उपरान्त यह मिट्टी गोंद के समान लिबलिबी हो जाती है और सूखने पर इतनी कड़ी हो जाती है कि सूरज की किरणें जमीन के अन्दर का पानी भाप बनाकर उड़ा नहीं पातीं। इसी कारण काली मिट्टी के प्रदेश में बिना अधिक बरसात और सिंचाई के ही कपास उत्पन्न हो सकती है।

इस मिट्टी में फासफोरिक एसिड (स्फुरिक अम्ल) व नत्रजन (Nitrogen.) कम होता है परन्तु पोटाश और चूना (Lime) यथेष्ट मिलता है।

लैटेराइट मिट्टी : यह मिट्टी विशेष कर मध्यभारत (ग्वालियर, कोटा, भूपाल, पन्ना, और रीवाँ राज्यों में), पूर्वीय और पश्चिमीय घाटों के समीप और कहीं-कहीं आसाम व बर्मा के समीप भी पाई जाती है। यह मिट्टी भी कई प्रकार की होती है। पहाड़ियों पर पाई जाने वाली मिट्टी बहुत कम उपजाऊ और घाटियों में पाई जाने वाली मिट्टी अधिक उपजाऊ होती है। इस मिट्टी में स्फुरिक अम्ल (Phosphoric Acid), पोटाश, और चूना कम होता है किन्तु वनस्पति का अंश यथेष्ट होता है।

गङ्गवार भूमि अर्थात् नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी : हिन्दोस्तान में यह मिट्टी सबसे अधिक उपजाऊ है। यही मिट्टी दक्षिण प्रायद्वीप के दोनों तटों पर मिलती है। पूर्वीय तट की ओर गोदावरी, कृष्णा, कावेरी के डेल्टों में यह मिट्टी पाई जाती है। इन मैदानों में चावल और गन्ने की फसलें खूब होती हैं। दक्षिण की इस मिट्टी में स्फुरिक अम्ल (Phosphoric Acid), नत्रजन (Nitrogen) और वनस्पति का अंश कम है किन्तु पोटाश और चूना यथेष्ट है।

उत्तर में सिंध और गंगा के विस्तृत मैदानों में यह मिट्टी फैली हुई है। अधिकांश सिंध, उत्तर राजपूताना, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और आधे आसाम में यही मिट्टी पाई जाती है। इस मिट्टी वाले प्रदेश का क्षेत्रफल तीन लाख वर्ग मील है। इस मिट्टी की गहराई का पता आज तक नहीं चला परन्तु बोरिंग करने से यह पता चलता है कि १६०० फीट तक यह मिट्टी मिलती है। इस प्रदेश की मिट्टी हिमालय से निकलने वाली नदियों द्वारा हिमालय की चट्टानों को काट कर लाई गई है।

सिंध और गंगा के मैदानों की मिट्टी में नत्रजन (Nitrogen, कम है, पोटाश काफी है और फासफोरिक एसिड यद्यपि बहुत नहीं है परन्तु बहुत कम भी नहीं है।

ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दोस्तान में पाई जाने वाली भिन्न-भिन्न मिट्टियों में नत्रजन एक ऐसा तत्व है जिसकी सर्वत्र कमी है। यही कारण है

कि हमें खाद के द्वारा इस तत्व की कमी को पूरा करने की जरूरत है।

अब हम नीचे खेती के साधनों का अध्ययन करने के सम्बन्ध में भूमि का अध्ययन करेंगे। नीचे दी हुई तालिका से हमें यह ज्ञात होगा कि देश में कितनी भूमि है:—

भारत में भूमि का विभाजन

(लाख एकड़ों में)

	अविभाजित भारत	विभाजित भारत	पाकिस्तान
१. कुल क्षेत्रफल ...	६६७०	५५८०	१०९०
२. वन प्रदेश ...	८७०	८३०	४०
३. क्षेत्रफल जो खेती के लिए उपलब्ध नहीं है ...	१२००	९२०	२८०
४. वह भूमि जिस पर खेती नहीं होती परन्तु जिसको खेती योग्य बनाया जा सकता है ...	११००	८९०	२१०
५. परती भूमि ...	६३०	५४०	९०
६. वह भूमि जिस पर खेती होती है ...	२८७०	२४१०	४६०
७. जिस भूमि पर दो फसलें होती है ...	४४०	३४०	१००
८. सींची जाने वाली भूमि ...	६७०	४७०	२००

विभाजित भारत में भूमि का उपयोग

विभाजित भारत में ३६ प्रतिशत भूमि पर फसले उत्पन्न होती हैं, १३ प्रतिशत पर वन खड़े हैं, २१ प्रतिशत खेती के योग्य बंजर हैं, ८ प्रतिशत परती भूमि है तथा २२ प्रतिशत खेती के अयोग्य भूमि है।

यदि हम जंगलों के क्षेत्रफल को निकाल दें तो ५८·१ प्रतिशत बची हुई भूमि पर खेती होती है जिसमें परती भूमि भी सम्मिलित है। शेष ४१·९ प्रतिशत में लगभग ६ प्रतिशत भूमि पर बस्ती है। शेष ३५·९ प्रतिशत भूमि ऐसी है जो कि आगे पीछे खेती के योग्य बनाई जा सकती है। सरकारी वर्गीकरण में जो भूमि खेती के लिए अप्राप्य मानी गई है वह भ्रमोत्पादक है। आधुनिक समय में विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप अधिकाधिक भूमि खेती के योग्य बनाई जा सकेगी। प्रोफेसर वोले तथा रावर्टसन ने भी इस

काल्पनिक तथा भ्रमोत्पादक भेद, अर्थात् खेती योग्य बंजर और खेती के लिए अप्राप्य भूमि, को मिटा देने के लिए कहा है। प्रचलित परती भूमि को भी फसल के हेर फेर (Rotation of Crops) में सुधार करने से कम किया जा सकता है। खेती योग्य बंजर को खेती योग्य बनाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

भारतवर्ष में सरकारी आँकड़ों के अनुसार बहुत सी भूमि खेती के योग्य है परन्तु बेकार पड़ी रहती है। यह खेती के योग्य भूमि कभी भी जोती नहीं गई क्योंकि किसान कुछ भूमि को चरागाह के रूप में छोड़ना आवश्यक समझते हैं। कुछ प्रदेशों में बहुत सी भूमि कुशासन के कारण बेकार पड़ी रहती है और कुछ बंजर भूमि ऐसी है कि जो आसानी से उन्नत की जा सकती है किन्तु उसको सुधारने का कोई उपाय नहीं किया गया। आज जो भूमि के सुधारने के नवीन ढंग हमारे पास हैं तथा भूमि के कटाव को रोकने के वैज्ञानिक तरीके हमें मालूम हैं उनके द्वारा वह भूमि जो खेती के योग्य नहीं समझी जाती उस पर भी खेती की जा सकती है।

क्या भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति घट रही है : भारत में यह एक पुराना विवाद है कि क्या भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति घट रही है। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि पिछले १०० वर्षों में रेह के जम जाने से बहुत सी उपजाऊ भूमि खेती के अयोग्य हो गई है और भूमि के कटाव ने भी बहुत सी भूमि को बेकार कर दिया है। कुछ भागों में जहाँ कि जंगलों को काट कर भूमि को खेती के लिए अभी कुछ समय हुआ निकाला गया है उस भूमि की उर्वरा शक्ति भी घटती दिखलाई देती है। कारण यह है कि उस भूमि पर वन वृक्षों की पत्तियों के मिट्टी में बराबर मिलने से उसकी उर्वरा शक्ति बहुत अधिक होती है परन्तु यदि उस पर खेती की जाती है और यथेष्ट खाद नहीं दी जाती तो उसकी उपजाऊ शक्ति घटती प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि से भूमि पर अत्यधिक दबाव हो जाने के कारण घटिया भूमि पर भी खेती की जाने लगी है। ऐसी भूमि पर पैदावार का औसत से कम होना स्वाभाविक ही है। यही नहीं, जनसंख्या के बढ़ने के कारण भूमि को आराम भी कम मिलने लगा है क्योंकि उसको परती कम छोड़ा जाता है। यही नहीं, अधिकाधिक भूमि पर खेती करने के साथ ही साथ अधिक खाद को उत्पन्न करने का किसान ने कभी प्रयत्न नहीं किया। अस्तु, खेती की भूमि अधिक हो जाने तथा उसकी तुलना में खाद की कमी होने के कारण भूमि की पैदावार कम हो गई। पिछले सौ वर्षों से यह सभी कारण उपस्थित हैं और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि कुछ भागों में मिट्टी कम उपजाऊ हो गई है। इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

विवाद इस बात को लेकर है कि वह खेती की भूमि जो कि एक लम्बे समय से जोती जा रही है क्रमशः कम उपजाऊ होती जा रही है अथवा नहीं। कुछ लोगों की

धारणा है कि लगातार फसलों के उगाने से भूमि में उन तत्वों की कमी हो जाती है जो कि फसल को पैदा करने के लिए आवश्यक हैं।

इस सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़े हमें प्राप्त नहीं हैं और यह प्रमाणित करने के लिए कि भूमि की उपजाऊ शक्ति बराबर घट रही है पूरी जाँच की आवश्यकता होगी। शाही कृषि कमीशन ने इस सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—"जहाँ तक हम पता लगा सके हैं हमें कोई ऐसे प्रमाण नहीं मिले कि जिनसे यह प्रमाणित किया जा सके कि भूमि की उर्वरा शक्ति घट रही है। जो भी जानकारी हमें पुराने रेकार्डों अथवा बन्दोबस्त की रिपोर्ट से मिलती है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि भूमि की उर्वरा शक्ति लगातार कम होती जा रही है।" श्री मोरलैन्ड ने अपनी पुस्तक 'भारत : अकबर की मृत्यु पर' में अकबर के समय फसलों की पैदावार के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी सामिग्री उपस्थित की है। उन्होंने नीचे लिखे शब्दों में भूमि की उर्वरा शक्ति के सम्बन्ध में लिखा है—"यह बहुत सम्भव है कि जो भूमि उस समय जोती जाती थी उस समय की परिस्थितियों के अनुसार ही यदि जोती बोई जाती है तो उसकी उपज पूर्ववत् हो रही है।" इस मत का प्रतिपादन करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होगी कि उस भूमि की उर्वरा शक्ति घट रही है जिस पर उस समय खेती होती थी।

भारत के कृषि सलाहकार ने शाही कृषि कमीशन के सामने गवाही देते हुए कहा था—"भारत में अधिकांश भूमि जिस पर खेती होती है सैकड़ों वर्षों से जोती जारही है और बहुत समय हुआ अधिकतम निर्धनता की स्थिति में पहुँच गई है। वह इतनी निर्धन हो गई है कि इसके आगे उसके निर्धन होने की कोई सम्भावना नहीं है।"

जब भूमि पर लगातार खेती की जाती है और उसको यथेष्ट खाद नहीं दी जाती तो भूमि उस स्थिति में पहुँच जाती है कि जो उपजाऊ तत्व फसल भूमि से निकाल लेती है वह भूमि प्रकृति से प्राप्त कर लेती है और भूमि की उपजाऊ शक्ति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। कमीशन का मत था कि भारत की अधिकांश भूमि बहुत समय हो गया उस स्थिति म पहुँच गई है। कमीशन का कहना था कि भूमि उर्वरा शक्ति की उस संतुलन की अवस्था में पहुँच गई है और आगे उसकी उपजाऊ शक्ति में कमी होने की कोई सम्भावना नहीं है।

जब तक कि यथेष्ट सामिग्री हमारे सामने उपलब्ध न हो इस सम्बन्ध में कुछ अधिकार पूर्वक कह सकना कठिन है। हाँ, यह प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है कि भारतीय भूमि जितनी पैदावार आज उत्पन्न करती है उससे कहीं अधिक पैदावार उत्पन्न की जा सकती है यदि उसमें यथेष्ट खाद दी जाए और उसका ठीक प्रबन्ध किया जा सके।

भारतीय भूमि उपजाऊ है। परन्तु भूमि को यथेष्ट खाद नहीं मिलता इस कारण उसमें नत्रजन (Nitrogen) की बहुत कमी हो गई है। फिर भी भूमि यद्यपि कम उपजाऊ हो गई है परन्तु उसने स्थायी उर्वरा शक्ति प्राप्त करली है क्योंकि थोड़ी सी नत्रजन वह वायु से प्राप्त कर लेती है और इस प्रकार पैदावार उत्पन्न करती रहती है। अस्तु, भारत की मिट्टी की उपजाऊ शक्ति को यथेष्ट खाद देकर तथा भूमि का उचित प्रबंध करके बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है।

जलवायु : भारतवर्ष एक विशाल देश है। इतने बड़े देश में एकसी ही जलवायु नहीं हो सकती। यही कारण है कि कहीं हमें वनस्पति से लहलहाते प्रदेश नजर आते हैं तो कहीं उजाड़ खण्ड और मरु भूमि दिखलाई देती है। भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को देश की जलवायु की जानकारी आवश्यक है क्योंकि हमारे देश का सबसे महत्वपूर्ण धन्धा खेती जलवायु पर ही निर्भर है।

इस देश में जलवायु के विचार से वर्ष दो हिस्सों में बांटा जा सकता है—पहला, सूखे महीने जिनमें वर्षा बिलकुल नहीं होती; दूसरा, वर्षा के महीने। नवम्बर से मई तक भारतवर्ष में सूखे दिन होते हैं और इन दिनों में पृथ्वी से समुद्र की ओर चलने वाली हवाओं की प्रधानता रहती है। जून से नवम्बर तक यहाँ बरसात के दिन होते हैं। उन दिनों हवा समुद्र से पृथ्वी की ओर चलती है। इस कारण हवा में नमी अधिक रहती है और तापक्रम का उतार चढ़ाव अधिक नहीं होता। जिन महीनों में वर्षा होती है वे भी दो भागों में बांटे जा सकते हैं—गरमी के बरसात के महीने और सरदी के बरसात के महीने। सरदी के बरसात के महीनों में बादल नहीं होते किन्तु उत्तर भारत में तूफान आया करते हैं। इन तूफानों के कारण उत्तर-पश्चिम भारत में २ से ५ इंच तक वर्षा होती है और पहाड़ी प्रान्तों में बरफ भी गिरती है। किन्तु इन दिनों में दक्षिण प्रायद्वीप में आधे इन्च से अधिक वर्षा नहीं होती है।

गरमी के महीनों में तापक्रम ११०° फै० से १२०° फै० तक चढ़ जाता है। भारत की भूमि पर गरमी अधिक होने से हवा हिन्द महासागर से हिन्दोस्तान की ओर चलने लगती है। अरब सागर की यह मानसून पश्चिमीय घाटों को पार करके प्रायद्वीप में घुसती है। पश्चिमीय घाट को पार करते हुए पश्चिमीय घाट के पश्चिमीय ढाल पर खूब वर्षा करती है। अरब सागर मानसून की एक शाखा उत्तर में काठियावाड़, सिंध और राजपूताना की ओर चली जाती है। किन्तु इस प्रदेश में तापक्रम बहुत ऊँचा होता है और कोई पहाड़ मानसून को रोकने के लिए न होने के कारण यह हवा बिना वर्षा किए ही चली जाती है। बङ्गाल की खाड़ी की मानसून आसाम की पहाड़ियों से बड़े जोरों से टकराती है और यही कारण है कि वहाँ पानी

बहुत बरसता है। आसाम में पानी बरसाकर मानसून पश्चिम की ओर मुड़ती है और बङ्गाल पर पानी बरसाती है। उधर अरब सागर की मानसून की दूसरी शाखा मध्यभारत में से होती हुई बङ्गाल की खाड़ी की मानसून से आकर मिल जाती है। फिर यह हवाएँ पश्चिम की ओर उत्तर प्रदेश और पञ्जाब पर पानी बरसाती हुई पश्चिम को जाती हैं।

जुलाई और अगस्त के महीनों में उत्तर भारत में खूब वर्षा होती है। अक्टूबर में वर्षा समाप्त हो जाती है। हिन्दोस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में वर्षा एकसी नहीं होती। नीचे लिखी तालिका से यह स्पष्ट हो जावेगा।

प्रान्त	वर्षा	प्रान्त	वर्षा
सिंध ...	६·३"	उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त ...	१५·९"
बङ्गाल ...	७४·३"		
संयुक्तप्रान्त ...	३८"	बिहार ...	५०"
उड़ीसा ...	५७"	मध्यप्रान्त ...	४८"
आसाम	१००"	बरार ...	३२"

प्रान्त	भाग	वर्षा
मदरास	मालाबार ...	१००"
	दक्षिण-पूर्व ...	३५·६"
	उत्तरी तट ...	२७·६"
	दक्षिण ...	३४·६"
बम्बई	गुजरात ...	३२·५"
	कोनकण ...	१०७"
	दक्षिण ...	३०·४"
पंजाब	उत्तर और पूर्व ..	२३·३"
	दक्षिण-पश्चिम...	१०"

वर्षा की दृष्टि से हम देश को तीन भागों में बाँट सकते हैं: (१) वे प्रदेश जहाँ बहुत अधिक पानी बरसता है—उदाहरण के लिए आसाम, पूर्वीय बंगाल, तथा पश्चिमीय घाट के पास का प्रदेश। (२) मध्यप्रदेश तथा मध्यभारत का अधिकांश भाग जहाँ वर्षा यथेष्ट है और मिट्टी काली होने से उसमें जल को सुरक्षित रखने की क्षमता है। (३) सूखे प्रदेश जिसमें पंजाब के मैदान, राजपूताना तथा सिंध सम्मिलित हैं।

जाड़ों की वर्षा: अक्टूबर से दिसम्बर तक मानसून उत्तर से दक्षिण की ओर चलती है। उत्तर से लौटती हुई हवा कारोमंडल तट, लोअर बर्मा तथा बंगाल की खाड़ी के कुछ द्वीपों पर पानी बरसाती है। पश्चिम में लौटने वाली हवा (मानसून) मालाबार तट पर वर्षा करती है। जाड़े के दिनों में मालाबार के इस ज़िले में १५"

और मदरास के दक्षिण में ४ इँच के लगभग वर्षा होती है। बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश में भी इन दिनों कुछ वर्षा होती है।

भारतवर्ष में वर्षा का आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व है। कारण यह है कि खेती अधिकांश वर्षा पर ही निर्भर है। जिस वर्ष वर्षा कम हो जाती है बहुत बड़े क्षेत्र में सूखा पड़ जाता है और दुर्भिक्ष की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। आसाम, पूर्वीय बंगाल, तथा पश्चिमी घाट के समुद्रीय तट पर जहाँ वर्षा बहुत अधिक होती है वहाँ कभी भी सूखा अथवा दुर्भिक्ष नहीं पड़ता। जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ तापक्रम में विशेष परिवर्त्तन नहीं होता। दक्षिण में गरमी एक समान रहती है। उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में तापक्रम में बहुत भिन्नता होती है। वहाँ ज़ाड़ों में बहुत अधिक जाड़ा और गरमियों में बहुत अधिक गरमी पड़ती है।

जिन प्रदेशों में वर्षा बहुत अनिश्चित होती है वहाँ दुर्भिक्ष की अधिक सम्भावना रहती है। दुर्भाग्यवश उत्तर-पश्चिमीय भारत, राजपूताना, दक्षिण प्रायद्वीप तथा मदरास के बहुत से भागों में वर्षा अनिश्चित है। आसाम में वर्षा ६० से १६० इंच के बीच में होती है। पश्चिमीय घाट के समुद्र तट की ओर वर्षा १०० इंच तक होती है। परन्तु अन्दर की तरफ वर्षा बहुत कम हो जाती है।

वर्षा की विशेषताएँ : वास्तव में यदि देखा जाए तो मदरास के समुद्र तट को छोड़ कर सारे भारतवर्ष में गरमियों में ही वर्षा होती है। हिन्दोस्तान में वर्षा का मौसम बहुत निश्चित है। समय निश्चित होते हुए भी जल-वृष्टि की दृष्टि से वर्षा बहुत अनिश्चित है, किसी वर्ष वर्षा औसत से अधिक और किसी वर्ष वर्षा औसत से कम होती है। कभी-कभी औसत की यह घटा-बढ़ी ५० प्रतिशत से भी अधिक हो जाती है।

हिन्दोस्तान में वर्षा की मुख्य तीन विशेषताएँ हैं : (१) यहाँ वर्षा मौसमी होती है। यद्यपि वर्षा के मौसम में ही वर्षा होगी यह निश्चित है किन्तु वर्षा १५-२० दिन जल्दी या देर से हो सकती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मौसम के अनुसार वर्षा निश्चित है किन्तु तिथि के अनुसार वर्षा बहुत अनिश्चित है। (२) वर्षा पूर्व से पश्चिम की ओर कम होती जाती है। (३) कितना जल बरसेगा यह बिल्कुल अनिश्चित है।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि वर्षा इतनी अनिश्चित है कि खेती करने वालों के लिए बड़े सङ्कट की परिस्थिति उपस्थित हो जाती है। मानसून कभी-कभी जल्दी आ जाती है तो कभी बहुत देर से वर्षा आती है, इस कारण बुवाई नहीं हो सकती अथवा जुलाई अगस्त में वर्षा इतनी अधिक मात्रा में होती है कि खेती की क्रियाओं को करने में कठिनाई उपस्थित होती है। कभी-कभी वर्षा समय से पूर्व ही समाप्त हो जाती है। और कभी-कभी बीच में वर्षा कई सप्ताहों के लिए रुक जाती है।

इन्हीं सब कारणों से कहीं न कहीं फसलें नष्ट हो जाती हैं और दुर्भिक्ष पड़ जाता है। यही कारण है कि भारतीय किसान भाग्यवादी बन गया है।

वर्षा की ऊपर लिखी हुई विशेषताओं के कारण भारतवर्ष में खेती की समस्या कठिन हो जाती है और इसका एकमात्र हल सिंचाई के अधिकाधिक साधन उपलब्ध करना तथा वनों को लगाना है। यही कारण है कि भारत में सिंचाई का इतना अधिक महत्व है। सिंचाई और वनों का लगाना ही इसके उपाय हैं।

वन : जब कि मनुष्य समाज आदिम अवस्था में था उस समय पृथ्वी का अधिक भाग वनों से ढका हुआ था। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता गया और उसकी संख्या बढ़ती गई वैसे-वैसे जंगलों को काटकर मैदान साफ किए जाने लगे। जंगलों को इस प्रकार नष्ट करने का क्रम दो सौ वर्ष पूर्व तक बराबर चलता रहा। आज से दो सौ वर्ष से अधिक हुए फ्रेंच तथा जर्मन वैज्ञानिकों ने अपनी खोज के आधार पर यह सत्य प्रकट किया कि यदि वनों को नष्ट कर दिया गया तो यह धन्धे चल ही न सकेंगे। यही नहीं, उन्होंने इस बात का भी पता लगाया कि किसी देश के जलवायु का वहाँ के जङ्गलों से बहुत निकट का सम्बन्ध है। यदि जङ्गल काट डाले गए तो उससे देश के जलवायु में हानिकर परिवर्तन होना जरूरी है। तभी से योरोप में वनो को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया।

जङ्गलों से होने वाले लाभ : जङ्गलों से हमें बहुत लाभ हैं। बहुमूल्य लकड़ी जिससे भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनती हैं जङ्गलों की ही उपज हैं। कागज, दिया-सलाई, खिलौने, तेल, वार्निश के धन्धे जङ्गल में उत्पन्न होने वाली लकड़ी या घासों पर ही निर्भर हैं। जङ्गल चारे का भण्डार है, जहाँ से जरूरत पड़ने पर पशुओं के लिए चारा मिलता है और पशुओं को पालने वाले अपने पशुओं को वहाँ ले जाकर चराते हैं। लकड़ी के अतिरिक्त जङ्गलों से हमें बहुत तरह की वनस्पति तथा फल जो दवाइयों के काम में आते हैं मिलते हैं। जङ्गल के पेड़ प्रति वर्ष बहुत सी पत्तियाँ पृथ्वी पर डाल देते हैं, वे मिट्टी में मिल जाती हैं। इस प्रकार मिट्टी में वनस्पति का अंश बढ़ जाता है और वह उपजाऊ बन जाती है। वनों में बहुत से जङ्गली जानवर मिलते हैं जिनकी खाल और सींग का उपयोग किया जाता है।

ऊपर लिखे लाभ तो प्रत्यक्ष लाभ हैं, परन्तु जंगलों से हमें बहुत से अप्रत्यक्ष लाभ भी होते हैं जो अधिक महत्वपूर्ण हैं। जंगल पानी के बादलों को अपनी ओर खींचते हैं। जहाँ जंगल होता है वहाँ वर्षा अधिक और निश्चित रूप से होती है। मिस्र के नील नदी के डेल्टा में पहले वर्ष भर में वर्षा के दिनों का औसत ६ दिन था। किन्तु करोड़ों की संख्या में वहाँ वृक्ष लगाने से वहाँ वर्ष में बरसात के दिनों का औसत अब चालीस है। यदि जंगल साफ कर दिए जावें तो पानी कम बरसेगा और समय पर नहीं

बरसेगा। पेड़ों की जड़ें सारे वन प्रदेश को एक बहुत बड़े स्पंज के समान बना देती है इसका लाभ यह होता है कि जब पानी बरसता है तो वन प्रदेश बरसात के पानी को खूब सोख लेता है और पृथ्वी के अन्दर बहने वाले जल स्रोत में हर साल और पानी मिलता रहता है। यदि जंगल साफ कर दिए जाएँ तो पृथ्वी बहुत कम पानी सोख सके और मैदान में पानी बहुत गहरे पर मिलने लगे तथा किसानों ने सिंचाई के लिए जो कुएँ बनवाये हैं वे बेकार हो जाएँ। पहाड़ों पर वन खड़े होने से एक लाभ और है: वे बरसात के पानी को तथा नदियों को मनमाने ढँग से नहीं बहने देते। यदि पहाड़ों पर वन न हों तो वर्षा का पानी बड़े वेग से मैदानों की तरफ दौड़े। इसका फल भयङ्कर होता है। बड़े-बड़े चट्टान कट कर रास्ते रोक देते हैं। चट्टानों के लुढ़कने से बहुत हानि होती है। बहुत से आदमी मर जाते हैं, मैदानों में भीषण बाढ़ आ जाती है। पहाड़ों में नदियों के किनारे पेड़ों के न होने से मैदान में नदियाँ मनमाने ढग से अपनी धार बदलती हैं, कटाव करती हैं और उनमें भीषण बाढ़ आती है। चीन ने अपने पहाड़ो के जंगलों को साफ कर दिया है। उसका फल वह आज बाढ़ों के द्वारा त्रस्त होकर सह रहा है। हर साल लाखों स्त्री-पुरुष बे घर-बार हो जाते हैं और बहुत से मर जाते हैं। वनों से एक लाभ और भी होता है। वे प्रति दिन हवा में बहुत सा जल देते रहते हैं जिससे गरमियों में आसपास का प्रदेश ठंडा रहता है। एक विद्वान ने ठीक कहा है कि जंगल देश की बहुमूल्य सम्पत्ति हैं।

भारत के वन : अंग्रेजो के आने के पूर्व भारत में बहुत जंगल थे किंतु अंग्रेजों के शासन काल में जनसंख्या के बढ़ने के कारण लकड़ी की माँग बढ़ गई और खेती के लिए भी अधिक भूमि की आवश्यकता हुई अतएव बहुत से जंगल साफ कर दिये गये। सिपाही विद्रोह (१८५७) के उपरान्त सरकार ने वनों का महत्व समझा और जंगलों की रक्षा करने की आवश्यकता का अनुभव किया। तभी जंगल विभाग प्रांतों में खोले गये। तब से हर एक प्रान्त में जङ्गल विभाग जङ्गलों की देखभाल करते हैं।

प्रबन्ध की दृष्टि से वनों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है :—

(१) सुरक्षित (Reserved) वन, (२) रक्षित वन (Protected Forests) तथा (३) श्रेणी रहित (Unclassed) वन।

सुरक्षित वन सरकार की सम्पत्ति हैं। इन जङ्गलों का सुरक्षित रखना केवल इसलिए ही आवश्यक नहीं है क्योंकि वे बहुमूल्य लकड़ी देते हैं वरन् इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि देश की जलवायु तथा प्राकृतिक अवस्था को देखते हुए उनका सुरक्षित रहना आवश्यक है। इनमें पशुओं को चराने की आज्ञा नहीं दी जाती।

रक्षित वनों पर भी सरकार का ही स्वामित्व होता है परन्तु वे सुरक्षित वनों की श्रेणी में नहीं रक्खे जाते। यह वन बहुमूल्य व्यापारिक लकड़ी देते हैं। सुरक्षित

वनों में पशुओं को चरने की आज्ञा प्रदान नहीं की जाती। अन्य वनों में कुछ फीस लेकर जङ्गल विभाग के नियन्त्रण में चराई की आज्ञा दे दी जाती है।

इन दो प्रकार के वनों के अतिरिक्त जो भी वन-भूमि वन विभाग के अधिकार में है वह श्रेणी रहित वन कहलाते हैं। इनमें बढ़िया लकड़ी तो नहीं मिलती। हाँ, ईंधन इत्यादि के योग्य साधारण लकड़ी मिलती है। इनमें लकड़ी काटने तथा पशुओं को चराने पर कोई रोकथाम नहीं है, केवल कुछ फीस ली जाती है।

चौथे प्रकार के फुटकर जङ्गल केवल नाममात्र के जङ्गल होते है। अधिकतर उनमें केवल थोड़े से पेड़ और घास ही होती है।

१९३९ में इण्डियन यूनियन के कुल क्षेत्रफल अर्थात् ६६३० लाख एकड़ में से ७४० लाख एकड़ पर जङ्गल थे। देश की लगभग १३ प्रतिशत भूमि पर वन हैं। वन सम्पत्ति की दृष्टि से भारत धनी देश है। परन्तु भिन्न-भिन्न प्रांतों में वनों से ढकी हुई भूमि बराबर नहीं है। किसी किसी प्रान्त जैसे आसाम में जङ्गल बहुत अधिक हैं और किसी किसी प्रान्त में जैसे पंजाब में जङ्गल आवश्यकता से बहुत कम हैं। यही नहीं, बहुत सी भूमि जो कि जङ्गल मान ली गई है केवल घास उत्पन्न करती है। इस कारण कुछ प्रान्तों में लकड़ी की बहुत कमी है।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों में वन भूमि

प्रान्त	प्रान्त का क्षेत्रफल वर्ग मीलों में	वन-भूमि वर्ग मीलों में	प्रान्त के कुल क्षेत्रफल की प्रतिशत वन भूमि
मदरास	१२५,१६३	१५,२४५	१२·२%
बम्बई	७६,१२७	१२,९६८	१७·१%
सिंध	४७,१३८	१,१५७	२·५%
बंगाल	७६,९६०	१०,८०३	१४·०%
उत्तर प्रदेश	१०६,०१४	५,२५१	४·९%
पंजाब (अविभाजित)	९५,३१५	४,८४२	५·१%
बिहार	६९,२५७	१,७८६	२·६%
उड़ीसा	३२,१७९	१,९८५	६·२%
मध्यप्रदेश	९८,४४५	१९,४१३	१९·७%
आसाम	५५,४४५	२१,३९३	३८·६%
सीमाप्रान्त } पाकिस्तान	१३,१८४	२८२	२·१%
बलूचिस्तान } पाकिस्तान	४६,९७४	८१३	१·७%
अजमेर	२,७६७	१४२	५·१%
कुर्ग	१,५९३	८३९	५२·७%

जो वर्ष में कुछ समय के लिए विना पत्तियों के हो जाते हैं। यह वन भारतवर्ष में बहुतायत से पाये जाते हैं। हिमालय के निचला प्रदेश, दक्षिण प्रायद्वीप में इस प्रकार के वन बहुत हैं। इन वनों में नीचे लिखे वृक्ष बहुत मिलते हैं।

साल : यह बहुत मूल्यवान वृक्ष होता है। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है। इसी कारण इसका उपयोग अधिकतर रेलों के डिब्बों को बनाने और इमारतों के काम में होता है। हिमालय के निचले प्रदेश के अतिरिक्त साल विहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और बरार के जंगलों में बहुत मिलता है।

सागवान (Teak) : सागवान भी बहुत मूल्यवान लकड़ी है। इसकी लकड़ी बहुत ही मजबूत होती है। भारत में सागवान मदरास, मध्यप्रदेश तथा बम्बई के जंगलों में पाया जाता हैं। साल और सागवान के अतिरिक्त इन जंगलों में खैर, हल्दू और बबूल मुख्य वृक्ष हैं।

हल्दू : हल्दू समस्त भारत में पाया जाता है। यह साधारण कठोर लकड़ी होती है और फरनिचर तथा सिंगार के सन्दूक बनाने के काम आती है।

शीशम : उत्तर प्रदेश, पूर्वी पञ्जाब तथा पश्चिमीय बंगाल में बहुत अधिक उत्पन्न होता है। यह बहुत कठोर और मजबूत लकड़ी होती है। गाड़ी, रेल के डिब्बे, फरनिचर, नाव तथा इमारत के काम में यह लकड़ी बहुत आती है।

इण्डियन रोज़ वुड : यह संसार प्रसिद्ध लकड़ी है। यह पश्चिमीय घाट के दक्षिण भाग, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा के जंगलों में पाई जाती है। यह अत्यन्त मूल्यवान लकड़ी होती है और फरनिचर बनाने के काम आती है।

इरुल और मेसुआ : यह वृक्ष मदरास में अधिक मिलते हैं। इनकी लकड़ी बहुत मजबूत होती है। इन लकड़ियों के रेलवे स्लीपर बहुत अच्छे बनते हैं। मेसुआ आसाम में भी मिलता है।

चन्दन : चन्दन दक्षिण भारत में उत्पन्न होता है। यह अत्यन्त मूल्यवान लकड़ी है। चन्दन का सुगन्धित तेल निकाला जाता है तथा सुन्दर वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

सेमल : सेमल बिहार और आसाम में बहुत पाया जाता है। इसका उपयोग दियासलाई, पैकिंग केस तथा खिलौने बनाने में होता है।

सुन्दरी : यह वृक्ष पश्चिमीय बंगाल में होता है। इसकी लकड़ी कठोर और मजबूत होती है। इसका उपयोग नाव बनाने, फरनिचर, बीम और तख्ते तैयार करने में होता है।

नीला देवदार : यह पूर्वी पञ्जाब में पाया जाता है और इमारत के काम आता है।

बेन-टीक : यह पश्चिमीय समुद्रतट पर मिलता है तथा फरनिचर, जहाज बनाने

भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है इसलिए यहाँ बहुत तरह के जङ्गल मिल सकते हैं किन्तु निम्नलिखित प्रकार के जङ्गल मुख्य हैं :—

सूखे वन प्रदेश : यह वन प्रदेश उन प्रदेशों में पाये जाते हैं जहाँ वर्षा २० इंच से कम होती है। इस प्रकार के वन अधिकतर राजपूताना, सिंध, दक्षिणी पंजाब और बिलोचिस्तान में पाये जाते हैं। इन वनों में कांकड़ और बबूल अधिक होते हैं।

सदा हरे रहनेवाले वन: यह वन उन प्रदेशों में पाये जाते हैं जहाँ वर्षा बहुत होती है। दक्षिण प्रायद्वीप का पश्चिमीय समुद्री तट, पूर्वी हिमालय का प्रदेश और आसाम का वह प्रदेश जहाँ वर्षा अधिक होती है, इन वनों से भरे हैं। इन जङ्गलों में बनस्पति बहुत सघन होती है। बांस और बेंत इनमें बहुतायत से पाये जाते हैं।

पर्वतीय वन : इन वनों में वृक्ष पहाड़ की ऊंचाई और वर्षा के अनुसार भिन्न होते हैं। मध्य तथा उत्तर पश्चिमी हिमालय में ऊंचाई के अनुसार एक से वृक्ष पाये जाते हैं। यह वन उत्तर प्रदेश, पञ्जाब तथा काश्मीर में हैं। भारतवर्ष के यह वन बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यह बहुत अच्छी और मूल्यवान लकड़ी उत्पन्न करते हैं। इनमें पाये जाने वाले वृक्षों में कुछ का विवरण नीचे दिया जाता है।

देवदार : इस पेड़ की लकड़ी बहुत अच्छी होती है। इस लकड़ी से रेलवे स्लीपर बनते हैं और तेल निकाला जाता है।

पाइन (Pine) : पाइन बहुत प्रकार का होता है। इसकी लकड़ी से फरनिचर बनता है और तारपीन का तेल तथा बीरोज़ा तैयार किया जाता है।

स्प्रूस (Spruce) : स्प्रूस का वृक्ष बहुत बड़ा होता है, इसकी ऊंचाई डेढ़ सौ फीट तक होती है। इसकी लकड़ी कागज बनाने के काम आती है। संयुक्तराज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में इसका अधिकतर उपयोग कागज बनाने के काम में होता है। हिन्दुस्तान में इसका उपयोग अभी तक इस धन्धे में नहीं हुआ है। कारण यह है कि स्प्रूस के वन ऊँचे पहाड़ों पर हैं, वहाँ तक मार्गों की सुविधा नहीं है।

× सफेद सनोवर (Silver Fir) : इस वृक्ष की लकड़ी भी स्प्रूस की तरह ही होती है और कागज बनाने के काम आती है। भारत के इन वनों में से बहुतों को छुआ भी नहीं गया है। यदि इनकी लकड़ी का उपयोग किया जावे तो बहुत से धन्धे इन प्रदेशों में पनप सकते हैं। इन जंगलों में देवदार के साथ बलूत (Oak) भी पाया जाता है।

पूर्वी हिमालय के वन जो आसाम में हैं मध्य और उत्तर-पश्चिमीय हिमालय के वनों से भिन्न हैं। इनमें बलूत (Oak), सुनहली लकड़ी का पेड़ (Mangolias), लारेल (Laurel) और खासिया पाइन बहुत मिलता है।

पतझड़ वाले वन (Deciduous Forests): इन वनों में ऐसे वृक्ष हैं कि

तथा कहवे के चेस्ट बनाने के काम आता है।

खैर : खैर उत्तर में तराई प्रदेश में तथा दक्षिण प्रायद्वीप में भी मिलता है। इससे कत्था बनाया जाता है।

धूपा : यह पश्चिमीय घाट में बहुत मिलता है। इससे गोंद निकलता है, चाय के सन्दूक बनाने तथा पैकिंग के काम आता है।

समुद्र तट के वन : यह वन अधिकतर समुद्र से निकली हुई भूमि पर ही मिलते हैं। इनकी लकड़ी अधिक उपयोगी नहीं होती, इस कारण केवल ईंधन के काम ही आते हैं।

बहुमूल्य लकड़ी के अतिरिक्त भारतीय वनों में बहुत प्रकार की घास, छाल तथा फल मिलते हैं जिनका बहुत बड़ा औद्योगिक महत्त्व है। हम यहाँ उनके बारे में संक्षेप में लिखेंगे।

कागज के धन्धे के लिए कच्चा माल : यह तो हम ऊपर ही कह आये हैं कि हिमालय के वनों में स्प्रूस (Spruce) और श्वेत सनोबर (Silver Fir) बहुत मिलता है जो कागज बनाने के काम आता है किन्तु भारत में उसका उपयोग कागज़ बनाने के कारखानों में इस कारण नहीं हो पाता क्योंकि लकड़ी को लाने के लिए उन वनों में गमनागमन के साधन उपलब्ध नहीं हैं। भारतीय कारखानों में अधिकतर सबाई, बैब तथा भावर घास का उपयोग कागज के बनाने में होता है। कुछ बाँस तथा ऐलीफैण्टा घास से भी कागज बनाया जाने लगा है। इन घासों के अतिरिक्त जूट और सन का भी कागज बनाने में उपयोग होता है।

तारपीन का तेल और बीरोजा : तारपीन का तेल और बीरोजा पाइन वृक्ष से निकले हुए लासे से तैयार होता है। पाइन के वृक्ष में गहरे खांचे काट कर उसका लासा (रेज़िन) पीपों में इकट्ठा कर लिया जाता है। और उससे तारपीन का तेल तथा बीरोजा निकाला जाता है। पाइन के वन हिमालय में भरे पड़े हैं।

लाख : लाख की संसार में बहुत माँग है क्योंकि वह बहुत से धन्धों में काम आती है। लाख को उत्पन्न करने वाले छोटे-छोटे कीड़े होते हैं जो कि कुछ पेड़ों के रस को चूस कर लाख उत्पन्न करते हैं। लाख का कीड़ा अधिकतर कुसुम, पलास, बेर, पीपल, बरगद, गूलर, फालसा, बबूल और कोटन की नरम डालो पर लाख उत्पन्न करता है। बहुत से स्थानों पर लाख पेड़ो पर जंगली अवस्था में पाई जाती है। जिस स्थान पर लाख का कीड़ा बिना पाले हुए मिले उस स्थान को लाख के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है। परन्तु अधिकतर लाख को उत्पन्न करना पड़ता है। लाख उत्पन्न करने के लिए ऊपर लिखे हुए पेड़ों में ऐसी छोटी छोटी लकड़ियाँ बाँध दी जाती हैं जिनमें लाख के कीड़े होते हैं। यह कीड़े शीघ्र ही सारे पेड़ पर फैल जाते

सम्भावनाएँ हैं कि जिसकी अभी तक कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। वन विभाग जिन वस्तुओं को वन की गौण उपज (Minor Products) मानता है वह भारत के वनों में वहुतायत से भरी पड़ी हैं किन्तु अभी उस ओर वन विभाग का अधिक ध्यान नहीं गया। आवश्यकता इस वात की है कि वनों की उन्नति की जावे और उनका उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए पूरा पूरा उपयोग किया जावे। परन्तु यह तभी हो सकेगा कि जब भारतीय वनों की रक्षा होगी तथा वैज्ञानिक ढँग से उनकी उन्नति होगी।

यह तो हम ऊपर ही कह चुके हैं कि देहरादून की वन अनुसन्धानशाला, वन सम्पत्ति का क्या औद्योगिक उपयोग हो सकता है, इस सम्वन्ध में प्रशंसनीय कार्य कर रही है। इस समय वन अनुसन्धान शाला (फारेस्ट रिसर्च इन्स्टिट्यूट) में सस्ते दामों में प्रिंटिंग पेपर बनाने, नकली रेशम तैयार करने का अनुसंधान चल रहा है। इसके अतिरिक्त वायुयान वनाने तथा विजली के काम में कौनसी लकड़ी उपयुक्त होगी इसकी खोज हो रही है। इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली है।

भारत को विदेशों से प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये की लकड़ी मँगानी पड़ती है। यद्यपि हमारे वनों में वहुमूल्य लकड़ी तथा अन्य वन-सम्पत्ति भरी पड़ी है परन्तु अभी तक हम उसका ठीक उपयोग कर सकने में असमर्थ रहे हैं। यह बड़े खेद की बात है। जब तक हम औद्योगिक योजना के साथ वन सम्पत्ति के विकास की योजना नहीं बनाते तब तक हमारी यही स्थिति रहेगी।

वन सम्बन्धी नीति : भारत की वन सम्बन्धी नीति को निर्धारित करते समय हमें उसके सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्न को देखना होगा, हमें ऐसे कानून बनाने होंगे कि जो वनों का उपयोग करने वालों के अधिकारों को भी सर्वथा समाप्त न कर दें और वृक्षों को उत्पन्न करने का काम भी सफलता पूर्वक होता रहे। अतएव वन सम्वन्धी नीति को निर्धारित करते समय नीचे लिखी बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है :—(१) थानीय लोगों को वनों की लकड़ी या चारा इत्यादि मिल सके। (२) भूमि की कटाव से रक्षा की जा सके तथा नदियों की बाढ़ तथा जलवायु पर बुरे प्रभावों को रोका जा सके। (३) इमारत तथा फरनिचर इत्यादि के लिए उपयोगी लकड़ी यथेष्ट उत्पन्न की जा सके। (४) उन धन्धों के लिए जो कि वन सम्पत्ति का उपयोग करते हैं यथेष्ट औद्योगिक कच्चा माल उत्पन्न किया जा सके।

भारतवर्ष के वनों में जितनी लकड़ी तथा अन्य वन सम्पत्ति की देश को आवश्यकता है उतनी उत्पत्ति नहीं होती। लकड़ी विदेशों से मँगवानी पड़ती है। आज भारत में यथेष्ट वन प्रदेश नहीं हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि जो भी वन हैं उनकी उन्नति की जावे तथा अधिक भूमि पर वन लगाये जावें। वन

को शीघ्रतापूर्वक लगाये।

युद्ध काल में भारत को यह अनुभव हुआ कि कुछ लकड़ियों के लिए भारत विदेशों पर निर्भर है। उदाहरण के लिए भारत वर्मा से सागवान (Teak) मँगवाता था तथा अमेरिका से ऐश (Ash) मँगवाता था। १९३९-४० में भारत ने २ करोड़ १५ लाख रुपये की लकड़ी विदेशों से मँगवाई। युद्ध के पूर्व भारतवर्ष को औजारों के हैण्डिल के लिए प्लाइवुड, सागवान तथा ऐश के लिए सूती तथा ऊनी कारखानों में शटिल बनाने के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था परन्तु युद्ध काल में इस दिशा में बहुत उन्नति हुई और भारतीय विशेषज्ञों ने इन कार्यों के लिए भी उपयुक्त भारतीय लकड़ियों को ढूँढ निकाला।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि भारत में अटूट वन सम्पत्ति है किन्तु उसका पूरा पूरा उपयोग हम नहीं कर पा रहे हैं और धन्धा उन्नत दशा में नहीं है। यहाँ के वनों में बहुमूल्य लकड़ी उत्पन्न होती है और तरह तरह की वस्तुएँ मिलती हैं। परन्तु जिस प्रकार अन्य देशों में वनों की सम्पत्ति का खूब उपयोग किया जाता है और बहुत से धन्धे वनों पर निर्भर रहकर चलते हैं वैसा हिन्दुस्तान में नहीं है। इसका कारण यह है कि भारत के जंगल ऊँचे पहाड़ों पर हैं। बहुत से वन तो ऐसे हैं कि जिनके विषय में हमारे जंगल विभाग कुछ नहीं जानते। हमारे वनों में गमनागमन के साधन बहुत कम उपलब्ध हैं। ऊँचे और सघन वनों की लकड़ी को नीचे मैदान में लाने के लिए नदियों, सड़कों, ट्राम, तार के रस्सों का रास्ता तथा लकड़ी के शहतीरों को खींचने वाले छोटे-छोटे एन्जिनों का अन्य देशों में खूब उपयोग होता है। परन्तु भारतवर्ष में लकड़ी को पहाड़ से मैदान में लाने की सुविधाएँ बहुत कम हैं। किन्तु केवल गमनागमन के साधन उपलब्ध हो जाने से ही वन-उद्योग-धन्धों की उन्नति नहीं हो सकती जब तक यह न मालूम हो कि अमुक लकड़ी का उपयोग अमुक धन्धे में हो सकता है। अभी तक वन विभाग को बहुत सी लकड़ियों के सम्बन्ध में यह भी ज्ञात नहीं था कि उनका उपयोग किस धन्धे में हो सकता है। फिर वन विभाग व्यवसायियों को क्या सलाह देता? इस कमी को पूरा करने के लिए सरकार ने देहरादून में एक फारेस्ट रिसर्च इन्स्टिट्यूट स्थापित की है जहाँ विशेषज्ञ हिन्दुस्तान के जंगलों में पाई जाने वाली लकड़ियों का क्या व्यवसायिक उपयोग हो सकता है इसका अनुसन्धान करते हैं। देहरादून रिसर्च इन्स्टिट्यूट ने बाँस से कागज बनाने का आविष्कार करके कागज के धन्धे को विशेष प्रोत्साहन दिया है। यद्यपि भारत में सभी साधन मौजूद हैं जिनसे भारत कागज की दृष्टि से स्वावलम्बी हो सकता है फिर भी भारतवर्ष को विदेशों से बहुत अधिक कागज मँगाना पड़ता है। यही नहीं, रबर, तारपीन का तेल, तथा औषधियों के निर्माण की इस देश में [illegible]

जाल सा बिछा हुआ है, इससे नहरों के निकालने में सुविधा है। साथ ही इस प्रदेश की मिट्टी बहुत नरम है, इस कारण नहर खोदने में व्यय बहुत कम होता है। उत्तर भारत में ऐसी भूमि बहुत कम है जिस पर खेती न होती हो। इस कारण नहरों का पानी बहुत दूर तक बिना काम में लाये बहता नहीं रहता, उसका अधिक से अधिक उपयोग होता है क्योंकि नहरों के किनारे पर उपजाऊ भूमि है।

कुआँ भारतवर्ष में सिंचाई का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। किसान अपने खेतों के पास थोड़े खर्च और परिश्रम से कुआँ खोद सकता है। हाँ, यदि भूमि बहुत पथरीली हो तो कुआँ बनाने में बहुत खर्च पड़ता है जो कि एक किसान के सामर्थ्य से बाहर की बात होती है। कुएँ अधिकतर उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बंगाल के पश्चिमीय भाग, मध्यप्रदेश और मदरास के उत्तरी सरकार में सिंचाई के काम में लाये जाते हैं। वैसे तो ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ कुएँ न हों परन्तु इन प्रान्तों में सिंचाई के मुख्य साधन कुएँ ही हैं।

किन्तु कुओं की उपयोगिता उनके कम गहरे होने पर निर्भर है। सोता जितनी कम गहराई पर निकलेगा, कुआँ सिंचाई के लिए उतना ही अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि कुएँ से पानी निकलने में उतना ही कम खर्च होगा। जिस प्रदेश में वर्षा बहुत कम होती है वहाँ पानी बहुत गहराई पर मिलता है। यही कारण है कि राजपूताना और पंजाब के पश्चिम में कुएँ इतने गहरे हैं कि उनसे सिंचाई करना बहुत खर्चीला है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रदेश हैं जहाँ पानी तो साधारण गहराई पर ही मिलता है किन्तु पृथ्वी पथरीली होने के कारण कुआँ खोदने में बहुत अधिक व्यय होता है। यही कारण है कि मालवा तथा दक्षिण प्रायद्वीप के चट्टानों से भरे हुए प्रदेश में कुओं के बनवाने में इतना अधिक व्यय होता है कि साधारण किसान कुआँ या बावड़ी बनवा ही नहीं सकता। अतएव कुओं से उन्हीं प्रान्तों में सिंचाई हो सकती है जहाँ की जमीन नरम हो और वर्षा साधारणतया अच्छी हो।

तालाब और बाँध दक्षिण तथा मालवा में अधिक हैं। दक्षिण प्रायद्वीप की गरमियों में सूख जाने वाली नदियाँ नहर बनाने के योग्य नहीं हैं और न वहाँ की पथरीली जमीन में नहरें आसानी से खोदी जा सकती हैं। हाँ, कुओं का सिंचाई के लिए अवश्य उपयोग होता है किन्तु उनके खुदवाने में भी व्यय अधिक होता है। इस कारण वहाँ तालाबों का ही अधिकतर उपयोग किया जाता है। दक्षिण के पहाड़ी प्रदेश में वर्षा के दिनों में असंख्य छोटे-छोटे नाले बरसाती पानी को बहा ले जाते हैं। गाँव के लोग उन नालों को बाँध से रोक कर तालाब बना लेते हैं। जमीन पथरीली होने के कारण पानी को भूमि नहीं सोखती और इन तालाबों से खेतों की सिंचाई की जाती है। गाँव की पंचायत इन तालाबों की देखभाल रखती है और बाँध की मरम्मत करवाती है।

लगाने से केवल यही लाभ नहीं होगा कि हमें अधिक लकड़ी इत्यादि मिल सकेगी वरन् भूमि का कटाव रुकेगा, नदियों की बाढ़ रुकेगी और वर्षा अधिक और निश्चित होगी। वनों को लगाने से खेती को बहुत लाभ होगा।

हर्ष की बात है कि देश में वनों के महत्व की ओर लोगों का ध्यान गया है और १९५० से प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में देशभर में वन महोत्सव मनाया जाता है जिसमें करोड़ों वृक्ष लगाए जाते हैं। यदि कुछ वर्ष तक देश में वन महोत्सव गम्भीरता पूर्वक मनाया गया तो भारत में वनों की कमी नहीं रहेगी।

सिंचाई के साधन

भारतवर्ष खेतिहर देश है। खेती पर ही अधिकांश में हमारी जनसंख्या निर्भर है। खेती के लिए ठीक समय पर यथेष्ट पानी की आवश्यकता होती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि हिन्दुस्तान के जलवायु में जहां ६० इंच या उससे अधिक वर्षा होती है वहाँ सिंचाई की जरूरत नहीं होती किन्तु जहाँ ५५ इंच से कम वर्षा होती है वहाँ बिना सिंचाई के दो फसलें उत्पन्न नहीं की जा सकतीं। कुछ मिट्टियाँ उसकी अपवाद हैं; जैसे काली मिट्टी। इस हिसाब से पश्चिमीय घाट का पश्चिमीय ढाल, आसाम और पूर्वी बंगाल के तथा हिमालय के तराई प्रान्त को छोड़कर, जहाँ वर्षा ५५ इंच से अधिक होती है, सारे देश में सिंचाई की आवश्यकता होती है। फिर भारतवर्ष में वर्षा अत्यन्त अनिश्चित है और कुछ प्रदेश तो इतने अधिक सूखे हैं कि बिना सिंचाई के वहाँ कुछ उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

यही कारण है कि हिन्दुस्तान में अत्यन्त प्राचीन काल से कुओं, तालावों और नहरों से सिंचाई की जाती रही है। सिंचाई के साधन ब्रिटिश सरकार के समय में ही उपलब्ध किए गए हों, यह बात नहीं है। पुराने समय से राज्य तथा सम्पन्न व्यक्तियों ने कुएँ या तालाब बनवाना अपना प्रमुख कर्तव्य माना है। जिन प्रदेशों में बिना सिंचाई के खेती हो सकती है उनको छोड़कर सारे देश में अकाल पड़ सकता है। इस कारण प्रत्येक प्रान्त में सिंचाई का कोई न कोई साधन अवश्य है किन्तु सब प्रान्तों में एक से सिंचाई के साधन नहीं हैं। उत्तर-पश्चिम भारत में नहरें, उत्तर भारत के मैदानों तथा मध्यप्रदेश और मध्यभारत में कुएँ तथा दक्षिण में तालाब सिंचाई के मुख्य साधन हैं। सिंचाई के साधनों की भिन्नता प्रत्येक प्रान्त की भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार भिन्न है।

भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी भाग में नहरें इस कारण सिंचाई का मुख्य साधन बन गई क्योंकि सिंध तथा उसकी सहायक सतलज, चिनाव, रावी, झेलम, व्यास तथा गंगा और उसकी सहायक यमुना हिम आच्छादित हिमालय पर्वत से निकलतीं हैं और गरमियों में भी उनमें पानी रहता है। यही नहीं, इन नदियों का एक

चिनाव में पानी आवश्यकता से अधिक हो जाता है। अतएव एक दूसरी नहर "अपर चिनाव नहर" निकाली गई जो कि रास्ते में गुजरानवाला शेखपूर (पाकिस्तान) जिलों में साढ़े ६ लाख एकड़ भूमि को सींचती है। अन्त में यह नहर रावी नदी पर एक पुल बना कर उस पर से निकाली गई है और एक तीसरी नहर "वारी दोआव कैनाल" इस नहर के पानी को ले जाकर १३४ मील वहती हुई माँटगोमरी (पाकिस्तान) जिले को सींचती है। इस नहर के द्वारा सींचे हुए रेगिस्तान पर अब "लोअर वारी दोआव कैनाल" कालोनी वस गई है।

इन नहरों के द्वारा सींची हुई भूमि पर तीन बड़ी कालोनी (लायलपुर, शाहपूर और माँटगोमरी—पाकिस्तान में) जिनका क्षेत्रफल ४५ लाख एकड़ है, बसाई गई। इनके अतिरिक्त ६ छोटी कालोनियाँ जिनका क्षेत्रफल ५० हजार एकड़ है, बसाई गई। सरकार ने इन नहरों के निकालने में जितना रुपया व्यय किया है उस पर २५ प्रतिशत प्रतिवर्ष सरकार को लाभ होता है।

इन नहरों के निकलने से पश्चिमीय पंजाब (पाकिस्तान) जो पहले वीरान और रेगिस्तान था अब उपजाऊ हो गया है। और घने आबाद पूर्वी जिलों से लोग यहाँ आकर बस गए। वास्तव में पंजाब की समृद्धि इन नहरों के कारण ही है।

सतलज की नहरें : पंजाब के दक्षिण में सतलज नदी बहती है। इसके एक ओर पंजाब का दक्षिणी भाग है और दूसरी ओर बहावलपूर (पाकिस्तान) का राज्य है। इन दोनों सूखे प्रदेशों की सतलज से निकलने वाली बरसाती नदियाँ सिंचाई करती थीं। इन नहरों से तभी सिंचाई हो सकती थी जब नदी बाढ़ में होती थी। इसका फल यह होता था कि वर्ष में थोड़े समय के लिए ही वे उपयोगी हो सकती थीं। इस समस्या को हल करने के लिए सतलज से स्थायी नहरें निकाली गईं।

सतलज नदी पर चार स्थानों पर चार बाँध बनाकर पानी को रोका गया और उनसे दस नहरें निकाली गईं। यह नहरें ५० लाख एकड़ भूमि को सींचती है। इसमें से २० लाख एकड़ भूमि पश्चिमीय पंजाब (पाकिस्तान) में, २७½ लाख एकड़ भूमि बहावलपूर राज्य (पाकिस्तान) में और शेष बीकानेर राज्य (हिन्दुस्तान) में सींची जाती है। इन नहरों का एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि ४७ लाख एकड़ मरुभूमि जिस पर पहले तनिक भी पैदावार नहीं होती थी अब उपजाऊ भूमि बन गई है। इन नहरों के बनाने में लगभग २४ करोड़ रुपया व्यय हुआ है।

सक्खर बाँध की नहरें : सिंध इस महादेश का सबसे सूखा प्रान्त है। अब वह पाकिस्तान में चला गया है। इस मरुभूमि को हरा भरा और उपजाऊ बनाने के लिए सिंध नदी पर सक्खर बाँध बनाकर उससे सात नहरें निकाली गई हैं जो ६० लाख एकड़ मरुभूमि की सिंचाई करती हैं और जो प्रदेश अभी तक मरुभूमि था उस पर

नहरें : हिन्दोस्तान में लगातार अकाल पड़ने के कारण सरकार का ध्यान नहरें बनाने की ओर गया और जहाँ-जहाँ नहरें बनवाई जा सकतीं थीं वहाँ-वहाँ नहरें बनवाई गईं।

पूर्वी पंजाब की नहरें : बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पंजाब के पश्चिमीय जिले (जो अब पाकिस्तान में हैं) आधे रेगिस्तान थे। शाहपुर, लायलपूर, झंग तथा मांटगोमरी के जिलों में बहुत कम पैदावार होती थी। इन जिलों में वर्षा बहुत कम होती है इस कारण सारा प्रदेश सूखा नजर आता था और काँटों से भरा दिखाई देता था किन्तु नहरों के निकल जाने से यह हरा-भरा और अत्यन्त उपजाऊ बन गया।

पूर्वी पंजाब में सब से पहली नहर "अपर बारी दोआब कैनाल" १८६० में रावी से निकाली गई। यह नहर गुरदासपुर और अमृतसर (हिन्द यूनियन) जिलों को सींचती है। इन जिलों को सींचती हुई यह नहर पाकिस्तान से लाहौर जिले में चली जाती है।

पश्चिमी यमुना नहर : यह १८७० में बनकर तैयार हुई। यह यमुना नदी से निकली है और पूर्वीय पंजाब के रोहतक तथा हिसार जिलों तथा पैप्सू की पटियाला तथा झींद आदि रियासतों में ८,६०,००० एकड़ भूमि सींचती है।

सरहिन्द नहर : यह सतलज से रूपर के पास निकाली गई है, और लुधियाना, फीरोजपुर तथा हिसार जिलों तथा नाभा राज्य को (जो पूर्वीय पंजाब में हैं) सींचती है।

सतलज घाटी की नहर : यह नहरें अधिकतर पश्चिमीय पंजाब तथा बहावलपूर राज्य को सींचती हैं जो कि पाकिस्तान में हैं। इस नहर प्रणाली की एक नहर (गग नहर) बीकानेर के उत्तरी भाग को सींचती है।

सबसे पहले १८८८ में मुलतान (पाकिस्तान) जिले को पानी देने के लिए सतलज नदी से एक नहर निकाली गई जिसके द्वारा १,७७,००० एकड़ मरुभूमि पर खेती होने लगी और पास के राज्यों और जिलों से किसान आकर बस गए।

इसके उपरान्त १९१२ में "लोअर चिनाब नहर" निकाली गई जो २५ लाख एकड़ भूमि को सींचती है। इसके उपरान्त पंजाब में नहरें बड़ी शीघ्रता से निकाली गईं। १९०३ में लोअर झेलम नहर निकाली गई और उसके फलस्वरूप शाहपुर (पाकिस्तान) जिले के रेगिस्तान पर लहलहाती कालोनी बस गई।

इसके उपरान्त १९२७ में प्रसिद्ध ट्रिपिल प्रोजेक्ट निकाली गई। इसमें तीन नहरें हैं। पहली "अपर झेलम नहर" जो झेलम का फिजूल पानी चिनाब में डाल देती है और रास्ते में ३,५०,००० एकड़ भूमि को सींचती है। झेलम के पानी से

कपास, चावल, गेहूँ, तिलहन तथा ज्वार बाजरे की लहलहाती फसलें उत्पन्न होती हैं। वास्तव में यदि देखा जावे तो सिंध का सारा प्रदेश सक्खर बांध के ऊपर निर्भर है।

उत्तर प्रदेश की नहरें : उत्तर प्रदेश के पश्चिमीय जिलों में नहरें सिंचाई का एक मुख्य साधन हैं, यद्यपि कुएँ भी इन जिलों में बहुत हैं।

उत्तर प्रदेश में नीचे लिखी नहरें हैं :—

(१) ऊपरी गंगा नहर— यह नहर हरिद्वार के समीप गंगा से निकाली गई है। यह दस लाख एकड़ से अधिक भूमि की सिंचाई करती है। यह उत्तर प्रदेश की मुख्य नहर है। यह नहर निचली गंगा नहर को भी पानी देती है।

(२) आगरा नहर— यह देहली से ग्यारह मील दूर ओखला नामक स्थान पर यमुना से निकाली गई है और २,३०,००० एकड़ भूमि को सींचती है।

(३) निचली गंगा नहर— यह नहर गंगा से बुलन्दशहर जिले में नरौरा नामक स्थान पर निकाली गई है। यह लगभग आठ लाख एकड़ भूमि को सींचती है।

(४) शारदा नहर— शारदा नहर भी उत्तर प्रदेश की एक महत्वपूर्ण नहर है। यह नैपाल की सीमा के पास बनबसा नामक स्थान से शारदा नदी से निकाली गई है। यह रुहेलखण्ड और अवध को सींचती है। इस नहर से लगभग साठ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है।

(५) पूर्वीय यमुना नहर— यह नहर उत्तर प्रदेश के उत्तर-पूर्वीय भाग को सींचती है और यमुना से निकाली गई है।

(६) बेतवा नहर— इससे बुन्देलखन्ड में सिंचाई होती है।

दक्षिण की नहरें : यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि दक्षिण में नहरों से सिंचाई नहीं होती। केवल महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के डेल्टों में नहर हैं क्योंकि वहाँ नहरें बनाने के लिए सभी उपयुक्त बातें मौजूद हैं। कावेरी नदी के डेल्टा में नहरों द्वारा लगभग दस लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती थी परन्तु नहरों में पानी भेजने का कोई ठीक प्रबन्ध नहीं था क्योंकि नहरें जहाँ से निकलीं थीं वहाँ पानी को रोकने और नहरों में भेजने के लिए हेडवर्क्स नहीं थे। अतएव इस कमी को पूरा करने के लिए मैसूर नामक स्थान पर एक बांध बनाकर ९०,००० क्यूबिक फीट पानी को रोक दिया गया है और ८८ मील लम्बी नहर निकाली गई है। यह नहर तथा उसकी शाखायें १० लाख एकड़ भूमि को निश्चित रूप से सींचती हैं।

इसके अतिरिक्त दक्षिण में मंदरदरा बांध तथा लायड बांध बनाये गए हैं जो क्रमशः प्रवा नहरों तथा निरा नहरों को पानी देते हैं। जिस भूमि को प्रवा नहरें पानी देती हैं वह पहले बंजर पड़ी हुई थी किन्तु वही अब खूब गन्ना उत्पन्न करती है। निरा नहर भी लगभग पौने सात लाख एकड़ को सींचती है।

दक्षिण में पैरियर प्रोजैक्ट सबसे प्रसिद्ध सिंचाई की योजना है जो कि मदूरा तथा तिनेवली के सूखे जिलों को सींचती है। पैरियर नदी अरब सागर में गिरती थी किन्तु कारडेमम पहाड़ियों में एक टनल खोद कर उसके पानी को पूर्व की ओर लाया गया और मदूरा तथा तिनेवली के जिलों को सींचा गया। बिहार और बंगाल में भी कुछ नहरें हैं किन्तु उनमें से कुछ ही का उपयोग चावल की फसल के लिए होता है। सोना, रूपनारायन, वेमका तथा अन्य नदियों से नहरें निकाली गई हैं। उनका अधिकतर उपयोग माल ढोने, पीने के लिए, पानी देने तथा नीचे मैदानों का व्यर्थ पानी वहा ले जाने के लिये होता है।

सिंचाई की नवीन योजनायें—स्वतंत्र भारत में भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों ने बहुत सी बहुमुखी योजनाओं को अपने हाथ में लिया है जिनसे विद्युत उत्पन्न होने के साथ साथ सिंचाई की भी सुविधा हो जावेगी। योजनाओं में से नीचें लिखी मुख्य हैं:—

दामोदर घाटी योजना—इसके द्वारा ७६०,००० एकड़ भूमि पर सिंचाई की जावेगी तथा ३ लाख किलोवाट विजली उत्पन्न होगी। सिंचाई बर्दवान जिले में होगी।

पूर्वीय पंजाब में भाखरा बांध—यह झेलम नदी के जल से सिंचाई तथा जलविद्युत उत्पन्न करने के लिए बनाया जा रहा है। इससे ४५ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी तथा दो लाख किलोवाट विजली उत्पन्न होगी।

रिहांड बांध—यह बांध उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में पिपरिया गांव के पास रिहांड नदी पर बनाया जावेगा। इसके द्वारा ४० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी तथा दो लाख किलोवाट विजली उत्पन्न होगी।

गोदावरी योजना—इसके द्वारा दक्षिण में २५ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी।

तुङ्गभद्रा योजना—इसके द्वारा दक्षिण में पाँच लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी।

हीराकुंड बांध की योजना—इसके द्वारा उड़ीसा में २५ लाख एकड़ से अधिक भूमि सींची जावेगी।

कोसी योजना—विहार की कोसी योजना भी देश की बहुमुखी योजनाओं में प्रमुख है। कोसी नदी पर दो बाँध होंगे। पहला बाँध नैपाल में होगा। उससे दो नहरें निकाली जावेंगी जिनसे नैपाल में दस लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी। दूसरा बाँध विहार-नैपाल सीमा पर बनाया जावेगा। इससे तीन बड़ी नहरें निकाली जावेंगी जो विहार में पुरनिया, दरभंगा और मुजफ्फरपुर जिलों में २० लाख एकड़ भूमि पर

सिंचाई करेंगी।

जहाँ नहरों के बन जाने से सिंचाई की सुविधा हो गई है, बहुत से सूखे प्रदेश लहलहाती फसलों से ढक गये, वहाँ कुछ कठिनाइयाँ भी उठ खड़ी हुई हैं। एक बड़ी हानि तो यह हुई है कि किसान खेत में आवश्यकता से अधिक पानी दे देता है जिससे खेतों को हानि पहुँचती है। उत्तर प्रदेश में तो इसी कारण बहुत सी भूमि पर रेह जम गया और वह बेकार होगई। नहरों की सिंचाई में किसान को नहर विभाग पर निर्भर रहना पड़ता है। कभी-कभी जब उसकी फसल को जल की नितान्त आवश्यकता होती है तब नहर में पानी नहीं आता। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि नहर के पानी से सींची हुई फसल कुएँ के पानी से सींची हुई फसल से कम होती है। फिर भी नहरों से देश को बहुत बड़ा लाभ हुआ है और खेती का बहुत विस्तार हुआ है।

तालाब : मध्यभारत और दक्षिण में तालाबों और बाँधों से ही अधिकतर सिंचाई होती है। राजपूताना, मध्यभारत, हैदराबाद और मैसूर में बहुत बड़े-बड़े तालाब सिंचाई के लिए बनाये गए हैं। भरतपुर, अलवर, उदयपुर, इंदौर, भूपाल, ग्वालियर तथा दक्षिण राजपूताना में झीलें भरी पड़ी हैं जो सिंचाई के लिए बनाई गई हैं। उदयपुर की राजसमुद्र और जयसमुद्र, हैदराबाद की निजाम सागर तथा मैसूर की कृष्णराजा सागर झीलें सिंचाई के लिए ही बनाई गई हैं।

कुएँ : कुएँ दो प्रकार के होते हैं, कच्चे और पक्के। कच्चे कुएँ वहाँ बनाये जाते हैं जहाँ पानी बहुत नजदीक ही मिल जाता है और थोड़े से रुपयों में बन जाते हैं। पक्के कुएँ बनवाने में ३०० रु० व्यय होते हैं। यह उत्तर भारत के कुओं की बात है। पथरीली भूमि में तथा अधिक गहराई पर पानी मिलने वाले प्रदेशों में कुओं के बनवाने में भी बहुत व्यय होता है। कुएँ की सिंचाई के लिए रहँट या चरस का उपयोग होता है।

ट्यूब वैल : संयुक्त प्रान्त की सरकार ने करोड़ों रुपये व्यय करके हजारों ट्यूब वैल बनवाये हैं जो उत्तर प्रदेश के पश्चिमीय जिलों में सिचाई का काम करते हैं। यह ट्यूब वैल नहर द्वारा उत्पन्न बिजली से चलते हैं। एक ट्यूब वैल एक हजार एकड़ भूमि को सींचता है।

ऊपर दिये हुए विवरण से यह तो स्पष्ट हो जावेगा कि भारतवर्ष में सिचाई के साधनों को उपलब्ध करने का प्रयत्न किया गया [illegible] सम्मिलित भारत में कुल जोती जाने वाली भूमि की केवल २० प्रतिशत [illegible] थी। उसका ब्यौरा इस प्रकार था—

विभाजन के पूर्व

सरकारी नहरों द्वारा सींची जाने वाली भूमि	...	२५,३६०,००० एकड़
निजी नहरों से सींची जाने वाली भूमि	... ...	४,४७१,००० ,,
तालाबों से सींची जाने वाली भूमि	... ...	६,१४४,००० ,,
कुओं से सींची जाने वाली भूमि	... ...	१३,७६५,००० ,,
अन्य साधनों से सींची जाने वाली भूमि	... ...	६,०४६,००० ,,
कुल जोती जाने वाली भूमि	... ...	२१३,६६३,००० ,,

विभाजन के उपरान्त

नाम देश	कुल जोती जाने वाली भूमि लाख एकड़ों में	सींची जाने वाली भूमि लाख एकड़ों में	सींची जाने वाली भूमि की जोती जा सकने वाली भूमि का प्रतिशत
भारत	२५१०	४७०	१८ प्रतिशत
पाकिस्तान	५४०	२००	३६ ,,
हैदराबाद	३००	२०	७ ,,
काश्मीर	२३	१	४ ,,
कुल जोड़	३३८०	७००	२१ ,,

ऊपर दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक सिंचाई के साधनों का प्रश्न है, पाकिस्तान की स्थिति बहुत अच्छी है। पंजाब की नहरें, सतलज घाटी की नहरें तथा सक्खर बांध की नहरें सभी पाकिस्तान को मिल गईं। इस दृष्टि से पाकिस्तान की स्थिति अच्छी है। पंजाब में दो सिंचाई की योजना और बन रही हैं जो पश्चिमीय पंजाब अर्थात् पाकिस्तान में हैं—एक हवेली प्रोजेक्ट और दूसरी थाल प्रोजेक्ट। हवेली प्रोजेक्ट झंग और मुजफ्फरगढ़ जिलों को सींचेगी तथा थाल प्रोजेक्ट सिंध सागर दोआब को सींचेगी। पाकिस्तान में जहाँ कुल जोती जाने वाली भूमि की ३६ प्रतिशत पर सिंचाई होती है, वहाँ भारत में केवल १८ प्रतिशत पर सिंचाई होती है।

शक्ति के साधन : भारतवर्ष में कोयला एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति का साधन है किन्तु कोयले की दृष्टि से भारत अधिक धनी देश नहीं है। यद्यपि कोयला यांत्रिक शक्ति का मुख्य साधन है परन्तु फिर भी कोयले की खानों के निम्नलिखित दोष हैं :—

भारत में कोयले का वितरण ठीक नहीं है। हिन्दोस्तान का ६० प्रतिशत से अधिक कोयला बंगाल और बिहार से निकलता है। कुल कोयले का आधा झरिया से और एक तिहाई रानीगंज से आता है। शेष दश प्रतिशत में से आठ प्रतिशत

उड़ीसा, मध्य प्रदेश और हैदराबाद में मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि देश के अन्य भागों में कोयला लगभग अप्राप्य है। भारतीय कोयला बहुत बढ़िया जाति का नहीं है। अधिकतर भारतीय कोयला घटिया जाति का है। जहां तक गरमी उत्पन्न करने का प्रश्न है, ब्रिटेन तथा संयुक्तराज्य अमेरिका के कोयले की अपेक्षा उसकी गरमी उत्पन्न करने की शक्ति कम है। कोयला भारी पदार्थ है और देश के एक कोने (पूर्वी भाग) में केन्द्रित होने के कारण उसको कोयले की खानों से दूर पर स्थित प्रदेशों तक भेजने में व्यय बहुत अधिक होता है। भारत में कोयले की खानें समुद्र तट अथवा नदियों की घाटियों में स्थित नहीं हैं। इस कारण कोयले को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में अधिक व्यय होता है क्योंकि जलमार्ग का उपयोग नहीं किया जा सकता, रेलों से ही उसको एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जाता है।

१९३७ में भारत सरकार ने कोयले के धंधे की जाँच के लिए एक कोयला कमेटी बिठाई थी। उसके अनुसार भारत की खानों के कुल कोयले का अनुमान ६०,०००,०००,००० टन था जिसमें से लगभग १,५००,०००,००० टन बढ़िया कोयला है जो कि धातुओं को गलाने में काम आ सकता है और उसका 'कठोर कोक' बनाया जा सकता है। शेष साधारण श्रेणी का कोयला है। जहाँ तक कोयले की उत्पत्ति का प्रश्न है कोयला उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का आठवां स्थान है। प्रतिवर्ष भारत की उत्पत्ति ३०,०००,०००, टन है। भारत की तुलना में संयुक्तराज्य अमेरिका में १९४० में ४५६,०००,००० टन और बैलजियम जैसे छोटे देश में २६,०००,००० टन कोयला उत्पन्न हुआ।

भारतवर्ष में कोयला नीचे लिखे क्षेत्र में पाया जाता है :—

बंगाल—रानीगंज कोयले का क्षेत्र।

बिहार उड़ीसा—झरिया, बोकारो, गिरडिह, राजमहल की पहाड़ियाँ, पालामऊ, तलचार, रामपुर, (जो उड़ीसा के सम्भलपुर जिले तथा मध्यप्रदेश के रामगढ़ राज्य में है), रामगढ़ तथा उत्तरी और दक्षिणी कर्णपूर।

मध्यभारत—उमरिया, सोहागपुर (रींवा), सिंगरौली।

मध्यप्रदेश—मोहपानी, शाहपुर, पंचधारी, बारोरा, यूतमाल, बल्लालपुर अथवा शस्ती कोयले की खानें।

हैदराबाद—शस्ती, तांदूर तथा सिंगरेनी।

आसाम—नाजरिया तथा माकूम।

राजपूताना—बीकानेर।

पाकिस्तान—सॉल्ट पहाड़ी तथा मेच खोस्त बलूचिस्तान में, शाहपुर, मियाँवली तथा

झेलम पश्चिमीय पंजाब में।

पाकिस्तान में बहुत घटिया और बहुत कम कोयला पाया जाता है।

वास्तव में यदि देखा जावे तो रानीगंज और झरिया कोयला के क्षेत्र ही भारतीय कोयले के मुख्य स्रोत हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जो भी कोयला भारत में पाया जाता है उसका बहुत बड़ा अंश बहुत गहरे पर मिलता है जिसको खोद कर लाभ नहीं कमाया जा सकता अर्थात् आज की स्थिति में वह खोदा नहीं जा सकता। कोयला कमेटी का अनुमान था कि प्रथम श्रेणी का कोयला १०० वर्षों में और साधारण कोयला ३५० वर्षों में समाप्त हो जावेगा। इस दृष्टि से भारत अधिक धनी नहीं कहा जा सकता और जहाँ तक पाकिस्तान का प्रश्न है वहाँ तो कोयला नाममात्र को है। कोयले की दृष्टि से पाकिस्तान अत्यन्त निर्धन देश है। संसार में कुल कोयले का अनुमान ७०,०००,००० लाख टन है। भारतवर्ष में इसका एक प्रतिशत कोयला पाया जाता है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने की है। अभी तक हमें कोयले के बारे में पूरा पूरा ज्ञान नहीं है। सम्भव है कि जाँच करने पर अधिक कोयला मिले। अस्तु, कोयले के बारे में अधिक जाँच की आवश्यकता है। भारत का अधिकांश कोयला भारत में ही खप जाता है। ३० प्रतिशत से अधिक कोयले का उपयोग रेलें करती हैं, २४.५ प्रतिशत लोहे और स्टील के कारखानों में काम आता है, १६ प्रतिशत उद्योग-धंधों में तथा १६ प्रतिशत छोटे धंधों और घरों में काम आता है।

भारत में कोयले के धन्धे की व्यवस्था ठीक नहीं है। कोयला निकालने का वर्तमान ढंग अत्यन्त दोषपूर्ण है और ५० प्रतिशत कोयला उसी में नष्ट हो जाता है। यदि कोयला निकालने के ढंग में उन्नति की जावे तो इन खानों का जीवन लम्बा हो सकता है।

भारत में कोयले से अन्य पदार्थ निकालने का धन्धा अधिक महत्त्वपूर्ण या उन्नत नहीं है। इसका कारण यह है कि विदेशों से कम मूल्य पर वे पदार्थ आते हैं। जो कुछ भी थोड़े से पदार्थ कोयले से निकाले जाते हैं उनमें कोलतार सड़क बनाने के लिए, सल्फेट आव अमोनिया खाद के रूप में, पेण्ट तथा फेनाइल मुख्य हैं।

भारतवर्ष में उत्तम श्रेणी का कोयला कम होने तथा कोयले के क्षेत्र का देश के एक कोने में केन्द्रित होने का परिणाम यह है कि भारतवर्ष में विदेशों से कोयला आता है। ब्रिटेन, नेटाल, पोर्तुगीज पूर्वीय अफ्रीका, जापान और आस्ट्रेलिया से कोयला मँगाया जाता है। पश्चिमीय भारत में बंगाल से कोयला सुविधापूर्वक नहीं लाया जा सकता क्योंकि लाने का व्यय बहुत अधिक होता है; साथ ही रेलवे के डिब्बे न मिलने के कारण भी कोयला दूर तक ले जाने में बहुत कठिनाई है।

भारत से थोड़ा सा कोयला विदेशों को भी जाता था किन्तु युद्ध के पूर्व आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, तथा जापानी कोयले की प्रतिस्पर्द्धा के कारण भारत का निर्यात व्यापार गिर गया।

आज राष्ट्र के हित में इस बात की आवश्यकता है कि जो भी कोयला देश में प्राप्त होता है उसका मितव्ययिता के साथ उपयोग किया जावे और खानों में कोयले को नष्ट न होने दिया जावे। इसलिए सरकार को कोयले के व्यवसाय पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए।

पैट्रोलियम : १६३५ में बर्मा के भारत से पृथक हो जाने के फलस्वरूप भारत पैट्रोलियम की दृष्टि से अत्यन्त निर्धन राष्ट्र बन गया। बर्मा और भारत संसार की पैट्रोलियम उत्पत्ति का १ प्रतिशत उत्पन्न करते थे किन्तु बर्मा ही अधिकांश पैट्रोलियम उत्पन्न करता था अस्तु जहाँ तक भारत का प्रश्न है भारत पैट्रोलियम की दृष्टि से अत्यन्त निर्धन राष्ट्र है। बर्मा भारत से पाँच गुना अधिक पैट्रोलियम उत्पन्न करता है।

सम्मिलित भारत में आसाम, पंजाब और बलूचिस्तान में पैट्रोलियम निकलता था। आसाम के लखमीपूर जिले का डिगबोई क्षेत्र ही भारत का मुख्य तेल क्षेत्र है। आसाम की कुल उत्पत्ति ६८,०००,००० गैलन है। १६४४ में कुल भारत की उत्पत्ति ६७५ लाख गैलन थी जिसमें से पाकिस्तान का हिस्सा १५२ लाख गैलन था। लीग आव नेशन्स की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार १६४० में कुल भारत की उत्पत्ति ३२५,००० मैट्रिक टन थी जब कि बर्मा की १,०००,००० मैट्रिक टन और समस्त संसार की २६३,०००,००० टन थी। पाकिस्तान में अटक के पास मुख्य तेल क्षेत्र है जहाँ से तेल निकलता है। पाकिस्तान भारत की तुलना में और भी निर्धन है।

भारत पैट्रोलियम की दृष्टि से अत्यन्त निर्धन राष्ट्र है। इसी कारण उसे पैट्रोल मुख्यतः विदेशों से मँगवाना पड़ता है। १६३६-४० में भारत ने ४६३,०००,००० गैलन पैट्रोल विदेशों से मँगवाया जिसका मूल्य १७ करोड़ रुपया था। मोटरों का अधिक प्रचलन होने तथा हवाई जहाज का गमनागमन तथा युद्ध के लिए अधिक उपयोग होने के कारण पैट्रोल की माँग बढ़ती ही जाती है।

हिमालय प्रदेश में प्राकृतिक गैस मिलती है तथा उत्तर भारत के धरातल की बनावट से भूगर्भवेत्ताओं का अनुमान है कि उत्तर भारत के मैदानों में तेल है परन्तु उसके सम्बन्ध में अभी कुछ निश्चय नहीं है।

जल विद्युत : संसार भर की जलशक्ति ५००,०००,००० घोड़ों की शक्ति के बराबर है ऐसा अनुमान किया गया है। बैलजियन कांगो (अफ्रीका में) ६०,०००,००० घोड़ों की शक्ति, संयुक्त राज्य अमेरिका ३८,०००,०००, तथा भारत २७,०००,००० घोड़ों की शक्ति उत्पन्न कर सकता है। जापान, सोवियत रूस, आस्ट्रे-

लिया इत्यादि देशों में जो औद्योगिक उन्नति हुई है वह बहुत कुछ जल-विद्युत् पर ही निर्भर है।

जल-विद्युत् का एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि विद्युत् शक्तिगृह से दूर तक ले जाई जा सकती है। अस्तु जल-विद्युत् की उन्नति के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों का विकेन्द्रीयकरण हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि कारखाने एक ही स्थान पर केन्द्रित हों वरन उनको दूर दूर बिखेरा जा सकता है और कुटीर धन्धों (Cottage Industries) को भी शक्ति मिल सकती है। भारत जैसे देश में जहाँ पैट्रोल और कोयला देश की भावी औद्योगिक उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं है जल-विद्युत् की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है।

संसार में क्रमशः जल-विद्युत् का अधिकाधिक प्रयोग हो रहा है, यह निम्न-लिखित आँकड़ों से स्पष्ट है।

शक्ति का स्रोत	१९१३	१९२०	१९२५	१९३१
कोयला	८८.५%	८२.१%	७५.५%	६६.५%
तेल और गैस	७.२%	११.७%	१६.१%	२१.१%
जल-विद्युत्	४.३%	६.२%	८.४%	१२.४%
कुल जोड़	१००%	१००%	१००%	१००%

इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक कोयले का प्रश्न है उसका महत्व कम होता जा रहा है और तेल तथा जल-विद्युत् का महत्व बढ़ता जा रहा है। आज जल-विद्युत् से १२.५ प्रतिशत शक्ति उत्पन्न होती है। भविष्य में जल-विद्युत् का महत्व और भी अधिक बढ़ेगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

जहाँ तक जल-विद्युत् का प्रश्न है, भारत अत्यन्त समृद्धिशाली देश है। यद्यपि भारत में तेल बहुत कम है और कोयले की दृष्टि से भी भारत बहुत धनी नहीं है परन्तु जहाँ तक जल-विद्युत् का प्रश्न है भारत संसार के अत्यन्त समृद्धिशाली देशों में से है। आज देश में उद्योग-धन्धों में १० लाख घोड़ों की शक्ति का उपयोग होता है जिसमें २८५,००० घोड़ों की शक्ति की बिजली उत्पन्न की जाती है। यह बिजली कोयले, तेल अथवा जल से उत्पन्न की जाती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिंध नदी के पूर्व में जो सात बड़ी नदियाँ हैं, वे हिमालय से प्रति १०००फीट की ऊँचाई से गिरने पर ३० लाख घोड़ों की शक्ति उत्पन्न कर सकती हैं। इसी प्रकार अन्य नदियां भी जल विद्युत् उत्पन्न कर सकती हैं। जल-विद्युत् की इतनी अधिक सम्भावनाएँ होते हुए भी भारतवर्ष में अन्य देशों की तुलना में प्रति व्यक्ति सबसे कम बिजली उत्पन्न होती है। भारतवर्ष में प्रति व्यक्ति पीछे वर्ष में ७ यूनिट बिजली खर्च होती है जब कि मैक्सिको जैसे देश में भी १२० यूनिट बिजली प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति खर्च की जाती है।

कनाडा में २००० यूनिट, स्वीडन में ११०६ यूनिट और इङ्गलैण्ड में ६०० यूनिट। वलगेरिया जैसे अत्यन्त पिछड़े देश की तुलना में हमारे देश में प्रति व्यक्ति एक तिहाई बिजली खर्च होती है।

इसका मुख्य कारण यह है कि भारतवर्ष में जल-शक्ति की उन्नति करने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया गया। देश में जितनी जल-शक्ति उत्पन्न हो सकती है उसकी केवल २ प्रतिशत बिजली ही उत्पन्न की जाती है।

भारत में जल-विद्युत् : यह तो हम ऊपर ही कह चुके हैं कि भारत में जल-विद्युत् का अधिक विस्तार नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि सरकार इस ओर से उदासीन थी। इसके अतिरिक्त भारत में जल-विद्युत् के उत्पन्न होने में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। इसका कारण यह है कि वर्षा यहाँ एक समान हर मौसम में नहीं होती। वर्षा के दिनों में नदियों में बहुत अधिक जल रहता है किन्तु अन्य महीनों में जल की बहुत कमी हो जाती है। जल को इकट्ठा करने के लिए बड़े-बड़े बांध बनाने की आवश्यकता होती है जिन में जल इकट्ठा करना पड़ता है। इन बांधों के बनाने में व्यय बहुत अधिक होता है। भारत सरकार ने जब सिंचाई के लिए नहरों को निकाला था यदि उस समय इस ओर तनिक भी ध्यान दिया जाता तो आसानी से जल-विद्युत् और सिंचाई एक ही योजना से उपलब्ध की जा सकती थी, किन्तु भारत सरकार के इञ्जिनियरों ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान तक नहीं दिया। यही कारण था कि जल-विद्युत् का विस्तार नहीं हो सका। सर्व प्रथम इस देश में जल-विद्युत् का विस्तार व्यक्तियों के प्रयास से हुआ जिसमें ताता कम्पनी मुख्य है।

भारतवर्ष में नीचे लिखे जल-विद्युत् उत्पन्न करने वाले कारखाने हैं :—

पश्चिमीय घाट के कारखाने : भारतवर्ष में सबसे अधिक महत्वपूर्ण जल-विद्युत् उत्पन्न करने वाले कारखाने पश्चिमीय घाट के समीप स्थित हैं। पश्चिमीय घाट के समीप घोर वर्षा होती है। उस जल से बिजली उत्पन्न करने का विचार भारत के प्रसिद्ध व्यवसायी ताता के मस्तिष्क की उपज थी। उन्होंने ताता हाइड्रो-इलैक्ट्रिक कम्पनी स्थापित की। इस योजना के अनुसार लोनावला, वलव्हान, तथा शिरवता नामक तीन बड़ी झीलों को बाँध बनाकर तैयार किया गया है। वर्षा का जल इन झीलों में इकट्ठा किया जाता है और १७७५ फीट की ऊंचाई से खापोली शक्तिगृह के पास गिराया जाता है। इस कारखाने की बिजली से सारे सूती कपड़े के कारखाने चलते हैं।

बम्बई में बिजली की माँग इतनी अधिक थी कि ताता कम्पनी उसे पूरा नहीं कर सकती थी, इसलिए उन्होंने आंध्र वैली सप्लाई कम्पनी स्थापित करके अधिक बिजली उत्पन्न की। इस योजना के अनुसार तोकेरवादी के पास एक बड़ा बाँध बनाकर आंध्र

नदी को रोक दिया गया है। इस झील का पानी १७५० फीट की ऊँचाई से गिराया जाता है और भिवपुरी पावर स्टेशन में बिजली तैयार होती है। इस उत्पन्न हुई बिजली को ट्राम कम्पनी तथा जी० आई० पी० रेलवे काम में लाती हैं।

ताता ने एक तीसरी पावर कम्पनी स्थापित करके निला मुला योजना को भी पूरा कर दिया। मुलशी नामक स्थान पर निला मुला नदी को एक बांध बनाकर रोक दिया। इस झील से पानी 'भिरा' के शक्तिगृह पर गिराया जाता है और बिजली तैयार होती है जो बी० बी० सी० आई० तथा जी० आई० पी० रेलवे काम में लाती हैं।

निला मुला के १०० मील दक्षिण में ताता कम्पनी कोनिया नदी के जल को रोक कर बिजली बनाने का प्रयत्न कर रही है।

दक्षिण के जल-विद्युत उत्पन्न करने वाले कारखाने : दक्षिण भारत कोयले की खानों से बहुत दूर है इस कारण यहाँ कोयला मंगाने में व्यय अधिक होता है। जबसे यहाँ बिजली उत्पन्न हो गई है, उद्योग-धंधे उन्नति कर गए हैं।

मदरास प्रांत में जल-विद्युत : मदरास के कुछ स्थानों को चुन कर यहां शक्तिगृह स्थापित किए गए हैं। इनमें नीलगिरी पहाड़ियों में स्थित 'पायकरा' विशेष महत्वपूर्ण है। इस बिजली से तामिल प्रदेश में उद्योग-धंधे खूब पनप उठे हैं। आश्चर्य-जनक गति से यहां मिलें तथा कारखाने स्थापित होते जाते हैं।

पायकरा के अतिरिक्त पापनासम, पालिनी पहाड़ियों तथा पायकरा शक्ति-गृहों से भी बिजली उत्पन्न की जाती है। इन सभी शक्ति-गृहों से उत्पन्न होने वाली बिजली की लाइनों को जोड़ दिया गया है और बिजली की एक बड़ी लाइन बनादी गई है। दक्षिण भारत में इन शक्तिगृहों से बिजली ले जाने वाली लाइनों का एक जाल सा बिछा है। मदरास, चिंगलपेट, पांडीचेरी, विलुपुरम, वैलोर, रानीपेट, सलेम, त्रिचूर, डिंडीगुल, मदुरा, साटूर, तूतिकोरन, तिनेवली, कोचीन, त्रिपुर, कोयम्बटूर, कालीकट तथा अन्य बहुत से नगरों और कस्बों में यह जल-विद्युत पहुँचती है। इन शक्तिगृहों से कारण दक्षिण भारत में उद्योग-धंधों की तेजी से उन्नति हुई है।

इसके अतिरिक्त कावेरी के मैटूर बांध से निकलने वाली नहरों के जल से, तथा कावेरी के मुहाने की नहरों के जल से भी बिजली उत्पन्न की जाती है।

मैसूर में जल-विद्युत : मैसूर में कावेरी नदी पर शिवसामुंदरम जल प्रपात के समीप शक्तिगृह स्थापित किया गया। यहां से उत्पन्न की गई बिजली कोलार सोने की खानों में काम आती है तथा बंगलोर में काम आती है। बिजली की मांग अधिक होने के कारण कृष्णराजासागर बाँध बनाकर कावेरी नदी के जल को रोक दिया गया है और इस प्रकार शिवसामुंदरम शक्तिगृह से भी अधिक बिजली उत्पन्न की जा रही है। मैसूर में जल-विद्युत के कारण ही उद्योग-धंधों की उन्नति हुई है।

कनाडा में २००० यूनिट, स्वीडन में ११०६ यूनिट और इङ्गलैण्ड में ६०० यूनिट। बलगेरिया जैसे अत्यन्त पिछड़े देश की तुलना में हमारे देश में प्रति व्यक्ति एक तिहाई बिजली खर्च होती है।

इसका मुख्य कारण यह है कि भारतवर्ष में जल-शक्ति की उन्नति करने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया गया। देश में जितनी जल-शक्ति उत्पन्न हो सकती है उसकी केवल २ प्रतिशत बिजली ही उत्पन्न की जाती है।

भारत में जल-विद्युत् : यह तो हम ऊपर ही कह चुके हैं कि भारत में जल-विद्युत् का अधिक विस्तार नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि सरकार इस ओर से उदासीन थी। इसके अतिरिक्त भारत में जल-विद्युत् के उत्पन्न होने में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। इसका कारण यह है कि वर्षा यहाँ एक समान हर मौसम में नहीं होती। वर्षा के दिनों में नदियों में बहुत अधिक जल रहता है किन्तु अन्य महीनों में जल की बहुत कमी हो जाती है। जल को इकट्ठा करने के लिए बड़े-बड़े बांध बनाने की आवश्यकता होती है जिन में जल इकट्ठा करना पड़ता है। इन बांधों के बनाने में व्यय बहुत अधिक होता है। भारत सरकार ने जब सिंचाई के लिए नहरों को निकाला था यदि उस समय इस ओर तनिक भी ध्यान दिया जाता तो आसानी से जल-विद्युत् और सिंचाई एक ही योजना से उपलब्ध की जा सकती थी, किन्तु भारत सरकार के इञ्जिनियरों ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान तक नहीं दिया। यही कारण था कि जल-विद्युत् का विस्तार नहीं हो सका। सर्व प्रथम इस देश में जल-विद्युत् का विस्तार व्यक्तियों के प्रयास से हुआ जिसमें ताता कम्पनी मुख्य है।

भारतवर्ष में नीचे लिखे जल-विद्युत् उत्पन्न करने वाले कारखाने हैं :—

पश्चिमीय घाट के कारखाने : भारतवर्ष में सबसे अधिक महत्वपूर्ण जल-विद्युत् उत्पन्न करने वाले कारखाने पश्चिमीय घाट के समीप स्थित हैं। पश्चिमीय घाट के समीप घोर वर्षा होती है। उस जल से बिजली उत्पन्न करने का विचार भारत के प्रसिद्ध व्यवसायी ताता के मस्तिष्क की उपज थी। उन्होंने ताता हाइड्रो-इलैक्ट्रिक कम्पनी स्थापित की। इस योजना के अनुसार लोनावला, वलव्हान, तथा शिरवता नामक तीन बड़ी झीलों को बाँध बनाकर तैयार किया गया है। वर्षा का जल इन झीलों में इकट्ठा किया जाता है और १७७५ फीट की ऊँचाई से खापोली शक्तिगृह के पास गिराया जाता है। इस कारखाने की बिजली से सारे सूती कपड़े के कारखाने चलते हैं।

बम्बई में बिजली की माँग इतनी अधिक थी कि ताता कम्पनी उसे पूरा नहीं कर सकती थी, इसलिए उन्होंने आंध्र वैली सप्लाई कम्पनी स्थापित करके अधिक बिजली उत्पन्न की। इस योजना के अनुसार तोकेरवादो के पास एक बड़ा बाँध बनाकर आंध्र

नदी को रोक दिया गया है । इस झील का पानी १७५० फीट की ऊँचाई से गिराया जाता है और भिवपुरी पावर स्टेशन में बिजली तैयार होती है । इस उत्पन्न हुई बिजली को ट्राम कम्पनी तथा जी० आई० पी० रेलवे काम में लाती हैं ।

ताता ने एक तीसरी पावर कम्पनी स्थापित करके निला मुला योजना को भी पूरा कर दिया । मुलशी नामक स्थान पर निला मुला नदी को एक बांध बनाकर रोक दिया । इस झील से पानी 'भिरा' के शक्तिगृह पर गिराया जाता है और बिजली तैयार होती है जो बी० बी० सी० आई० तथा जी० आई० पी० रेलवे काम में लाती हैं ।

निला मुला के १०० मील दक्षिण में ताता कम्पनी कोनिया नदी के जल को रोक कर बिजली बनाने का प्रयत्न कर रही है ।

दक्षिण के जल-विद्युत् उत्पन्न करने वाले कारखाने : दक्षिण भारत कोयले की खानों से बहुत दूर है इस कारण यहाँ कोयला मंगाने में व्यय अधिक होता है । जबसे यहाँ बिजली उत्पन्न हो गई है, उद्योग-धंधे उन्नति कर गए हैं ।

मदरास प्रांत में जल-विद्युत : मदरास के कुछ स्थानों को चुन कर यहां शक्तिगृह स्थापित किए गए हैं । इनमें नीलगिरी पहाड़ियों में स्थित 'पायकरा' विशेष महत्वपूर्ण है । इस बिजली से तामिल प्रदेश में उद्योग-धंधे खूब पनप उठे हैं । आश्चर्य-जनक गति से यहां मिलें तथा कारखाने स्थापित होते जाते हैं ।

पायकरा के अतिरिक्त पापनासम, पालिनी पहाड़ियों तथा पायकरा शक्ति-गृहों से भी बिजली उत्पन्न की जाती है । इन सभी शक्ति-गृहों से उत्पन्न होने वाली बिजली की लाइनों को जोड़ दिया गया है और बिजली की एक बड़ी लाइन बनादी गई है । दक्षिण भारत में इन शक्तिगृहों से बिजली ले जाने वाली लाइनों का एक जाल सा बिछा है । मदरास, चिंगलपेट, पांडीचेरी, विलुपुरम, वैलोर, रानीपेट, सलेम, त्रिचूर, डिंडीगुल, मदुरा, साटूर, तूतिकोरन, तिनेवली, कोचीन, त्रिपुर, कोयम्बटूर, कालीकट तथा अन्य बहुत से नगरों और कस्बों में यह जल-विद्युत पहुँचती है । इन शक्तिगृहों से कारण दक्षिण भारत में उद्योग-धंधों की तेजी से उन्नति हुई है ।

इसके अतिरिक्त कावेरी के मैटूर बांध से निकलने वाली नहरों के जल से, तथा कावेरी के मुहाने की नहरों के जल से भी बिजली उत्पन्न की जाती है ।

मैसूर में जल-विद्युत : मैसूर में कावेरी नदी पर शिवसामुंदरम जल प्रपात के समीप शक्तिगृह स्थापित किया गया । यहां से उत्पन्न की गई बिजली कोलार सोने की खानों में काम आती है तथा बंगलोर में काम आती है । बिजली की मांग अधिक होने के कारण कृष्णराजासागर बाँध बनाकर कावेरी नदी के जल को रोक दिया गया है और इस प्रकार शिवसामुंदरम शक्तिगृह से भी अधिक बिजली उत्पन्न की जा रही है । मैसूर में जल-विद्युत के कारण ही उद्योग-धंधों की उन्नति हुई है ।

काश्मीर में झेलम नदी पर बड़ामुल्ला नामक स्थान पर बिजली उत्पन्न की जाती है जो श्रीनगर को ले जाई जाती है।

पंजाब की जल-विद्युत : उत्तर भारत में मंडी का जल-विद्युत का कारखाना अधिक महत्वपूर्ण है। शिमला की पहाड़ियों के पास जोगेन्द्र नगर के समीप बिजली उत्पन्न की जाती है। बिजली पंजाब के लगभग २० कस्बों में दी जाती है। फिरोजपुर और लायलपुर को यही बिजली जाती है। जब यह योजना पूरी हो जायगी तो इससे उत्पन्न होने वाली बिजली पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमीय उत्तर प्रदेश के जिलों को प्राप्त होगी।

उत्तर प्रदेश : उत्तर प्रदेश में बिजली के कारखानों में गङ्गा की नहर से बिजली उत्पन्न करने की योजना महत्वपूर्ण है। गंगा की नहर के बहुत से जल-प्रपातों (आसफनगर, चित्तौरा, सुमेरा) से बिजली उत्पन्न की जाती है। आसफनगर के समीप ही बहादुराबाद मुख्य शक्तिगृह है। इसके अतिरिक्त गाजियाबाद के समीप 'भोला तथा बुलन्दशहर' के समीप 'पालरा' पावर स्टेशन हैं जिनसे बिजली उत्पन्न की जाती है। इन सभी शक्ति-गृहों तथा जल-प्रपातों से उत्पन्न होने वाली बिजली एक बड़ी बिजली की लाइन में जोड़ दी गई है जिसके द्वारा उत्तर प्रदेश के पश्चिमीय जिलों को बिजली दी जाती है। इस बिजली का ट्यूब वैलों के द्वारा सिंचाई के लिए बहुत उपयोग हुआ है।

जल-विद्युत की नवीन योजनाएँ : स्वतन्त्र होने के उपरान्त भारत सरकार ने जो आर्थिक पुनः निर्माण की योजनाओं को कार्य रूप में परिणित करने के लिए कुछ नवीन योजनाएँ हाथ में ली हैं उनमें से नीचे लिखी मुख्य हैं। यह बहुमुखी योजनाएँ हैं। इनके द्वारा बिजली उत्पन्न होने के अतिरिक्त सिंचाई तथा नौकाओं द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजा जा सकेगा। उन योजनाओं में नीचे लिखी मुख्य हैं :—

नाम	सिंचाई का क्षेत्रफल एकड़ों में	बिजली किलोवाट में
दामोदर घाटी	७½ लाख	३ लाख
गोदावरी	२५ लाख	१५ हजार
भाकरा बाँध	४० लाख	२ लाख
रिहांड बांध	४५ लाख	२ लाख
तुंगभद्रा	५ लाख	७ हजार
हीरा कुण्ड	३५ लाख	२ लाख
नायर बाँध	...	३० हजार

दामोदर घाटी योजना : आज जो भी देश में बहुमुखी योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं उनमें दामोदर घाटी योजना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे केवल तीन

लाख किलोवाट विजली ही नहीं होगी वरन् उससे बर्दवान जिले में ७½ लाख भूमि पर सिंचाई भी होगी। आज जो दामोदर नदी में भयङ्कर बाढ़ें आती हैं और जन तथा धन को अपार क्षति होती है उसको रोका जा सकेगा। जल का नियन्त्रण हो जावेगा और दामोदर नदी एक प्रमुख जलमार्ग बन जावेगी। नौका सञ्चालन द्वारा कोयले को कम खर्चे में एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजा जा सकेगा। इसके द्वारा इस क्षेत्र में व्यापार की भी उन्नति होगी। यही नहीं मछली उत्पन्न करके इससे भोजन भी प्राप्त किया जा सकेगा। आज जो इस प्रदेश में मलेरिया का प्रकोप है वह भी कम किया जा सकेगा। वास्तव में यह योजना टिनैसी घाटी (संयुक्त राज्य अमेरिका) के आधार पर बनाई गई है।

इस योजना के अन्तर्गत दामोदर नदी तथा उसकी सहायक नदियों पर सात बाँध बाँधे जावेंगे जो अय्यर, सानोलपुर, बाकारो, कोनार, तेलाया, देवलवारी और माईथान पर स्थित होंगे। दो बाँध दामोदर नदी पर बर्दवान के समीप बनाए जावेंगे। यहाँ से उत्पन्न हुई विजली कोयले के क्षेत्र (रानीगज, झरिया, आसंसोल इत्यादि) को दी जावेगी। विहार का औद्योगिक केन्द्र डालमियानगर, इत्यादि केन्द्र तथा बिहार के नगर इससे उत्पन्न हुई विजली पा सकेंगे। दामोदर की विजली बर्दवान और कलकत्ते तक पहुँचेगी। इस योजना के बन जाने से बर्दवान और कलकत्ते को बहुत लाभ होगा।

दामोदर घाटी योजना को हाथ में ले लिया गया है और उस पर कार्य आरम्भ हो गया है। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार ने दामोदर घाटी कारपोरेशन स्वतन्त्र संस्था को स्थापित किया है जिसके नियन्त्रण में यह योजना कार्यान्वित होगी। दामोदर घाटी योजना को कार्यान्वित करने में ७० करोड़ रुपये से अधिक का व्यय होगा। इसके लिए भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण भी लिया है।

रिहांड बांध : उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में पिपरिया गांव के पास रिहांड नदी पर बाँध बना कर जल-विद्युत उत्पन्न करने तथा सिंचाई करने के लिए इस बहुमुखी योजना की कल्पना की गई थी। उत्तर प्रदेश के पूर्वीय जिलों (कानपुर, फैजाबाद, बनारस, मिर्जापुर इत्यादि) में खेती और उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए इस योजना को कार्यान्वित किया जा रहा था। किन्तु आर्थिक कारणों से इस समय इस योजना को स्थगित कर दिया गया है।

हीराकुण्ड बाँध : महानदी दक्षिण प्रायद्वीप की एक मुख्य नदी है। किन्तु महानदी के जल का अभी तक सिंचाई तथा जल-विद्युत उत्पन्न करने के लिए उपयोग नहीं किया गया। उड़ीसा का प्रदेश खनिज पदार्थों से भरा पड़ा है। यहाँ कोयला, लोहा, बाक्साइट, मैंगनीज, ग्रैफाइट, क्रोमाइट और अबरख बड़ी राशि में पृथ्वी के गर्भ में भरा हुआ है। महानदी प्रतिवर्ष ७ करोड़ ४० लाख एकड़ फीट पानी बहा ले

जाती है। उड़ीसा का यह विस्तृत प्रदेश संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रसिद्ध टिनैसी घाटी से कई गुना अधिक साधन सम्पन्न है। परन्तु महानदी के जल का पूरा पूरा उपयोग न हो सकने के कारण यह अत्यन्त निर्धन और अवनत दशा में पड़ा हुआ है।

इस प्रदेश को धन-धान्य तथा उद्योग-धन्धों को भरा पूरा करने के लिए ही हीराकुण्ड बाँध की योजना हाथ में ली गई है। हीराकुण्ड बाँध की योजना बहुमुखी है। इसके द्वारा सिंचाई होगी, जल-विद्युत् उत्पन्न होगी, नौका सञ्चालन द्वारा माल ढोने की सुविधा होगी और आज जो नदी में बाढ़ आने के कारण विनाश होता है उसको रोका जा सकेगा। हीराकुण्ड बांध की योजना उड़ीसा के सम्बलपुर जिले में महानदी पर बनाई जा रही है। इस योजना के बन जाने पर इस प्रदेश में खेती, उद्योग-धन्धों तथा खनिज धन्धों की आश्चर्यजनक गति से उन्नति होगी।

इस योजना के अंतर्गत तीन बड़े बाँध बनाए जावेंगे, (१) हीराकुण्ड, (२) तिकरपारा (३) नाराज। इन बाँधों के बन जाने पर केवल सिंचाई, बिजली, नौकासंचालन, बाढ़ नियंत्रण की सुविधाएँ ही प्राप्त नहीं होंगी वरन् मलेरिया के प्रकोप को रोकने. मछली की पैदावार को बढ़ाने, भूमि के कटाव को रोकने तथा मनोरञ्जन की बहुमूल्य सुविधाएँ प्रदान की जावेंगी। यह योजना ५.३ लाख एकड़ भूमि को बाढ़ से बचावेगी, ११ लाख एकड़ भूमि पर सिचाई होगी तथा ३ लाख २० हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। यह बिजली कटक और जमशेदपुर तक दी जा सकेगी। यह बिजली की लाइन मुचकंद शक्ति गृह को भी जोड़ती है।

इस योजना के बन जाने पर सम्बलपुर के समीप लोहे, सीमेंट, शक्कर, कागज, रसायनिक पदार्थों के कारखाने खड़े हो जावेंगे। इस योजना के फलस्वरूप ३४०,००० टन अनाज उत्पन्न होगा जिसका मूल्य ३½ करोड़ रुपये होगा। संक्षेप में इस योजना के बन जाने पर यह प्रदेश भारत के अत्यंत समृद्धशाली प्रदेशों में गिना जावेगा।

भाखरा बाँध : भाखरा बांध पूर्वी पंजाब में सतलज नदी के जल से सिंचाई तथा जल-विद्युत उत्पन्न करने के लिए बनाया जा रहा है यह शीघ्र बनकर तैयार हो जावेगा। इससे ६० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी तथा ४ लाख किलोवाट जल-विद्युत् उत्पन्न होगी।

कोसी योजना : बिहार में कोसी योजना सबसे अधिक महत्वपूर्ण योजना है। यह भी बहुमुखी योजना है। इसके बनकर तैयार हो जाने पर सिंचाई, शक्ति उत्पादन, नौका-संचालन, बाढ़ों से समीपवर्ती प्रदेश की रक्षा, भूमि के कटाव को रोकने, मलेरिया के प्रकोप को रोकने तथा भूमि को उपजाऊ बनाने की व्यवस्था की जावेगी। इसके अतिरिक्त मछली उत्पन्न करने की भी व्यवस्था होगी।

इस योजना के अंतर्गत चंद्रा घाटी में ७५० फीट की ऊँचाई पर नैपाल में एक

विशाल बाँध बनाया जावेगा जिसमें अनंत जलराशि इकट्ठी की जावेगी। कोसी नदी पर दो बांध बनाए जावेंगे, एक नैपाल में दूसरा नैपाल-विहार की सीमा पर। नैपाल में इसकी नहरों से दस लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी और विहार में पूर्निया, दरभंगा और मुजफ्फरपुर में बीस लाख एकड़ भूमि सींची जावेगी। इसके अतिरिक्त इस योजना से १८ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। इसका अनुमानित व्यय १२० करोड़ रुपये है। इस पर कार्य आरम्भ हो गया है।

गोदावरी योजना : मदरास प्रांत में यह सबसे महत्वपूर्ण बहुमुखी योजना है। गोदावरी नदी की यह योजना २७,५०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई करेगी, तथा डेढ़ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। इस योजना पर लगभग १३० करोड़ रुपया व्यय होगा।

तुङ्गभद्रा योजना : इस योजना को हैदराबाद तथा मदरास सरकार मिलकर बना रही हैं, इस योजना के अनुसार तुंगभद्रा नदी पर एक विशाल बांध बनाया जा रहा है जिसका विस्तार १३८ मील होगा। इस योजना पर ५० करोड़ रुपये व्यय होगा।

उपर्युक्त योजनाओं के अतिरिक्त विभिन्न प्रांतीय सरकारों के सम्मुख अनेक बड़ी-छोटी योजनाएँ हैं। बंगाल की मोर योजना ६ लाख एकड़ भूमि सींचेगी तथा ४ हजार किलोवाट विद्युत उत्पन्न करेगी। इसकी लागत १५ करोड़ रुपये होगी। मदरास की नायर योजना ४६,२०,००० किलोवाट विद्युत उत्पन्न करेगी। इसकी लागत ३३ करोड़ रुपये होगी।

नर्मदा योजना ६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेगी तथा २,२४,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी। इसका अनुमानित व्यय लगभग ३८ करोड़ रुपए है। गोडीकोट योजना जिसकी लागत ३० करोड़ रुपए होगी, एक लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेगी। राजस्थान में जोधपुर डिवीजन में जवाई योजना १ लाख १० हज़ार एकड़ भूमि की सिंचाई करेगी तथा ४,५०० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी। यह योजना शीघ्र बन कर तैयार हो जावेगी। इसके अतिरिक्त मध्यभारत में तथा राजस्थान में चम्बल नदी पर दो योजनायें हैं जिन पर कार्य आरम्भ हो गया है।

भारत सरकार ने इन बहु-उद्देशीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये एक केन्द्रीय शक्ति और सिंचाई बोर्ड की स्थापना की है जिसकी देख-रेख में यह योजनायें कार्यान्वित की जावेंगी।

हम उस दिन की कल्पना कर सकते हैं जबकि यह सारी योजनायें बनकर तैयार हो जावेंगी। समस्त देश में बिजली की लाइनों का एक जाल सा बिछ जावेगा। हमारे प्रत्येक गाँव में बिजली का आलोक पहुँच जावेगा। कृषि में कुओं की सिंचाई

बिजली से होगी, कुटीर धंधे और बड़े-बड़े उद्योग विद्युत-शक्ति से परिचालित हों। हमारा देश विद्युत शक्ति की सहायता से संसार के औद्योगिक देशों में स्थान पा सकेगा।

किन्तु इन योजनाओं को कार्यान्वित करने में सबसे बड़ी कठिनाई पूँजी है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से पूँजी ली जा सकती है परन्तु एक तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ... सी शर्तें लगाता है और दूसरे ब्याज की दर भी अधिक है। अतएव इन योजनाओं को पूरा करने के लिये हमें अपनी आन्तरिक बचत पर ही निर्भर रहना होगा।

जल-विद्युत् का आर्थिक प्रभाव : भारतवर्ष के भावी औद्योगिक ... में जल-विद्युत की उन्नति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। बात यह है कि कोयले की दृष्टि से भारत कोई धनी राष्ट्र नहीं है और जो भी थोड़ा बहुत कोयला है वह देश के एक कोने में केन्द्रित है। अस्तु, भारत जैसे विशाल देश के विभिन्न भागों में शक्ति के साधनों के अभाव में औद्योगिक उन्नति असम्भव थी। बम्बई, मदरास और मैसूर की औद्योगिक उन्नति का श्रेय जल-विद्युत् को ही है। भविष्य में जब हीराकुण्ड, दामोदर घाटी योजना, रिहांड बांध तथा भाकरा बांध की योजनाएं कार्यान्वित हो जावेंगी तो क्रमशः उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में एक अभूतपूर्व चमत्कार होगा और वे आश्चर्यजनक गति से औद्योगिक उन्नति करेंगे। होना तो यह चाहिए था कि भारतवर्ष भर में बिजली की ग्रिड लाइनों का जाल-सा बिछ जावे तभी उद्योग-धंधों की उन्नति हो सकती है।

जल-विद्युत् के प्रसार से एक बड़ा लाभ यह होगा कि धंधों का विकेन्द्रीकरण हो सकेगा और गृह-उद्योग-धंधों तथा कुटीर धंधों को भी यांत्रिक शक्ति की सुविधा प्राप्त हो जावेगी जिससे कि वे बड़े-बड़े कारखानों की प्रतिस्पर्द्धा में खड़े हो सकेंगे। सच तो यह है कि इन योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने पर भारत में एक नवीन औद्योगिक क्रान्ति हो सकेगी।

भारतवर्ष के खनिज पदार्थ

भारतवर्ष खनिज पदार्थों की दृष्टि से धनी देश है। पिछले वर्षों में खनिज पदार्थों के निकालने में विशेष उन्नति हुई है और नवीन खनिज प्रदेशों का पता लगा है। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि विभाजन के उपरान्त हिन्दुस्तान में ही सारे खनिज पदार्थ आगए। पाकिस्तान खनिज पदार्थों की दृष्टि से संसार का अत्यन्त निर्धन राष्ट्र है। मुख्य खनिज पदार्थ जिन पर किसी देश की औद्योगिक उन्नति निर्भर है वे पाकिस्तान में हैं ही नहीं। देश के मुख्य खनिज पदार्थ निम्नलिखित हैं :—

कोयला	नमक
मैंगनीज़	तांबा

सोना	लोहा
अबरख अथवा भोडल (Mica)	नीलाथोथा (Salt Petre)
तेल (Petroleum)	क्रोमाइट (Chromite)
इमारती पत्थर	मेगनेसाइट (Magnesite)
जिपसम (Gypsum)	चाँदी
फुलर्स अर्थ (Fuller's Earth)	टंग्सटन
बाक्साइट (Bauxite)	ग्रैफाइट
हीरा	अस्बैस्टस (Asbestos)
फेल्सपार (Felspar)	

भारतवर्ष में प्रायः सभी खजिन पदार्थ पाये जाते हैं। ऐसा कोई खनिज ार्थ नहीं है जो पाया न जाता हो। यदि प्रयत्न किया जावे तो जहाँ तक भारत की नेज पदार्थों की आवश्यकता का प्रश्न है, भारतवर्ष स्वावलम्बी हो सकता है। दे भारतवर्ष संसार से पृथक् हो जावे तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वह स्वयं मनी खानों में से अपने लिए आवश्यक खनिज पदार्थ प्राप्त कर सकता है। अभी क भारत के खनिज धंधे का एक बड़ा दोष यह रहा है कि खनिज पदार्थों का ़ीत अधिक होता रहा है। भविष्य में भारतवर्ष को केवल अपने उद्योग-धंधों की ावश्यकतानुसार ही खनिज पदार्थों को निकालना चाहिए, खनिज पदार्थों के निर्यात । प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। कारण यह है कि खनिज पदार्थ समाप्त हो जाने वाले । एक बार खानों के समाप्त हो जाने पर उनको भरा नहीं जा सकता अतएव ावश्यकता इस बात की है कि हम अपने खनिज पदार्थों का दुरुपयोग न करें; नको निकालने के ढंग में सुधार करें जिससे कि खनिज पदार्थ खानों में कम-से-कम ष्ट हों, उनका मितव्ययिता के साथ उपयोग कर तथा उनका निर्यात न होने दें। च्चे खनिज पदार्थों का निर्यात देश के हित में नहीं है।

लोहा : लोहा किसी भी देश की औद्योगिक उन्नति का आधार है क्योंकि ारखानों के यंत्र इत्यादि सभी लोहे से तैयार होते हैं। किसी भी देश की औद्योगिक न्नति इस बात पर निर्भर रहती है कि वहाँ यन्त्रों का कितना उपयोग होता है। ामकुर ़ बनाने के लिए लोहे की आवश्यकता है। सौभाग्यवश भारतवर्ष लोहे की न पाया नी देश है। भारत की खानों में अनन्त राशि में लोहा भरा पड़ा है। भूग अनुमान है कि जहाँ तक बढ़िया लोहे का प्रश्न है सम्भवतः भा तिशत लोहे ार के सभी देशों से अधिक लोहा है। स्तान में

भारतीय लोहे की खानों से जो कच्ची धातु निकलती है उसमें ६० प्र अधिक शुद्ध लोहा मिलता है जब कि अन्य देशों में ४० प्रतिशत से अधिक होने के

बिजली से होगी, कुटीर धंधे और बड़े-बड़े उद्योग विद्युत-शक्ति से परिचालित होंगे। हमारा देश विद्युत शक्ति की सहायता से संसार के औद्योगिक देशों में ऊँचा स्थान पा सकेगा।

किन्तु इन योजनाओं को कार्यान्वित करने में सबसे बड़ी कठिनाई पूँजी की है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से पूँजी ली जा सकती है परन्तु एक तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक बहुत सी शर्तें लगाता है और दूसरे ब्याज की दर भी अधिक है। अतएव इन योजनाओं को पूरा करने के लिये हमें अपनी आन्तरिक बचत पर ही निर्भर रहना होगा।

जल-विद्युत् का आर्थिक प्रभाव : भारतवर्ष के भावी औद्योगिक विकास में जल-विद्युत की उन्नति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। बात यह है कि कोयले की दृष्टि से भारत कोई धनी राष्ट्र नहीं है और जो भी थोड़ा बहुत कोयला है वह देश के एक कोने में केन्द्रित है। अस्तु, भारत जैसे विशाल देश के भिन्न-भिन्न भागों में शक्ति के साधनों के अभाव में औद्योगिक उन्नति असम्भव थी। बम्बई तथा मदरास और मैसूर की औद्योगिक उन्नति का श्रेय जल-विद्युत् को ही है। भविष्य में जब हीराकुण्ड, दामोदर घाटी योजना, रिहांड बांध तथा भाकरा बांध की योजनाएँ कार्यान्वित हो जावेंगी तो क्रमशः उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में एक अभूतपूर्व चमत्कार होगा और वे आश्चर्यजनक गति से औद्योगिक उन्नति करेंगे। होना तो यह चाहिए था कि भारतवर्ष भर में बिजली की ग्रिड लाइनों का जाल-सा बिछ जावे तभी उद्योग-धंधों की उन्नति हो सकती है।

जल-विद्युत् के प्रसार से एक बड़ा लाभ यह होगा कि धंधों का विकेन्द्रीयकरण हो सकेगा और गृह-उद्योग-धंधों तथा कुटीर धंधों को भी यांत्रिक शक्ति की सुविधा प्राप्त हो जावेगी जिससे कि वे बड़े-बड़े कारखानों की प्रतिस्पर्द्धा में खड़े हो सकेंगे। सच तो यह है कि इन योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने पर भारत में एक नवीन औद्योगिक क्रान्ति हो सकेगी।

भारतवर्ष के खनिज पदार्थ

भारतवर्ष खनिज पदार्थों की दृष्टि से धनी देश है। पिछले वर्षों में खनिज पदार्थों के निकालने में विशेष उन्नति हुई है और नवीन खनिज प्रदेशों का पता लगा है। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि विभाजन के उपरान्त हिन्दुस्तान में ही सारे खनिज पदार्थ आगए। पाकिस्तान खनिज पदार्थों की दृष्टि से संसार का अत्यन्त निर्धन राष्ट्र है। मुख्य खनिज पदार्थ जिन पर किसी देश की औद्योगिक उन्नति निर्भर है वे पाकिस्तान में हैं ही नहीं। देश के मुख्य खनिज पदार्थ निम्नलिखित हैं :—

कोयला	नमक
मैंगनीज़	तांबा

सोना	लोहा
अबरख अथवा भोडल (Mica)	नीलाथोथा (Salt Petre)
तेल (Petroleum)	क्रोमाइट (Chromite)
इमारती पत्थर	मेगनेसाइट (Magnesite)
जिपसम (Gypsum)	चाँदी
फुलर्स अर्थ (Fuller's Earth)	टंगसटन
बाक्साइट (Bauxite)	ग्रैफाइट
हीरा	अस्बैस्टस (Asbestos)
फेल्सपार (Felspar)	

भारतवर्ष में प्रायः सभी खजिन पदार्थ पाये जाते हैं। ऐसा कोई खनिज नहीं है जो पाया न जाता हो। यदि प्रयत्न किया जावे तो जहाँ तक भारत की ज पदार्थों की आवश्यकता का प्रश्न है, भारतवर्ष स्वावलम्बी हो सकता है। भारतवर्ष संसार से पृथक् हो जावे तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वह स्वयं ी खानों में से अपने लिए आवश्यक खनिज पदार्थ प्राप्त कर सकता है। अभी भारत के खनिज धंधे का एक बड़ा दोष यह रहा है कि खनिज पदार्थों का त अधिक होता रहा है। भविष्य में भारतवर्ष को केवल अपने उद्योग-धंधों की श्यकतानुसार ही खनिज पदार्थों को निकालना चाहिए, खनिज पदार्थों के निर्यात प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। कारण यह है कि खनिज पदार्थ समाप्त हो जाने वाले एक बार खानों के समाप्त हो जाने पर उनको भरा नहीं जा सकता अतएव वश्यकता इस बात की है कि हम अपने खनिज पदार्थों का दुरुपयोग न करें; को निकालने के ढंग में सुधार करें जिससे कि खनिज पदार्थ खानों में कम-से-कम हों, उनका मितव्ययिता के साथ उपयोग कर तथा उनका निर्यात न होने दें। च्चे खनिज पदार्थों का निर्यात देश के हित में नहीं है।

—लोहा : लोहा किसी भी देश की औद्योगिक उन्नति का आधार है क्योंकि रखानों के यंत्र इत्यादि सभी लोहे से तैयार होते हैं। किसी भी देश की औद्योगिक न्नति इस बात पर निर्भर रहती है कि वहाँ यन्त्रों का ... , ... तथा तमकुर ... राज्य में भी मैंगनीज पाया ो वनाने के लिए लोहे की आवश्यकता है। सौभ ... नी देश है। भारत की खानों में अनन्त राशि में ... । केवल दस प्रतिशत लोहे ग अनुमान है कि जहाँ तक बढ़िया लोहे का ... है। पाकिस्तान में संसार के सभी देशों से अधिक लोहा है।

भारतीय लोहे की खानों से जो कच्ची भी अधिक शुद्ध लोहा मिलता है ज

लोहा नहीं मिलता और इङ्गलैंड में तो २५ प्रतिशत शुद्ध लोहा ही कच्ची धातु में प्रा होता है। इस दृष्टि से भारतवर्ष की लोहे की खानें अत्यन्त धनी हैं। खानों का मह केवल इस दृष्टि से ही नहीं कूता जाता है कि उनमें कितना लोहा भरा है परन्तु खानों की उपयोगिता तथा उनका महत्व इस बात पर भी निर्भर रहता है कि खान कहाँ पर स्थि है और उसके खोदने में कठिनाई है अथवा सरलता। साथ ही लोहे के धंधे के लि आवश्यक पदार्थ हैं वे समीप ही मिलते हैं अथवा नहीं। भाग्यवश भारतवर्ष में लोह कोयले के समीप ही पाया जाता है। डोलोमाइट तथा चूना का पत्थर (Lime Stone) जो कि लोहे को गलाने के लिए आवश्यक हैं, वे पर्याप्त मात्रा समीप ही मिलते हैं।

यों तो भारतवर्ष के बहुत से भागों में लोहा पाया जाता है परन्तु बिहार और उड़ीसा में लोहा बहुत अधिक पाया जाता है। बिहार और उड़ीसा के लोह-क्षेत्र की अनुमानित लोह-राशि इस प्रकार है :—

सिंगभूम—१०४७० लाख टन।
(२८००० लाख टन अन्य अनुमानों के द्वारा)
क्योंझर राज्य—६८८० लाख टन।
बोनाई राज्य—६४८० लाख टन।
मयूरभंज राज्य—१८० लाख टन।

सिंगभूम के लोहक्षेत्र में भारतवर्ष में सबसे अधिक लोहा भरा पड़ा है। यही नहीं, सिंगभूम का लोहा अच्छी जाति का है। सिंगभूम में पनसिराबुरा, गुआ, बुदा बुरु तथा नोआमुंडी की प्रसिद्ध खानें हैं जो कलहन राज्य में हैं। क्योंझर की खानों के समीप ही मैंगनीज तथा डोलोमाइट मिलता है। मयूरभंज राज्य का लोहा गुरमाहिसानी, सुलेपाट तथा बादामपहाड़ की खानों में भरा हुआ है। इन खानों को रेलवे द्वारा तातानगर से मिला दिया गया है। इन खानों के समीप ही कोयला तथा डोलोमाइट भी मिलता है।

इनके अतिरिक्त मध्यप्रदेश, मदरास तथा मैसूर में भी लोहा अधिक मात्रा में पाया ... है। किन्तु मैसूर को छोड़कर इन क्षेत्रों से लोहा निकाला नहीं जाता। मध्य-भारतवर्ष ए के चाँदा जिले में स्थित लोहारा तथा पीपल गाँव की खानों में यथेष्ट लोहा ... के निकालने ... । मध्यप्रदेश के द्रुग जिले में राजहारी पहाड़ियों में ७५ लाख टन लोहा है। इस संबंध में है ऐसा अनुमान किया जाता है। बस्तर राज्य में भी लोहे की खानें हैं। ...रे खनिज पदार्थों का मत है कि मदरास के सेलम तथा नेलौर जिलों में अनन्त राशि में ...न्त निर्धन राष्ट्र है ... जो कि समाप्त नहीं हो सकता। किन्तु कोयले के अभाव में मदरास ...र है वे ... सका। मैसूर में बाबूबुदान पहाड़ियों में केमानगुदी की खानों

से लोहा निकलता है। बम्बई के रत्नागिरी जिले में तथा गोआ में भी यथेष्ट लोहा पाया जाता है।

श्री सेसिल जोन्स के कथनानुसार उड़ीसा के लोहक्षेत्र में ३०,००० से ४०,००० लाख टन कच्चा लोहा भरा पड़ा है जो कि बहुत उत्तम जाति का है, और जिसमें ७० प्रतिशत से अधिक शुद्ध लोहा है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि सिंगभूम, क्योंझर, बोनाई तथा मयूरभंज की खानें संसार की अत्यन्त धनी खानों में से हैं। इस सम्बन्ध में रखना चाहिए कि पाकिस्तान में लोहा तनिक भी नहीं मिलता। सम्मि- ा लोहा हिन्दुस्तान में ही पाया जाता है। पाकिस्तान में लोहा है

: जहाँ तक मैंगनीज का प्रश्न है सोवियत रूस के उपरान्त मैंगनीज ा देशों में भारत का दूसरा स्थान है। भारतीय कच्ची धातु में ५० क शुद्ध मैंगनीज प्राप्त होता है, जब कि रूस में केवल ४५ प्रतिशत ो मिलता है। मैंगनीज स्टील बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक धातु तिरिक्त रसायनिक धंधों में भी उसका उपयोग होता है। भारतवर्ष में का धन्धा इतनी उन्नत अवस्था में नहीं है कि उसमें भारत के अधिकांश . उपयोग हो सके, अतएव अधिकांश मैंगनीज विदेशों को भेजा जाता है। यह देश के हित में नहीं है कि कच्चा मैंगनीज हम बाहर सस्ते दामों पर भेजते रहें।

भारतवर्ष में सबसे अधिक मैंगनीज मध्यप्रदेश में बालाघाट, भांद्रा, छिंदवाड़ा, नागपुर तथा जबलपुर जिलों में उत्पन्न होता है। मध्यप्रदेश में देश की उत्पत्ति का ६० प्रतिशत से अधिक मैंगनीज उत्पन्न होता है। मध्यप्रदेश के अतिरिक्त मदरास में भी मैंगनीज उत्पन्न होता है, किन्तु मदरास में मध्यप्रदेश से आधा ही मैंगनीज उत्पन्न होता है। मदरास के बैलारी जिले, सांदूर राज्य, तथा विजगापट्टम में मैंगनीज बहुत उत्पन्न होता है।

उड़ीसा में गंगपुर राज्य तथा सिंगभूम में मुख्यतः मैंगनीज उत्पन्न होता है (८०,००० टन वार्षिक)। बम्बई प्रान्त में पंचमहल, छोटा उदयपुर तथा रत्नागिरी जिलों में मैंगनीज निकाला जाता है। मैसूर में चितलदुर्ग, कादूर, शिमोगा तथा तमकुर जिलों में मैंगनीज निकाला जाता है। मध्यभारत के झाबुआ राज्य में भी मैंगनीज पाया जाता है।

भारतवर्ष में जितना मैंगनीज उत्पन्न होता है उसका केवल दस प्रतिशत लोहे के कारखानों में काम आता है, शेष विदेशों को भेज दिया जाता है। पाकिस्तान में मैंगनीज तनिक भी नहीं मिलता।

अंबरख (Mica): बिजली के धन्धे का संसार में अधिक प्रसार होने के

कारण अवरख का विशेष महत्व हो गया है। विना अवरख के विजली का यह विस्तार असम्भव था। संसार में भारतवर्ष सब से अधिक अवरख उत्पन्न करता है। अवरख उत्पन्न करने वाले तीन क्षेत्र हैं—(१) विहार का क्षेत्र जो कि मुख्यतः हजारीबाग, गया, मुंगेर तथा मानभूम में १४ मील चौड़ा तथा ६० मील लम्बा है, सबसे महत्वपूर्ण है; (२) मदरास प्रान्त में नेलौर तथा नीलगिरी जिलों का क्षेत्र; (३) अजमेर मेरवाड़ा, जयपुर, मेवाड़, तथा दक्षिण राजपूताने के राज्य। ट्रावनकोर राज्य में भी अवरख पाया जाता है।

जितना अवरख देश में उत्पन्न होता है उसका ८० प्रतिशत विहार में उत्पन्न होता है। विहार के उपरान्त मदरास का नेलौर जिला दूसरा मुख्य अवरख उत्पन्न करने वाला क्षेत्र है। मेवाड़ राज्य तथा दक्षिण राजपूताने के राज्य अवरख की दृष्टि से वहुत धनी हैं, परन्तु वहाँ अभी खानों की खुदाई आरम्भ ही हुई है।

भारत में अवरख की खपत बहुत कम है, इस कारण अधिकांश अबरख विदेशों को जाता है। भारतवर्ष संसार की कुल उत्पत्ति का ७५ प्रतिशत अवरख उत्पन्न करता है। विजली के यन्त्र बनाने के लिए तथा विजली के विस्तार के लिए अवरख नितान्त आवश्यक है। अस्तु; जैसे-जैसे विजली का धन्धा देश में उन्नति करेगा वैसे-वैसे देश में अबरख की खपत वढ़ती जावेगी। पाकिस्तान में अबरख भी नहीं मिलता।

ताँबा : ताँबा उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का तेरहवाँ स्थान है। भारत में प्रतिवर्ष १२,००० टन ताँबा उत्पन्न होता है। ताँबा अधिकतर विहार के सिंगभूम तथा मदरास के नेलौर जिलों में निकाला जाता है। सिंगभूम जिले में ८० मील तक ताँबे की एक लम्बी पट्टी वाला क्षेत्र फैला हुआ है जिसमें मोसाबानी, घाटशिला तथा धोवानी की खानें भारत का अधिकांश ताँबा उत्पन्न करती हैं। पाकिस्तान में ताँबा तनिक भी नहीं मिलता।

इस क्षेत्र के अतिरिक्त हजारीबाग, मध्यभारत तथा मैसूर में भी ताँबा पाया जाता है। बाहरी हिमालय के साथ-साथ ताँबे की पट्टी वाला क्षेत्र फैला हुआ है। कुलू, काँगरा, नेपाल, भूटान तथा सिक्किम में तांबा पाया जाता है किन्तु निकाला नहीं जाता।

सोना : भारतवर्ष में संसार की कुल उत्पत्ति का केवल २ प्रतिशत सोना उत्पन्न होता है। भारतवर्ष में सोना मुख्यतः मैसूर, हैदराबाद तथा मदरास में पाया जाता है। यों थोड़ा-सा सोना पंजाब, उड़ीसा और विहार में भी पाया जाता है परन्तु देश में निकलने वाले सोने का ९९ प्रतिशत सोना मैसूर की कोलार की खानों से निकलता है। [illegible] ने नि[illegible] की राशि कम होती जा रही है।

यद्यपि [illegible] पाया जाता है, किन्तु निकाला नहीं

जाता। कुछ समय पूर्व हैदराबाद की हुट्टी की सोने की खानों तथा धारवार की खानों से सोना निकलता था, किन्तु अब यह खानें समाप्त हो गई हैं। कुछ स्थानों पर नदियों के रेत में सोना निकलता है। इनमें उड़ीसा का सिंगभूम; पंजाब में अटक, अम्बाला और झेलम; उत्तर प्रदेश का बिजनौर का जिला तथा काश्मीर में गिलगिट का सिंध नदी का क्षेत्र है। किन्तु इन क्षेत्रों से जो सोना प्राप्त होता है वह नाममात्र को ही प्राप्त होता है। अस्तु, सोने की दृष्टि से भी पाकिस्तान प्रायः अत्यन्त निर्धन है।

बाक्साइट (Bauxite) : बाक्साइट अलूमीनियम के धंधे के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारत में यथेष्ट बाक्साइट मिलता है। मध्यप्रदेश में बालाघाट, और कटनी ज़िलों में बाक्साइट बहुत अधिक पाया जाता है। इनके अतिरिक्त सारगुजा राज्य (मध्यप्रान्त), छोटा नागपुर, बिहार, उड़ीसा, भूपाल, रींवा राज्य (मध्य भारत), बम्बई के सतारा और कैरा ज़िलों, मैसूर और काश्मीर में भी बाक्साइट बहुत पाया जाता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि अलूमीनियम का धन्धा तभी भली भाँति पनप सकता है जब कि सस्ती जल-विद्युत् उपलब्ध हो। पाकिस्तान में बाक्साइट भी नहीं पाया जाता।

क्रोमियम (Chromium) : क्रोमियम का उपयोग विशेषतः स्टील बनाने में होता है। यह धातु तीन स्थानों में पाई जाती है। मैसूर, बिहार, तथा उड़ीसा के सिंगभूम जिले में क्रोमियम यथेष्ट मिलता है। भारत संसार में क्रोमियम उत्पन्न करने वाले देशों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अधिकतर यह धातु विदेशों को भेजी जाती है।

सीसा और जस्ता : भारत में सीसा और जस्ता केवल उदयपुर के समीप जावर की खानों से निकाला जाता है। यों सीसा मदरास, हिमालय, राजस्थान, तथा बिहार के मानभूमि तथा हजारीबाग जिलों में पाया जाता है। किन्तु इन स्थानो से सीसा अभी निकाला नहीं ज़ाता है।

नमक : नमक मनुष्य के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता का पदार्थ है। सम्मिलित भारत में नमक तीन प्रकार से उत्पन्न किया जाता था—(१) समुद्र के जल से (२) नमक की झीलों से (३) पहाड़ो से। देश में जितना भी नमक तैयार किया जाता था उसका दो तिहाई से अधिक समुद्र से प्राप्त होता था। बम्बई तथा मदरास तट के समीप समुद्र के जल से नमक बनाने के कारखाने हैं। खम्भात की खाड़ी के तट पर धरसना और चहारबाद तथा कठियावाड़ में ओखा के पास बहुत अधिक राशि में नमक उत्पन्न किया जाता है। उधर की ओर बहुत से नमक-कूप हैं जिनसे नमक उत्पन्न किया जाता है। कच्छ की खाड़ी से भी बहुत-सा नमक मिलता है। इधर समुद्र-जल में नमक इतना अधिक है कि सूर्य की गरमी से ही पानी भाप

कारण अबरख का विशेष महत्व हो गया है। बिना अबरख के बिजली का यह विस्तार असम्भव था। संसार में भारतवर्ष सब से अधिक अबरख उत्पन्न करता है। अबरख उत्पन्न करने वाले तीन क्षेत्र हैं—(१) बिहार का क्षेत्र जो कि मुख्यतः हजारीबाग, गया, मुंगेर तथा मानभूम में १४ मील चौड़ा तथा ६० मील लम्बा है, सबसे महत्वपूर्ण है; (२) मदरास प्रान्त में नेलौर तथा नीलगिरी जिलों का क्षेत्र; (३) अजमेर मेरवाड़ा, जयपुर, मेवाड़, तथा दक्षिण राजपूताने के राज्य। ट्रावनकोर राज्य में भी अबरख पाया जाता है।

जितना अबरख देश में उत्पन्न होता है उसका ८० प्रतिशत बिहार में उत्पन्न होता है। बिहार के उपरान्त मदरास का नेलौर जिला दूसरा मुख्य अबरख उत्पन्न करने वाला क्षेत्र है। मेवाड़ राज्य तथा दक्षिण राजपूताने के राज्य अबरख की दृष्टि से बहुत धनी हैं, परन्तु वहाँ अभी खानों की खुदाई आरम्भ ही हुई है।

भारत में अबरख की खपत बहुत कम है, इस कारण अधिकांश अबरख विदेशों को जाता है। भारतवर्ष संसार की कुल उत्पत्ति का ७५ प्रतिशत अबरख-उत्पन्न करता है। बिजली के यन्त्र बनाने के लिए तथा बिजली के विस्तार के लिए अबरख नितान्त आवश्यक है। अस्तु; जैसे-जैसे बिजली का धन्धा देश में उन्नति करेगा वैसे-वैसे देश में अबरख की खपत बढ़ती जावेगी। पाकिस्तान में अबरख भी नहीं मिलता।

ताँबा : ताँबा उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का तेरहवाँ स्थान है। भारत में प्रतिवर्ष १२,००० टन ताँबा उत्पन्न होता है। ताँबा अधिकतर बिहार के सिंगभूम तथा मदरास के नेलौर जिलों में निकाला जाता है। सिंगभूम जिले में ८० मील तक ताँबे की एक लम्बी पट्टी वाला क्षेत्र फैला हुआ है जिसमें मोसाबानी, घाटशिला तथा धोबानी की खानें भारत का अधिकांश ताँबा उत्पन्न करती हैं। पाकिस्तान में ताँबा तनिक भी नहीं मिलता।

इस क्षेत्र के अतिरिक्त हजारीबाग, मध्यभारत तथा मैसूर में भी ताँबा पाया जाता है। बाहरी हिमालय के साथ-साथ ताँबे की पट्टी वाला क्षेत्र फैला हुआ है। कुलू काँगरा, नैपाल, भूटान तथा सिक्किम में तांबा पाया जाता है किन्तु निकाला नहीं जाता।

सोना : भारतवर्ष में संसार की कुल उत्पत्ति का केवल २ प्रतिशत सोना उत्पन्न होता है। भारतवर्ष में सोना मुख्यतः मैसूर, हैदराबाद तथा मदरास में पाया जाता है। यों थोड़ा-सा सोना पंजाब, उड़ीसा और बिहार में भी पाया जाता है परन्तु देश में निकलने वाले सोने का ९९ प्रतिशत सोना मैसूर की कोलार की खानों से निकलता है। किन्तु इस खान से निकलने वाले सोने की राशि कम होती जा रही है।

यद्यपि मदरास के अनन्तपुर जिले में सोना पाया जाता है, किन्तु निकाला नहीं

जाता। कुछ समय पूर्व हैदराबाद की हुट्टी की सोने की खानों तथा धारवार की खानों से सोना निकलता था, किन्तु अब यह खानें समाप्त हो गईं हैं। कुछ स्थानों पर नदियों के रेत में सोना निकलता है। इनमें उड़ीसा का सिंगभूम; पंजाब में अटक, अम्बाला और झेलम; उत्तर प्रदेश का बिजनौर का जिला तथा काश्मीर में गिलगिट का सिंध नदी का क्षेत्र है। किन्तु इन क्षेत्रों से जो सोना प्राप्त होता है वह नाममात्र को ही प्राप्त होता है। अस्तु, सोने की दृष्टि से भी पाकिस्तान प्रायः अत्यन्त निर्धन है।

बाक्साइट (Bauxite) : बाक्साइट अलूमीनियम के धंधे के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारत में यथेष्ट बाक्साइट मिलता है। मध्यप्रदेश में बालाघाट, और कटनी ज़िलों में बाक्साइट बहुत अधिक पाया जाता है। इनके अतिरिक्त सारगुजा राज्य (मध्यप्रान्त), छोटा नागपुर, बिहार, उड़ीसा, भूपाल, रीवा राज्य (मध्य भारत), बम्बई के सतारा और कैरा ज़िलों, मैसूर और काश्मीर में भी बाक्साइट बहुत पाया जाता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि अलूमीनियम का धन्धा तभी भली भाँति पनप सकता है जब कि सस्ती जल-विद्युत् उपलब्ध हो। पाकिस्तान में बाक्साइट भी नहीं पाया जाता।

क्रोमियम (Chromium) : क्रोमियम का उपयोग विशेषतः स्टील बनाने में होता है। यह धातु तीन स्थानों में पाई जाती है। मैसूर, बिहार, तथा उड़ीसा के सिंगभूम जिले में क्रोमियम यथेष्ट मिलता है। भारत संसार में क्रोमियम उत्पन्न करने वाले देशों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अधिकतर यह धातु विदेशों को भेजी जाती है।

सीसा और जस्ता : भारत में सीसा और जस्ता केवल उदयपुर के समीप जावर की खानों से निकाला जाता है। यों सीसा मदरास, हिमालय, राजस्थान, तथा बिहार के मानभूमि तथा हजारीबाग जिलों में पाया जाता है। किन्तु इन स्थानों से सीसा अभी निकाला नहीं जाता है।

नमक : नमक मनुष्य के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता का पदार्थ है। सम्मिलित भारत में नमक तीन प्रकार से उत्पन्न किया जाता था—(१) समुद्र के जल से (२) नमक की झीलों से (३) पहाड़ों से। देश में जितना भी नमक तैयार किया जाता था उसका दो तिहाई से अधिक समुद्र से प्राप्त होता था। बम्बई तथा मदरास तट के समीप समुद्र के जल से नमक बनाने के कारखाने हैं। खम्भात की खाड़ी के तट पर धरसना और चहारबाद तथा कठियावाड़ में ओखा के पास बहुत अधिक राशि में नमक उत्पन्न किया जाता है। उधर की ओर बहुत से नमक-कूप हैं जिनसे नमक उत्पन्न किया जाता है। कच्छ की खाड़ी से भी बहुत-सा नमक मिलता है। इधर समुद्र-जल में नमक इतना अधिक है कि सूर्य की गरमी से ही पानी भाप

बनकर उड़ जाता है और नमक तैयार हो जाता है। पाकिस्तान में भी मुईरपुर में एक फैक्टरी नमक बनाने की है। यह स्थान करांची के निकट है।

मदरास-तट पर गंजाम से लेकर तूतीकोरन तक नमक की फैक्टरियाँ स्थित जहाँ समुद्र-जल से नमक बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त मलाबार के उदीपी ज़िले में भी नमक बनाया जाता है।

समुद्र-जल के अतिरिक्त राजपूताने की सांभर तथा डींडवाना झीलें भी नमक प्राप्त करने के मुख्य साधन हैं। सांभर झील का क्षेत्रफल ६० वर्गमील है और उससे प्रतिवर्ष २,५०,००० टन नमक निकाला जाता है।

पहाड़ों से निकलने वाला नमक पंजाब में निकाला जाता था। खेरवा की नमक की पहाड़ियाँ पश्चिमीय पंजाब में हैं। कोहाट में भी चट्टानों से नमक निकाला जाता है। यह स्थान सीमाप्रान्त में है। इसके अतिरिक्त मंडी राज्य (पंजाब) में भी पहाड़ी नमक निकलता है। पहाड़ी नमक के स्थान पाकिस्तान में चले गये हैं।

भारतवर्ष में जितना नमक खपता है उसका तीन चौथाई देश में निकाला जाता है।

नीलाथोथा (Salt Petre): औद्योगिक दृष्टि से नीलाथोथा एक महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ है। यह उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में निकाला जाता है। सबसे अधिक नीलाथोथा उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले से निकलता है। अधिकांश नीलाथोथा विदेशों को भेजा जाता है, केवल थोड़ा-सा नीलाथोथा आसाम के चाय के बागों में काम आता है।

रासायनिक पदार्थ

गंधक: गंधक अत्यन्त महत्वपूर्ण रासायनिक पदार्थ है। भारतवर्ष प्रतिवर्ष २७,००० टन गंधक विदेशों से मंगाता है। जो कुछ भी इस सम्बन्ध में जांच हुई है उससे यह पता चलता है कि भारत के बहुत से भागों में गंधक मिलता है। शिमला के पास गंधक बहुत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त गंधक जिपसम तथा तांबे से भी निकाला जा सकता है। सोडियम सलफेट से भी गंधक निकाला जा सकता है। उत्तर प्रदेश की रेहो 'ऊसर' भूमि तथा बिहार प्रान्त की 'खारी' भूमि से सोडियम सलफेट निकाला जा सकता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यदि प्रयत्न किया जावे तो ८ लाख मन सोडियम सल्फेट प्रतिवर्ष निकाला जा सकता है।

फास्फेट: मदरास के त्रिचनापली ज़िले तथा बिहार में फास्फेट बहुत अधिक राशि में मिलता है। त्रिचनापली से ७० लाख टन फास्फेट निकाला जा सकता है। भारत की मिट्टी में फास्फेट की कमी है। हड्डियों से भी खाद के रूप में फास्फेट प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु प्रतिवर्ष हम हड्डियों को विदेशों में भेज देते हैं।

बनकर उड़ जाता है और नमक तैयार हो जाता है। पाकिस्तान में भी मुईरपुर में एक फैक्टरी नमक बनाने की है। यह स्थान करांची के निकट है।

मदरास-तट पर गंजाम से लेकर तूतीकोरन तक नमक की फैक्टरियाँ स्थित हैं जहाँ समुद्र-जल से नमक बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त मलाबार के उदीपी ज़िले में भी नमक बनाया जाता है।

समुद्र-जल के अतिरिक्त राजपूताने की सांभर तथा डींडवाना झीलें भी नमक प्राप्त करने के मुख्य साधन हैं। सांभर झील का क्षेत्रफल ९० वर्गमील है और उससे प्रतिवर्ष २,५०,००० टन नमक निकाला जाता है।

पहाड़ों से निकलने वाला नमक पंजाब में निकाला जाता था। खेरवा की नमक की पहाड़ियाँ पश्चिमीय पंजाब में हैं। कोहाट में भी चट्टानों से नमक निकाला जाता है। यह स्थान सीमाप्रान्त में है। इसके अतिरिक्त मंडी राज्य (पंजाब) में भी पहाड़ी नमक निकलता है। पहाड़ी नमक के स्थान पाकिस्तान में चले गये हैं।

भारतवर्ष में जितना नमक खपता है उसका तीन चौथाई देश में निकाला जाता है।

नीलाथोथा (Salt Petre) : औद्योगिक दृष्टि से नीलाथोथा एक महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ है। यह उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में निकाला जाता है। सबसे अधिक नीलाथोथा उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले से निकलता है। अधिकांश नीलाथोथा विदेशों को भेजा जाता है, केवल थोड़ा-सा नीलाथोथा आसाम के चाय के बागों में काम आता है।

रासायनिक पदार्थ

गंधक : गंधक अत्यन्त महत्वपूर्ण रासायनिक पदार्थ है। भारतवर्ष प्रतिवर्ष २०,००० टन गंधक विदेशों से मंगाता है। जो कुछ भी इस सम्बन्ध में जांच हुई है उससे यह पता चलता है कि भारत के बहुत से भागों में गंधक मिलता है। शिमला के पास गंधक बहुत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त गंधक जिपसम तथा तांबे से भी निकाला जा सकता है। सोडियम सलफेट से भी गंधक निकाला जा सकता है। उत्तर प्रदेश की रेही 'ऊसर' भूमि तथा बिहार प्रान्त की 'खारी' भूमि से सोडियम सलफेट निकाला जा सकता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यदि प्रयत्न किया जावे तो ८ लाख मन सोडियम सल्फेट प्रतिवर्ष निकाला जा सकता है।

फास्फेट : मदरास के त्रिचनापल्ली ज़िले तथा बिहार में फास्फेट बहुत अधिक राशि में मिलता है। त्रिचनापल्ली से ७० लाख टन फास्फेट निकाला जा सकता है। भारत की मिट्टी में फास्फेट की कमी है। हड्डियों से भी खाद के रूप में फास्फेट प्रा[illegible] सकता है, किन्तु प्रतिवर्ष हम हड्डियों को विदेशों में भेज देते हैं।

क्षार (Alkali) : भारतवर्ष में प्रतिवर्ष बहुत-सा कास्टिक सोडा, सोडियम कारबोनेट विदेशों से मंगाया जाता है। भारतवर्ष में 'रेह' तथा 'कालार' जो उत्तर प्रदेश तथा पंजाब की ऊसर भूमि पर मिलता है उससे सोडियम कारबोनेट निकाला जा सकता है। पंजाब में सोडियम सलफेट भी बहुत मिलता है। उत्तर प्रदेश में प्रतिवर्ष ७० लाख टन सोडा निकाला जा सकता है। डाक्टर भटनागर ने लुकसर रेलवे स्टेशन के समीप ऐसी भूमि पाई है जिसमें ८ से ११ प्रतिशत तक सोडियम कारबोनेट पाया जाता है।

क्रोमाइट (Chromite) : क्रोमाइट ईंटें बनाने के काम आता है। इसी से क्रोमियम नमक निकलता है जो चमड़ा कमाने तथा रंगने के काम आता है। मैसूर सबसे अधिक क्रोमाइट (भारत का ६५ प्रतिशत) उत्पन्न करता है। शिमगोआ और हासान दो मुख्य स्थान हैं जहां से यह निकलता है। इसके उपरान्त उड़ीसा का सिंगभूम का जिला मुख्य है जहाँ से भारत की उत्पत्ति का एक तिहाई क्रोमाइट उत्पन्न होता है। पाकिस्तान में केवल बलूचिस्तान में क्रोमाइट निकलता है। इन स्थानों के अतिरिक्त बिहार के भागलपुर तथा राञ्ची जिलों में भी क्रोमाइट निकाला जाता है। जितना क्रोमाइट देश में निकलता है सारा का सारा विदेशों को भेज दिया जाता है।

ऐण्टीमनी (Antimony) : यह नरम धातुओं के साथ मिलाने के काम में आता है। यद्यपि इस समय भारत में ऐण्टीमनी निकाला नहीं जाता, किन्तु भावी सम्भावनाएँ बहुत हैं। पंजाब के लाहोल प्रदेश में शिरगी ग्लेशियर के समीप ऐण्टीमनी बहुत पाया जाता है किन्तु वहाँ की भयङ्कर ठण्डक के कारण उसको निकालना बहुत कठिन है। मैसूर राज्य के चीतल दुर्ग जिले में काफी ऐण्टीमनी पाया जाता है।

चाँदी : भारत में चाँदी का बहुत उपयोग होता है। परन्तु भारत चाँदी की दृष्टि से अत्यन्त निर्धन है। जो कुछ भी चाँदी, जस्ता और सीसा भारतवर्ष में मिलता था, वह बर्मा से निकाला जाता था। बर्मा के भारत से पृथक हो जाने के उपरान्त इन धातुओं की दृष्टि से भारत अत्यन्त निर्धन हो गया। थोड़ी सी चाँदी मैसूर की कोलार खानों से तथा बिहार के मानभूम जिले से निकाली जाती है। मेवाड़ (राजपूताने) की जावर की खानों में कुछ चाँदी मिलती है।

हीरा : यद्यपि हीरे का धंधा भारतवर्ष में अत्यन्त पुराना है परन्तु भारत में हीरा बहुत कम निकलता है। हीरा अनंतपुर, बैलारी, कृष्णा, गण्टूर तथा मदरास के गोदावरी डिवीजन में निकलता है। उड़ीसा के सम्भलपुर जिले, मध्यप्रदेश के चान्दा जिले, बुंदेलखण्ड तथा मध्यभारत में भी हीरा पाया जाता है।

इमारती पत्थर : भारतवर्ष की सभी प्रसिद्ध इमारतें पत्थर की बनी हुई हैं।

बनकर उड़ जाता है और नमक तैयार हो जाता है। पाकिस्तान में भी मुईरपुर में एक फैक्टरी नमक बनाने की है। यह स्थान करांची के निकट है।

मदरास-तट पर गंजाम से लेकर तूतीकोरन तक नमक की फैक्टरियाँ स्थित हैं जहाँ समुद्र-जल से नमक बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त मलाबार के उदीपी ज़िले में भी नमक बनाया जाता है।

समुद्र-जल के अतिरिक्त राजपूताने की सांभर तथा डींडवाना झीलें भी नमक प्राप्त करने के मुख्य साधन हैं। सांभर झील का क्षेत्रफल ९० वर्गमील है और उससे प्रतिवर्ष २,५०,००० टन नमक निकाला जाता है।

पहाड़ों से निकलने वाला नमक पंजाब में निकाला जाता था। खेरवा की नमक की पहाड़ियाँ पश्चिमीय पंजाब में हैं। कोहाट में भी चट्टानों से नमक निकाला जाता है। यह स्थान सीमाप्रान्त में है। इसके अतिरिक्त मंडी राज्य (पंजाब) में भी पहाड़ी नमक निकलता है। पहाड़ी नमक के स्थान पाकिस्तान में चले गये हैं।

भारतवर्ष में जितना नमक खपता है उसका तीन चौथाई देश में निकाला जाता है।

नीलाथोथा (Salt Petre) : औद्योगिक दृष्टि से नीलाथोथा एक महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ है। यह उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में निकाला जाता है। सबसे अधिक नीलाथोथा उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले से निकलता है। अधिकांश नीलाथोथा विदेशों को भेजा जाता है, केवल थोड़ा-सा नीलाथोथा आसाम के चाय के बागों में काम आता है।

रासायनिक पदार्थ

गंधक : गंधक अत्यन्त महत्वपूर्ण रासायनिक पदार्थ है। भारतवर्ष प्रतिवर्ष २७,००० टन गंधक विदेशों से मंगाता है। जो कुछ भी इस सम्बन्ध में जांच हुई है उससे यह पता चलता है कि भारत के बहुत से भागों में गंधक मिलता है। शिमला के पास गंधक बहुत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त गंधक जिपसम तथा तांबे से भी निकाला जा सकता है। सोडियम सलफेट से भी गंधक निकाला जा सकता है। उत्तर प्रदेश की रेहो 'ऊसर' भूमि तथा बिहार प्रान्त की 'खारी' भूमि से सोडियम सलफेट निकाला जा सकता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यदि प्रयत्न किया जावे तो ८ लाख मन सोडियम सल्फेट प्रतिवर्ष निकाला जा सकता है।

फास्फेट : मदरास के त्रिचनापली ज़िले तथा बिहार में फास्फेट बहुत अधिक राशि में मिलता है। त्रिचनापली से ७० लाख टन फास्फेट निकाला जा सकता है। भारत की मिट्टी में फास्फेट की कमी है। हड्डियों से भी खाद के रूप में फास्फेट प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु प्रतिवर्ष हम हड्डियों को विदेशों में भेज देते हैं।

क्षार (Alkali) : भारतवर्ष में प्रतिवर्ष बहुत-सा कास्टिक सोडा, सोडियम कारबोनेट विदेशों से मंगाया जाता है। भारतवर्ष में 'रेह' तथा 'कालार' जो उत्तर प्रदेश तथा पंजाब की ऊसर भूमि पर मिलता है उससे सोडियम कारबोनेट निकाला जा सकता है। पंजाब में सोडियम सलेफेट भी बहुत मिलता है। उत्तर प्रदेश में प्रतिवर्ष ७० लाख टन सोडा निकाला जा सकता है। डाक्टर भटनागर ने लुकसर रेलवे स्टेशन के समीप ऐसी भूमि पाई है जिसमें ८ से ११ प्रतिशत तक सोडियम कारबोनेट पाया जाता है।

क्रोमाइट (Chromite) : क्रोमाइट ईंटें बनाने के काम आता है। इसी से क्रोमियम नमक निकलता है जो चमड़ा कमाने तथा रंगने के काम आता है। मैसूर सबसे अधिक क्रोमाइट (भारत का ६५ प्रतिशत) उत्पन्न करता है। शिमगोआ और हासान दो मुख्य स्थान हैं जहां से यह निकलता है। इसके उपरान्त उड़ीसा का सिंगभूम का जिला मुख्य है, जहाँ से भारत की उत्पत्ति का एक तिहाई क्रोमाइट उत्पन्न होता है। पाकिस्तान में केवल बलूचिस्तान में क्रोमाइट निकलता है। इन स्थानों के अतिरिक्त बिहार के भागलपुर तथा राञ्ची जिलों में भी क्रोमाइट निकाला जाता है। जितना क्रोमाइट देश में निकलता है सारा का सारा विदेशों को भेज दिया जाता है।

ऐण्टीमनी (Antimony) : यह नरम धातुओं के साथ मिलाने के काम में आता है। यद्यपि इस समय भारत में ऐण्टीमनी निकाला नहीं जाता, किन्तु भावी सम्भावनाएँ बहुत हैं। पंजाब के लाहौल प्रदेश में शिरगी ग्लेशियर के समीप ऐण्टीमनी बहुत पाया जाता है किन्तु वहाँ की भयङ्कर ठण्डक के कारण उसको निकालना बहुत कठिन है। मैसूर राज्य के चीतल दुर्ग जिले में काफी ऐण्टीमनी पाया जाता है।

चाँदी : भारत में चाँदी का बहुत उपयोग होता है। परन्तु भारत चाँदी की दृष्टि से अत्यन्त निर्धन है। जो कुछ भी चाँदी, जस्ता और सीसा भारतवर्ष में मिलता था, वह बर्मा से निकाला जाता था। बर्मा के भारत से पृथक हो जाने के उपरान्त इन धातुओं की दृष्टि से भारत अत्यन्त निर्धन हो गया। थोड़ी सी चाँदी मैसूर की कोलार खानों से तथा बिहार के मानभूम जिले से निकाली जाती है। मेवाड़ (राजपूताने) की जावर की खानों में कुछ चाँदी मिलती है।

हीरा : यद्यपि हीरे का धंधा भारतवर्ष में अत्यन्त पुराना है परन्तु भारत में हीरा बहुत कम निकलता है। हीरा अनंतपुर, बेलारी, कृष्णा, गण्टूर तथा मदरास के गोदावरी डिवीजन में निकलता है। उड़ीसा के सम्भलपुर जिले, मध्यप्रदेश के चान्दा जिले, बुंदेलखण्ड तथा मध्यभारत में भी हीरा पाया जाता है।

इमारती पत्थर : भारतवर्ष की सभी प्रसिद्ध इमारतें पत्थर की बनी हुई हैं।

जो भी भारत की मूर्ति कला के उच्च नमूने हैं वे भी सब पत्थर के हैं। आबू के प्रसिद्ध दिलवारा मंदिर में विंध्य पर्वतमाला का पत्थर लगा है। देहली, आगरा, उदयपुर, आमेर, डीग, ग्वालियर, जैसलमेर तथा जोधपुर में जो भव्य महल हैं वे सभी विंध्य पर्वतमाला के पत्थरों से बने हैं। विंध्य पर्वतमाला का प्रदेश ही भारत में इमारती पत्थर का मुख्य स्रोत है। और यह प्रदेश समस्त राजपूताना तथा मध्यभारत में फैला हुआ है। दक्षिण भारत में मदरास की बहुत सी आग्नेय चट्टानों तथा मैसूर और उत्तरी आरकट में ग्रैनाइट पत्थर इमारत के काम आता है। बम्बई, हैदराबाद और मध्यप्रदेश में बैसल निकलता है। मध्यप्रदेश के कुछ भाग में विंध्य प्रदेश का पत्थर काम में आता है।

संगमरमर पत्थर : विंध्य पर्वतमाला में संगमरमर बहुत पाया जाता है और इमारती पत्थरों में सर्वश्रेष्ठ है। जबलपुर, बैतूल, नागपुर, छिंदवाड़ा (मध्यप्रदेश) जोधपुर, किशनगढ़ तथा अजमेर (राजपूताना) का संगमरमर भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। जोधपुर की मकराना की खान से ही आगरा के ताजमहल और कलकत्ता के विक्टोरिया मैमोरियल के लिए संगमरमर निकाला गया। इनके अतिरिक्त जैसलमेर, मेवाड़ और जयपुर राज्यों में भी बढ़िया सफेद, पीला तथा काला संगमरमर निकलता है। पञ्जाब, उत्तरप्रदेश तथा बिहार के हिमालय प्रदेश से स्लेट निकलता है।

भारत में इमारती पत्थर इतना बढ़िया होने पर भी भारत को बाहर से इमारती पत्थर विशेष कर इटली का संगमरमर मँगवाना पड़ता है। इसका कारण यह है कि यातायात की असुविधाएँ बहुत हैं और भाड़ा बहुत लग जाता है।

शीशा बनाने वाले पदार्थ : शीशा बनाने के लिए बढ़िया रेत अत्यन्त आवश्यक है। शीशा बनाने के लिए उपयोगी रेत राजमहल पहाड़ियों में, मङ्गलहाट तथा पतराघाट में, लोधरा और बारगढ़ (इलाहाबाद) में, साऊरवादा और पिधमली नदी बड़ौदा में; जबलपुर में तथा अन्य स्थानों पर मिलता है। रेत के अतिरिक्त सोडा और चूने की भी शीशा बनाने में आवश्यकता पड़ती है।

सीमेंट बनाने वाले पदार्थ : भारतवर्ष में चूने का पत्थर जो कि सीमेंट बनाने के उपयोग में आता है बहुत मिलता है। कुछ चूने के पत्थरों में जिपसम तथ चीका मिट्टी भी मिलानी पड़ती है। यह सब पदार्थ यहाँ यथेष्ट राशि में मिलते हैं। यह कटनी (मध्यप्रदेश), द्वारका (काठियावाड़), जायला (डाल्टनगंज), बनमोर (ग्वालियर) और शाहाबाद (हैदराबाद) में मिलता है। बढ़िया सीमेंट तैयार करने में अलूमीनियम भी आवश्यक होता है। भारत में सीमेंट के धन्धे का भविष्य बहुत उज्ज्वल है क्योंकि भारत में चूने का पत्थर तथा बाक्साइट बहुत मिलता है।

मिट्टी : बिहार और उड़ीसा के कोयले के क्षेत्र में फायरक्ले (Fireclay)

बहुत मिलती है। चीनी मिट्टी चीनी वर्तन बनाने के योग्य बहुत से स्थानों पर पाई जाती है। इनमें बिहार, उड़ीसा, जबलपुर (मध्यप्रदेश), मैसूर, मदरास और देहली मुख्य हैं।

सोडा : सोडा का उपयोग बहुत से धन्धों में होता है—उदाहरण के लिए साबुन तथा गैस बनाने में। सोडा चम्पारन, मुजफ्फरपुर तथा सारन राज्य (बिहार तथा उड़ीसा); बनारस, आजमगढ़, जौनपुर, गाजीपुर (उत्तर प्रदेश), बरार, खैरपुर, सिंध तथा साँभर झील के समीप सतह पर ही मिल जाता है। उसमें से अधिकांश विदेशों को भेज दिया जाता है। भारत में सोडा का धन्धा इसलिए आवश्यक है क्योंकि अन्य बहुत से धन्धे उस पर निर्भर हैं।

वोलफ्राम (Wolfram) : इससे टंग्स्टन निकलता है जो कि बढ़िया स्टील बनाने के काम आता है। जिस स्टील से मशीनें तथा टूल बनते हैं उनके बनाने में यह स्टील काम आती है। वोलफ्राम सिंगभूम जिले (उड़ीसा) में मध्यप्रदेश के अगर गाँव तथा जोधपुर राज्य के दागना स्थान पर मिलता है। किन्तु अधिक नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि पाकिस्तान में वोलफ्राम नहीं मिलता।

जिपसम (Gypsum) : यह एक प्रकार की कृत्रिम खाद बनाने तथा कागज बनाने के काम आता है। यह भारत में सीमेण्ट के धन्धे में भी बहुत कुछ काम आता है। यह बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर राज्यों में मिलता है। पाकिस्तान में झेलम, शाहपुरा और मियाँवाली जिलों में मिलता है जो पश्चिमी पञ्जाब में हैं। इसके अतिरिक्त जिपसम काश्मीर, मदरास और काठियावाड़ में भी मिलता है।

अस्बैस्टस : भारतवर्ष में अस्बैस्टस बंगलौर (मैसूर), अजमेर-मेरवाड़ा तथा मदरास के कुटाया जिले में मिलता है। यह अग्नि से न जलने वाले पदार्थों को बनाने में काम आता है।

फुलर अर्थ (Fuller Earth) : राजपूताना, मैसूर और मध्यप्रदेश में पाई जाती है।

कोबाल्ट (Cobalt) : कोबाल्ट खेतरी (जयपुर राज्य) तथा नैपाल में बहुत पाया जाता है।

ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक खनिज पदार्थों का सम्बन्ध है भारतवर्ष धनी है और पाकिस्तान अत्यन्त निर्धन है।

मछली : भारतवर्ष में मछली प्राप्त करने के तीन क्षेत्र हैं—(१) समुद्र की मछलियाँ (२) डेल्टा की मछलियाँ तथा (३) नदियों की मछलियाँ। समुद्र की मछलियाँ समुद्रतट के समीप पाँच से सात मील तक सिंध, गुजरात, कनारा, मालाबार, मनार की खाड़ी, मदरास तथा कारोमन्डल-तट पर मिलती हैं। समुद्रतट के

समीप पकड़ी जाने वाली मछलियाँ अधिकांश खाने योग्य हैं। समुद्रतट के समीप अधिकतर प्रान ज्यू फिश, सालमन, मुलेट, कैट फिश, पोम्फ्रेट, सियर, सारडिन, मैकेरेल, फ्लाइंग फिश, रेज इत्यादि पाई जाती हैं। महानदी, गंगा और ब्रह्मपुत्र के मुहाने में प्रान, काटला, कैन फिश तथा रोहू मिलते हैं। सिंध तथा गंगा नदियों में मछली मारने का धन्धा विशेष महत्व का है क्योंकि भारत में नदियों की मछलियों को खाने का अधिक चलन है।

भारत में मछलियों के धन्धे की उन्नति में एक रुकावट यह है कि भारतीय केवल कुछ ही जाति की मछलियों को खाना पसंद करते हैं। मछलियों के धन्धे को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि जिस जाति की मछलियों को आज खाने का चलन नहीं है उनके पौष्टिक तत्वों के सम्बन्ध में जनता को जानकारी कराई जावे।

मदरास का समुद्रतट भारत का सबसे अधिक महत्वपूर्ण मछली-केन्द्र है, क्योंकि वहाँ ४०,००० वर्ग मील छिछले पानी का क्षेत्र है। यहाँ बहुत से मछुए इस धन्धे को करते हैं, किन्तु उनके मछली पकड़ने के तरीके बहुत ही पुराने हैं। मछली पकड़ने की विशेष प्रकार की नावें ड्रिफ्टर तथा ट्रालर कभी काम में नहीं लाई जातीं। गंजाम, गोपालपुर, विजगापट्टम, कोकोनाडा, मसुलीपट्टम, नेलोर, मदरास, पाँडीचेरी तथा नेगापट्टम पूर्व में, तथा कालीकट और मङ्गलौर पश्चिम में मदरास के मुख्य मछली-केन्द्र हैं।

बंगाल में मछली मुख्य भोज्य पदार्थ है और प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन मछली खाता है। ढाका, राजशाही तथा अन्य जिलों में पांच लाख से अधिक व्यक्ति मछली पकड़ने के धन्धे में लगे हुए हैं। किन्तु बंगाल में अधिकतर मछलियाँ नदियों तथा तालाबों में ही पकड़ी जाती हैं। जहाँ तक समुद्र की मछलियों का प्रश्न है उनकी ओर अभी बंगाल में ध्यान नहीं दिया गया। यदि प्रयत्न किया जावे तो बंगाल की खाड़ी से बहुत अधिक राशि में बढ़िया मछलियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं।

जहाँ तक बम्बई का सम्बन्ध है वहाँ समुद्र की मछलियों को पकड़ने का ही धन्धा होता है। मछली पकड़ने की नौकाओं के लिए बम्बई में अच्छे बन्दरगाह हैं और वर्ष में सात महीने तक अच्छा मौसम रहता है। साथ ही वहाँ के मछुए कुशल और परिश्रमी हैं।

भारत में मछली के धंधे को उन्नत करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शीत भंडार (Cold Storage) की सुविधायें उपलब्ध की जावें। प्रत्येक मछली क्षेत्र की जांच की जावे और मालूम किया जावे कि कहाँ कितनी और कैसी मछली पाई जाती हैं और उसको उन्नत करने के उपाय निकाले जावें। इसके अतिरिक्त मछली पकड़ने के आधुनिक साधनों का मछुओं में प्रचार किया जावे और आधु-

निक तरीकों की शिक्षा भी दी जावे। हर्ष की बात है कि मदरास में मछली सम्बन्धी स्कूलों की स्थापना की गई है और वहाँ मछुओं को मछली पकड़ने तथा मछली सुरक्षित रखने के आधुनिक साधनों की शिक्षा दी जाती है।

भारत की प्रकृति धनी है : ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि जहाँ तक प्राकृतिक देन का सम्बन्ध है भारत की प्रकृति धनी है। किन्तु उसकी प्राकृतिक देन को देखते वह अत्यन्त निर्धन है और सम्पत्ति का उत्पादन बहुत कम होता है। कोई भी देश खनिज पदार्थों की दृष्टि से सर्वथा स्वावलम्बी नहीं होता। किन्तु इस सम्बन्ध में भारत की स्थिति युद्ध तथा शान्ति काल की दृष्टि से संतोपजनक है। जो भी खनिज पदार्थ सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं वे भारत में यथेष्ट हैं। केवल टिन, जस्ता, सीसा, निकल, ग्रैफाइट तथा पैट्रालियम की दृष्टि से भारत धनी नहीं है। किन्तु जहाँ तक मूलभूत खनिज पदार्थों का सम्बन्ध है—जैसे लोहा, मैंगनीज़, अलूमीनियम तथा क्रोमियम—भारत इन खनिज पदार्थों की दृष्टि से बहुत धनी है। अन्य खनिज पदार्थ हमारी आवश्यकताओं के लिए यथेष्ट हैं, और कुछ इतनी अधिक राशि में हैं कि हम उन्हें बाहर भेज सकते हैं। भारतवर्ष की भूमि उर्वरा है, यहाँ का जलवायु खेती के लिए उपयुक्त है और वन-सम्पत्ति तथा मछली भी यथेष्ट हैं। यद्यपि भारत में कोयला यथेष्ट नहीं है परन्तु जल-विद्युत की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। जल-विद्युत की दृष्टि से भारत धनी देश है।

हमारा हिमालय का विस्तृत प्रदेश आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसके आर्थिक विकास की अभूतपूर्व सम्भावनाएँ हैं। उत्तर के मैदानों में विभिन्न प्रकार की फसलें बहुतायत से उत्पन्न की जा सकती हैं। सारे भारत का जलवायु एक समान नहीं है, भिन्न-भिन्न भागों का जलवायु भिन्न है अतएव लगभग सभी प्रकार की पैदावार तथा उद्योग-धंधे यहाँ पनप सकते हैं।

भारत में संसार के सब देशों से अधिक पशु सम्पत्ति है और उसकी जनसंख्या भी अन्य देशों की तुलना में बहुत अधिक है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रकृति ने भारत को अपनी देन देने में कंजूसी नहीं की है। फिर भारत निर्धन क्यों है?

आज भारत की स्थिति क्या है? भारत में निर्धनता तथा भुखमरी का तांडव नृत्य हो रहा है। संसार में और कोई देश इतना निर्धन होगा इसमें सन्देह है। जिस देश को प्रकृति ने धनी बनाया है वह इतना निर्धन हो यह अत्यन्त खेद की बात है।

भारत की निर्धनता का मुख्य कारण यह है कि भारतीय अपने देश की प्राकृतिक देन का पूरा उपयोग न कर सके। भारतीयों के द्वारा देश की प्राकृतिक देन का पूरा-पूरा उपयोग न किए जा सकने का मुख्य कारण देश की राजनैतिक दासता थी। उसी कारण भारत आर्थिक उन्नति न कर सका। सच तो यह है कि हम भारत-

वासी अपने प्राकृतिक साधनों का घोर अपव्यय कर रहे हैं। उदाहरण के लिए बहुत सी भूमि जिस पर खेती की जा सकती है बेकार पड़ी है, भूमि का कटाव के कारण विनाश होता जा रहा है, भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी होने के कारण उस पर वैज्ञानिक खेती नहीं हो सकती। वर्षा के जल का हम सिंचाई के लिए अधिकतम उपयोग नहीं करते। जितनी जल-विद्युत हम उत्पन्न कर सकते हैं उसकी केवल दो प्रतिशत जल-विद्युत उत्पन्न की जा रही है। हमारी खनिज सम्पत्ति का व्यक्तिगत खानों के स्वामियों द्वारा घोर विनाश हो रहा है। जिस अवैज्ञानिक ढंग से हमारे खनिज पदार्थ निकाले जा रहे हैं उसके कारण बहुत सी खनिज सम्पत्ति खानों में ही रह कर नष्ट हो रही है। पूँजीपति केवल लाभ को दृष्टि में रख कर ही खानों का धंधा करता है। राष्ट्र के हितों की वह तनिक भी चिन्ता नहीं करता। हमारे वनों में हम अपनी वनसम्पत्ति की केवल एक चौथियाई का उपयोग कर रहे हैं, शेष व्यर्थ नष्ट हो जाती है। लगभग दो तिहाई मछलियाँ प्रत्येक वर्ष नष्ट हो जाती है जिनका हम उपयोग नहीं कर पाते। कुछ विद्वानों का मत है कि भारतवासी अपनी प्राकृतिक देन की ७५ प्रतिशत नष्ट कर देते हैं और केवल २५ प्रतिशत का उपयोग करते हैं।

हमारे देश में केवल प्राकृतिक देन का अपव्यय या विनाश होता हो, केवल यही बात नहीं है वरन श्रम अर्थात मानवीय शक्ति का अपव्यय और विनाश भी बहुत होता है। भारत में फैले हुए बहुसंख्यक रोग और उनसे होने वाली स्वास्थ्य-हानि तथा बढ़ी हुई मृत्यु संख्या श्रम के विनाश का मुख्य कारण है। जो जन संख्या बचती है वह अशिक्षित होने के कारण उत्पादन कार्य भली भांति नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त बेकारी तथा अर्द्धबेकारी के कारण भी इस देश में श्रम का बहुत विनाश होता है।

हम अपनी सीमित पूँजी का भी पूरा उपयोग नहीं कर पाते और उसका भी अपव्यय होता है। अनुत्पादक कार्यों में पूँजी लगाना, पूँजी का गतिशील न होना तथा देश की पूँजी का पूरा-पूरा उपयोग न होना ही पूँजी के अपव्यय का प्रधान कारण है। डाक्टर रजनीकान्त दास का अनुमान है कि हम अपनी पूँजी की दो तिहाई व्यर्थ में खोदेते हैं।

अस्तु, भारत में आज उत्पादन के साधनों—भूमि, श्रम और पूँजी—का घोर अपव्यय हो रहा है। डाक्टर रजनीकान्त दास का अनुमान है कि हम अपने उत्पत्ति के साधनों का ६९ प्रतिशत नष्ट कर देते हैं। संक्षेप में राष्ट्र की जितनी उत्पादन शक्ति है उसकी केवल एक तिहाई से कम उत्पादन शक्ति का उपयोग किया जा रहा है। ऐसी दशा में यदि भारत निर्धन है तो किसी को आश्चर्य क्यों होना चाहिए।

अब देश स्वतन्त्र हो गया है अतः अब भारत अपनी आर्थिक उन्नति कर सकेगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। अभी हाल में भारत सरकार ने पंचवर्षीय

आर्थिक योजना को स्वीकार किया है और उसके अनुसार हम अपने देश के आर्थिक निर्माण का कार्य करेंगे।

अभी तो भारत के लिए यह कहावत चरितार्थ होती है कि "भारत एक धनी देश है जिसमें निर्धन मनुष्य निवास करते हैं।"

करना होगा जो उसके कार्यों पर प्रभाव डालती हैं। उदाहरण के लिए भौगोलिक परिस्थिति जिसमें वह रहता है, उसके आर्थिक तथा राजनैतिक कार्य, जीवन सम्बन्धी उसके आदर्श और सिद्धान्त, उसकी सामाजिक संस्थायें, और उसकी धार्मिक मान्यतायें, उसका मनोविज्ञान तथा उसका स्वभाव, उसका स्त्रियों के सामाजिक पद तथा कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विचार, उसकी परम्परा, आधुनिक दृष्टिकोण तथा भविष्य के लिए उसकी महत्वाकांक्षायें इत्यादि सभी बातों का हमें अध्ययन करना चाहिए। इस दृष्टि से जनसंख्या की समस्या एक बहुत बड़ी समस्या है और वह उन सभी बातों का परिणाम है जो कि मनुष्य के अस्तित्व पर प्रभाव डालती हैं। अतएव हमें इस दृष्टिकोण से समस्त समस्या का अध्ययन करना होगा।

यदि हम ऊपर दिए हुए दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेते हैं तो हमें यह अनिवार्य रूप में स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस समस्या का प्रभाव मनुष्य जाति के भविष्य पर पड़ता हो उसकी ओर से उदासीन नहीं रहा जा सकता। किन्तु अभी तक संसार में जनसंख्या की महत्वपूर्ण समस्या के प्रति उदासीनता ही प्रकट की जाती रही है। अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया कि जनसंख्या को देश के साधनों को दृष्टि में रख कर बुद्धिमत्तापूर्वक सीमित कर दिया जावे जिससे कि जनसंख्या सुखपूर्वक रह सके। अभी तक प्रत्येक देश में इस महत्वपूर्ण समस्या की ओर से घोर उदासीनता ही प्रगट की गई है। भगवान की इस विशाल पृथ्वी पर बच्चे बिना किसी योजना के उत्पन्न होते हैं। माता-पिता कभी इस बात की चिन्ता ही नहीं करते कि उनका अपने बच्चों के प्रति कुछ कर्तव्य भी है अथवा नहीं। किन्तु यदि भविष्य में भी मनुष्य-समाज ने जनसंख्या के सम्बन्ध में इसी प्रकार का रुख रखा तो मनुष्य-समाज का भविष्य अंधकारमय हो जावेगा और हम लोग विनाश की ओर बढ़ते चले जावेंगे। जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है उसकी स्थिति इस सम्बन्ध में और भी बुरी है। भारत की विशाल जनसंख्या जो कि संसार की जनसंख्या का छठवां भाग है, आज ऐसा गर्हित और निर्धनता का जीवन व्यतीत कर रही है जिसकी तुलना नहीं की जा सकती। संसार के किसी सभ्य देश के निवासी ऐसा दयनीय जीवन व्यतीत नहीं करते। अत्यधिक निर्धनता, गिरा हुआ स्वास्थ्य, पूर्ण अज्ञान तथा सामाजिक रूढ़ियों में फँसा हुआ, प्राचीन परम्पराओं और रीति-रस्मों के भारी बोझ को ढोने वाला तथा अन्धविश्वासों से घिरा हुआ भारतीय आज अपने जीवन को व्यतीत करता है। आज जिस स्थिति में भारतवर्ष की अधिकांश जनसंख्या रह रही है उसको देखते हुए राष्ट्र-निर्माण का कार्य बहुत कठिन और श्रम-साध्य प्रतीत होता है। ऐसी दशा में जब हम देश के आर्थिक तथा सामाजिक विकास की योजनाओं को बनावें तो इस अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या (जनसंख्या) को भूल नहीं सकते। हमें इसके बारे में भी सोचना होगा। जब तक हम इस समस्या की ओर

ध्यान नहीं देंगे, हमारी कोई आर्थिक योजना सफल नहीं हो सकती। आज औसत भारत-वासी बच्चों का उत्पन्न होना अपने अच्छे कर्मों का फल और उनका मर जाना अपने बुरे कर्मों का फल मानता है। उसकी सम्मति में भगवान् प्रसन्न होकर उसको संतान देते हैं और अप्रसन्न होने पर छीन लेते हैं। ऐसा सोचना वास्तव में परम पिता परमेश्वर की बुद्धि में अविश्वास करना है। जब तक कि भारतीय जनसंख्या की वृद्धि को नियंत्रित नहीं करते तब तक हम अपने देश को समृद्धिशाली नहीं बना सकते। हमारा जनसंख्या के प्रति दृष्टिकोण अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होना चाहिए और हमें देश की जनसंख्या का नियंत्रण करना चाहिए; नहीं तो देश के सामने एक कठिन परिस्थिति खड़ी हो जावेगी।

इसके अतिरिक्त एक और भी प्रश्न है। क्या हमको जनसंख्या का प्रश्न संसार की समस्या के रूप में अध्ययन करना चाहिए अथवा केवल प्रत्येक राष्ट्र की जनसंख्या का प्रश्न पृथक-पृथक अध्ययन करना चाहिए? आज हमें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय संघ की बात बहुत सुनाई देती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे बहुत ऊँचे और कल्याणकारी आदर्श हैं, और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि मनुष्य की बुद्धि और कौशल के परिणामस्वरूप जो वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं, उनके द्वारा एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार होगई है कि जो अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता तथा भाईचारे का आधार बन सकती है। गमनागमन के साधनों में तेज़ी से उन्नति होने के कारण समस्त पृथ्वी पहले से बहुत छोटी बन गई है तथा पृथ्वी का एक भाग दूसरे भाग के बहुत पास आगया है। परन्तु एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र को हड़प जाने की भयंकर प्रवृत्ति उस अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे को जन्म नहीं लेने देती। आज प्रत्येक राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे तथा सहकारिता की बात कहता है, परन्तु वास्तव में कोई उसके लिए तैयार नहीं है। यही कारण है कि मनुष्य-समाज को एक के बाद दूसरे विनाशकारी युद्धों की बिभीषिका को सहन करना पड़ता है तथा पारस्परिक द्वेष और युद्ध के द्वारा मानव एक दूसरे का विनाश करता है। आज की स्थिति तो ऐसी है कि मनुष्य एक दूसरे के रुधिर का प्यासा है और आज मानवता इस रुधिर-स्नान से कराह रही है। ऐसी स्थिति में इस बात की आशा करना कि वास्तव में कोई सच्चा अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारा स्थापित हो सकता है केवल दुराशा मात्र है। आज भी प्रबल और शक्तिवान् राष्ट्र निर्बल और शक्तिहीन राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक तीसरे महायुद्ध की बिभीषिका हमारे सामने उपस्थित है। ऐसी दशा में कोई न्यायपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारा स्थापित होसके इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इससे हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी समस्याएँ अपने ढंग से ही हल करनी होंगी, आज राष्ट्रीय सीमाओं को नष्ट नहीं किया जा सकता। अस्तु; हमें जनसंख्या की समस्या का भी इसी आधार पर अध्ययन करना होगा। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि किसी देश की जनसंख्या की समस्या

का, संसार की जनसंख्या की समस्या से बिलकुल अलहदा करके अध्ययन किया जा सकता है। न तो यह सम्भव ही है और न यह वांच्छनीय ही है, क्योंकि पृथ्वी पहले से बहुत संकुचित हो गई है। हमारा तो ऐसा कहने से केवल यही तात्पर्य है कि क्योंकि संसार में न्यायपूर्ण तथा समता के आधार पर निकट भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे की स्थापना की कोई सम्भावना नहीं है, अस्तु, प्रत्येक देश के लिए यही उचित है कि वह अपने साधनों और अपने सामाजिक सङ्गठन को ध्यान में रखकर ही जनसंख्या की समस्या का अध्ययन करे तथा उसका अध्ययन करते समय उन अन्तर्राष्ट्रीय तथ्यों को भी ध्यान में रक्खे जो जनसंख्या की समस्या पर अपना प्रभाव डालते हैं। उन पेचीदा तथा जटिल तत्वों का आज की दशा में जब कि समस्त संसार एक उथल-पुथल में से गुज़र रहा है, अध्ययन करना कठिन है। सच तो यह है कि जनसंख्या की समस्या को योजना के अनुसार हल करना आज की दशा में असम्भव है, क्योंकि समस्त संसार में भीषण उथल-पुथल, परिवर्तन और अशान्ति है। जो मार्ग हम जनसंख्या की समस्या को हल करने का आज निकालें वह कल व्यर्थ हो सकता है। किन्तु इन सब कठिनाइयों और आशंकाओं के होते हुए भी हमको इन समस्याओं का अध्ययन तो करना ही होगा। सच तो यह है कि समाज एक परिवर्तनशील संस्था है और आज उसमें परिवर्तन तेज़ी से हो रहे हैं। अस्तु; यही सोचकर कि हमारे निकाले हुए हल कालान्तर में व्यर्थ हो सकते हैं हम उन समस्याओं का अध्ययन करना नहीं छोड़ सकते। अस्तु; हमारे लिए यही उचित है कि हम आज की परिस्थिति के अनुसार अपनी योजना बनावें। हाँ, उस योजना को बनाते समय हम पिछले अनुभवों तथा भावी सम्भावनाओं को अवश्य ध्यान में रक्खें।

इससे एक और प्रश्न उठता है। किसी देश की जनसंख्या सम्बन्धी नीति के निर्धारित करने में किस लक्ष्य को सामने रखना चाहिये? प्रसिद्ध अँग्रेज़ अर्थशास्त्री मालथस ने केवल जीवन-निर्वाह को आधार माना था। किन्तु तब से गंगा में बहुत जल बह चुका है। जनसंख्या सम्बन्धी नया सिद्धान्त प्रतिपादित हो चुका है। आज अधिकतर विद्वान् आदर्श जनसंख्या (Optimum population) के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। यद्यपि किसी देश के लिए आदर्श जनसंख्या (Optimum population) क्या होगी यह निर्धारित करना कठिन है, फिर भी यह सिद्धान्त मालथस के सिद्धान्त से अधिक मान्य और ठीक है, क्योंकि इस सिद्धान्त में समाज के अन्दर जो परिवर्तनशीलता है उसका ध्यान रक्खा गया है। मालथस-सिद्धान्त के अनुसार इसका आधार भी केवल आर्थिक ही है। जैसा कि सभी जानते हैं इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह मान लिया गया है कि देश के प्राकृतिक तथा अन्य आर्थिक साधनों को ध्यान में रखते हुए जनसंख्या को इस प्रकार नियंत्रित किया जावे कि प्रति मनुष्य

हम अधिक से अधिक सम्पत्ति का उत्पादन कर सकें। जनसंख्या सम्बन्धी नीति को निर्धारित करते समय हमारा केवल आर्थिक दृष्टिकोण ही नहीं हो सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्थिक समस्या एक बहुत महत्वपूर्ण समस्या है, क्योंकि मनुष्य बिना रोटी के जीवित ही नहीं रह सकता। परन्तु यह भी सच है कि मनुष्य केवल रोटी के द्वारा ही जीवित नहीं रहता है। हमारा तात्पर्य यहाँ भौतिकवाद के निरर्थक वादविवाद में पड़ना नहीं है, वरन हमारा केवल यही कहना है कि मनुष्य को अपनी भौतिक आवश्यकताओं के साथ ही अन्य आवश्यकताओं को भी पूरा करना पड़ता है। प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य जीवन-निर्वाह के जो ढंग अपनाता है उनका मनुष्य के जीवन को ढालने में हाथ रहता है अथवा नहीं। (लेखकों का मत है कि मनुष्य जिस प्रकार अपनी उदरपूर्ति करता है उसका उसके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।) इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य जीवन पर आर्थिक प्रभाव काम करते हैं, किन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि वे प्रभाव भी काम करते हैं जिनका स्वरूप आर्थिक नहीं है; फिर चाहे उन्हें धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा कलात्मक कुछ भी कहिए। अतएव जनसंख्या के सम्बन्ध में वही नीति ठीक होगी जो केवल आर्थिक दृष्टि से ही जनसंख्या की उन्नति का आयोजन न करे वरन् मनुष्य-समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए प्रयत्नशील हो। सच तो यह है कि मनुष्य-समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति और भलाई ही हमारा ध्येय होना चाहिए जिसमें आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य सभी भलाइयाँ अन्तर्हित हैं। मानव-समाज का हित और उसका मान भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न होता है। कोई देश केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही अधिक ज़ोर देता है तो कोई देश नैतिक आदर्शों को भी आवश्यक समझता है। उदाहरण के लिए पूज्य महात्मा गांधी, हिटलर, अथवा जिन्ना का समाज के संगठन के बारे में एकसा विचार नहीं हो सकता था। अस्तु; यह निश्चय है कि जनसंख्या सम्बन्धी नीति में उनके विचार कभी मेल नहीं खा सकते थे। हम तो केवल इस साधारण तथ्य को ही दोहरा सकते हैं कि जनसंख्या सम्बन्धी नीति किसी भी देश अथवा जाति के सामाजिक आदर्श तथा उद्देश्य के अनुरूप ही हो सकती है। यह जनसंख्या सम्बन्धी नीति आर्थिक तथा अन्य सभी समस्याओं को ध्यान में रखकर ही निर्धारित की जा सकती है। हम केवल आर्थिक आधार पर ही जनसंख्या सम्बन्धी नीति को निर्धारित नहीं कर सकते। वह सामाजिक आदर्श क्या हो यह एक दूसरा प्रश्न है। इस प्रश्न का निर्णय अन्य बातों को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है।

भारतीय जनसंख्या की समस्या का अध्ययन करने में कठिनाइयाँ: अभी तक हमने जनसंख्या-सम्बन्धी साधारण सिद्धान्तों की चर्चा की, अब हमें भारत की जनसंख्या का विस्तारपूर्वक अध्ययन करना होगा। आज देश के ३६ करोड़ से

ऊपर व्यक्ति अत्यन्त निर्धनता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हें भरपेट खाने को और तन ढकने को कपड़ा नहीं मिल पाता। भारत की इस असीम निर्धनता को ध्यान में रखते हुए हमें भारत की जनसंख्या का अध्ययन करना होगा।

यदि भारत को निर्धनता के गर्त से ऊपर उठना है और सभ्य राष्ट्रों की पंक्ति में बैठना है तो हमें जनसंख्या के सम्बन्ध में एक निश्चित विचारपूर्ण नीति को अपनाना होगा। आज की भाँति हम उस ओर से उदासीन नहीं रह सकते। इसके पूर्व कि हम भारत की जनसंख्या-समस्या का अध्ययन करें, यह उचित होगा कि हम उन कठिनाइयों को भी जानलें कि जिनका हमें भारतीय जनसंख्या की समस्या का अध्ययन करने में सामना करना पड़ता है।

भारतीय जनसंख्या की समस्या का अध्ययन करने में सब से पहली कठिनाई यह है कि जनसंख्या सम्बन्धी सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। जनसख्या के सम्बन्ध में जो कुछ भी आँकड़े उपलब्ध हैं वह हमें जनगणना की रिपोर्ट से प्राप्त होते हैं। भारतवर्ष में जनगणना प्रति दस वर्षों के उपरान्त होती है, और उसकी रिपोर्ट के आधार पर ही भारतीय जनसंख्या के सम्बन्ध में कुछ अध्ययन किया जा सकता है। जनसंख्या सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के इस स्रोत का एक दोष तो यह है कि प्रतिवर्ष की जानकारी हमें उससे प्राप्त नहीं होती वरन् दसवें वर्ष में जो शक्तियाँ और सम्भावनायें काम करती होती हैं उनके जो परिणाम होते हैं केवल वे ही हमें प्राप्त होते हैं। दूसरा दोष मनुष्य-गणना का यह भी है कि जो आँकड़े हमें उससे प्राप्त होते हैं वे बिलकुल सही हों ऐसी बात नहीं है। अन्य देशों में जन्म, मृत्यु तथा विवाह-सम्बन्धी आँकड़े जनसंख्या के विद्यार्थियों को बहुमूल्य सामग्री देते हैं। भारतवर्ष में जन्म, मृत्यु तथा विवाह के आँकड़े या तो मिलते ही नहीं, और यदि मिलते भी हैं तो व्यर्थ होते हैं; उनका जनसंख्या के विद्यार्थी के लिए कोई उपयोग नहीं होता; न उनको जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन का आधार ही बनाया जा सकता है।

भारतीय जनसंख्या के आँकड़ों के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है; वह यह कि भारतवर्ष में दुर्भिक्ष तथा महामारी के रूप में जनसंख्या का विनाश करने वाले कारण समय-समय पर उपस्थित होते रहे हैं। उदाहरण के लिए १८७४-७६ का भयंकर अकाल, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त का अकाल, १९१८ का इन्फ्लूएंजा इत्यादि ऐसे विनाशकारी थे कि उनके बाद जो मनुष्य गणना हुई उस पर इनका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। १९३१ की जनसख्या के समय किसी-किसी प्रान्त में मनुष्य गणना का कांग्रेस के आदेश पर बहिष्कार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इन गणनाओं को साधारण रूप से बिलकुल ठीक नहीं माना जा सकता था

हम अधिक से अधिक सम्पत्ति का उत्पादन कर सकें। जनसंख्या सम्बन्धी नीति को निर्धारित करते समय हमारा केवल आर्थिक दृष्टिकोण ही नहीं हो सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्थिक समस्या एक बहुत महत्वपूर्ण समस्या है, क्योंकि मनुष्य बिना रोटी के जीवित ही नहीं रह सकता। परन्तु यह भी सच है कि मनुष्य केवल रोटी के द्वारा ही जीवित नहीं रहता है। हमारा तात्पर्य यहाँ भौतिकवाद के निरर्थक वादविवाद में पड़ना नहीं है, वरन हमारा केवल यही कहना है कि मनुष्य को अपनी भौतिक आवश्यकताओं के साथ ही अन्य आवश्यकताओं को भी पूरा करना पड़ता है। प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य जीवन-निर्वाह के जो ढंग अपनाता है उनका मनुष्य के जीवन को ढालने में हाथ रहता है अथवा नहीं। (लेखकों का मत है कि मनुष्य जिस प्रकार अपनी उदरपूर्ति करता है उसका उसके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।) इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य जीवन पर आर्थिक प्रभाव काम करते हैं, किन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि वे प्रभाव भी काम करते हैं जिनका स्वरूप आर्थिक नहीं है; फिर चाहे उन्हें धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा कलात्मक कुछ भी कहिए। अतएव जनसंख्या के सम्बन्ध में वही नीति ठीक होगी जो केवल आर्थिक दृष्टि से ही जनसंख्या की उन्नति का आयोजन न करे वरन् मनुष्य-समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए प्रयत्नशील हो। सच तो यह है कि मनुष्य-समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति और भलाई ही हमारा ध्येय होना चाहिए जिसमें आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य सभी भलाइयाँ अन्तर्हित हैं। मानव-समाज का हित और उसका मान भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न होता है। कोई देश केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही अधिक ज़ोर देता है तो कोई देश नैतिक आदर्शों को भी आवश्यक समझता है। उदाहरण के लिए पूज्य महात्मा गांधी, हिटलर, अथवा जिन्ना का समाज के संगठन के बारे में एकसा विचार नहीं हो सकता था। अस्तु; यह निश्चय है कि जनसंख्या सम्बन्धी नीति में उनके विचार कभी मेल नहीं खा सकते थे। हम तो केवल इस साधारण तथ्य को ही दोहरा सकते हैं कि जनसंख्या सम्बन्धी नीति किसी भी देश अथवा जाति के सामाजिक आदर्श तथा उद्देश्य के अनुरूप ही हो सकती है। यह जनसंख्या सम्बन्धी नीति आर्थिक तथा अन्य सभी समस्याओं को ध्यान में रखकर ही निर्धारित की जा सकती है। हम केवल आर्थिक आधार पर ही जनसंख्या सम्बन्धी नीति को निर्धारित नहीं कर सकते। वह सामाजिक आदर्श क्या हो यह एक दूसरा प्रश्न है। इस प्रश्न का निर्णय अन्य बातों को ध्यान में रखकर ही किया जा सकता है।

भारतीय जनसंख्या की समस्या का अध्ययन करने में कठिनाइयाँ: अभी तक हमने जनसंख्या-सम्बन्धी साधारण सिद्धान्तों की चर्चा की, अब हमें भारत की जनसंख्या का विस्तारपूर्वक अध्ययन करना होगा। आज देश के ३६ करोड़ से

धीरे बढ़ी। १८७२ से १८८१ में १'५ प्रतिशत, १८६१ से १६०१ में १'५ प्रतिशत और १६११ से १६२१ में ०'६ प्रतिशत जनसंख्या में वृद्धि हुई। पहले दो दशाब्दों में विकराल दुर्भिक्षों के कारण जनसंख्या अधिक नहीं बढ़ी तथा अन्तिम दशाब्द में (१६११ से १६२१ में) इन्फ्लूएंजा की महामारी के कारण जनसंख्या में बहुत कम वृद्धि हुई। अस्तु; १६२१ से १६४१ तक के बीस वर्ष साधारण वर्ष माने जा सकते हैं, और इन वर्षों में भारतवर्ष की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ी। इस समय भारतवर्ष की जनसंख्या सम्भवत: चीन को छोड़कर सब देशों से अधिक है।

१६५१ की जन-गणना के अनुसार विभाजित भारत की जनसंख्या ३६ करोड़ से कुछ अधिक है। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि १६४७ में भारत का विभाजन हो गया और भारत के दो टुकड़े हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बन गए। १६४१ की जन-गणना के अनुसार अविभाजित भारत की जनसंख्या ३८ करोड़ ८८ लाख थी। जो भाग कि अब हिन्दुस्तान' में हैं उनकी १६४१ के अनुसार जन-संख्या ३२ करोड़ के लगभग थी। इसका अर्थ यह हुआ कि १६४१ की तुलना में १६५१ में १३'४% जनसंख्या की वृद्धि हुई। इस जनसंख्या की वृद्धि को जब हम बंगाल के दुर्भिक्ष जिसमें २५ से ५० लाख मनुष्यों की मृत्यु का अनुमान किया जाता है, खाद्यान्नों की भयंकर कमी की पृष्ठभूमि में देखते हैं तो यह वृद्धि वास्तव में आश्चर्यजनक है। यदि जनसंख्या को कम करने वाले यह कारण उपस्थित न होते तो जनसंख्या की वृद्धि वास्तव में और भी अधिक हुई होती।

यदि हम भारत की जनसंख्या की वृद्धि का प्रति दशाब्द के अनुसार अध्ययन करें तो वह नीचे लिखे अनुसार है :—

१८६१—१६०१	१६०१—१६११
+१५%	+६'७%
१६११—१६२१	१६२१—१६३१
+१%	+१०'६%
१६३१—१६४१	१६४१—१६५१
+१५%	+१३'४%

ऊपर के आँकड़ों को देखने से यह ज्ञात होता है कि भारत की जनसंख्या बढ़ती जाती है। यह वृद्धि एक समान नहीं है। जनसंख्या की वृद्धि एक समान न होने का मुख्य कारण दुर्भिक्ष और महामारी है। जिस दशाब्द में कोई भयंकर महामारी अथवा दुर्भिक्ष हुआ उसमें जनसंख्या की वृद्धि कम हुई और जिस दशाब्द में दुर्भिक्ष अथवा महामारी नहीं हुई उस दशाब्द में जनसंख्या की वृद्धि अधिक हुई। १६२१ के उपरान्त भारत की जनसंख्या तेजी से बढ़ी। इसका मुख्य कारण यह है

और उनसे जो परिणाम निकाले गए उनमें भी भूल होने की सम्भावना रहती है। अस्तु: सबसे पहला दोष या कठिनाई जो हमें जनसंख्या का अध्ययन करने में उठानी पड़ती है वह यह है कि जनसंख्या के सही आंकड़े प्राप्त नहीं होते। १९५१ में जो मनुष्य गणना हुई उसमें भी विभाजन के फलस्वरूप जो भारी संख्या में जनसंख्या को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटना पड़ा उसका प्रभाव पड़ा है। जनसंख्या के प्रश्न का अध्ययन करने में एक दूसरी कठिनाई यह है कि भारतवर्ष इतना विस्तृत और विशाल देश है कि उसमें बहुत से भिन्न प्राकृतिक परिस्थिति वाले प्रदेश सम्मिलित हैं, जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इसका फल यह होता है कि हम समस्त देश को ध्यान में रख कर जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे एक प्रदेश विशेष के लिए पूर्ण रूप से लागू नहीं होते। यदि हम किसी प्रदेश विशेष को ध्यान में रखकर जनसंख्या के प्रश्न का अध्ययन करते हैं तो वह कुल भारत के लिए लागू नहीं होंगे। यदि भारत में जनसंख्या का अध्ययन प्रादेशिक आधार पर किया जावे तो हम सचाई के अधिक निकट पहुँच सकते हैं। परन्तु हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि हम प्रत्येक प्रदेश की जन-संख्या की समस्याओं का पृथक रूप से विशद विवेचन कर सकें। अस्तु; जनसंख्या के प्रश्न का अध्ययन करते समय हमें यह ध्यान में रखकर चलना होगा कि हमारे अध्ययन के रास्ते में ऊपर लिखी हुई दो रुकावटें तथा कठिनाइयाँ हैं। अब हम जनसंख्या का अध्ययन करेंगे।

भारत में जनसंख्या की वृद्धि : १८७२ में पहली मनुष्य-गणना भारत में हुई थी, और अन्तिम मनुष्य गणना १९५१ में हुई। यदि हम भारत की मनुष्य-गणना के आंकडों का अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जावेगा कि भारत की जनसंख्या लगातार बढ़ती गई। १८७२ में भारत की जनसंख्या २० करोड़ ६२ लाख थी; वह बढ़कर १९३१ में ३५ करोड़ २९ लाख हो गई। अर्थात् ६० वर्षों में १४ करोड़ ६६ लाख की वृद्धि हुई। इसमें ५ करोड़ ९० लाख की वृद्धि नये क्षेत्रों को सम्मिलित करने तथा मनुष्य-गणना की पद्धति में सुधार करने के कारण हुई। इसका अर्थ यह हुआ कि वास्तव में ८ करोड़ ७६ लाख की वृद्धि हुई। अर्थात् ५९ वर्षों में ३०.७ प्रतिशत को जनसंख्या में वृद्धि हुई। १९४१ में वर्मा को निकाल कर कुल जन-संख्या ३८ करोड़ ८८ लाख थी, जब कि १९३१ में बर्मा को सम्मिलित करके देश की कुल जनसंख्या ३३ करोड़ ८१ लाख ही थी। इसका अर्थ यह हुआ कि दस वर्षों में १५ प्रतिशत जनसंख्या में वृद्धि हुई। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि १८७१ से १९४१ तक किसी दशाब्दी में जनसंख्या इतनी नहीं बढ़ी। १९२१–३१ में जनसंख्या में १०.६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि १८७२ से १९२१ तक जनसंख्या बहुत

धीरे बढ़ी। १८७२ से १८८१ में १'५ प्रतिशत, १८६१ से १६०१ में १'५ प्रतिशत और १६११ से १६२१ में ०'६ प्रतिशत जनसंख्या में वृद्धि हुई। पहले दो दशाब्दों में विकराल दुर्भिक्षों के कारण जनसंख्या अधिक नहीं बढ़ी तथा अन्तिम दशाब्द में (१६११ से १६२१ में) इन्फ्लूएंजा की महामारी के कारण जनसंख्या में बहुत कम वृद्धि हुई। अस्तु; १६२१ से १६४१ तक के बीस वर्ष साधारण वर्ष माने जा सकते हैं, और इन वर्षों में भारतवर्ष की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ी। इस समय भारतवर्ष की जनसंख्या सम्भवत: चीन को छोड़कर सब देशों से अधिक है।

१६५१ की जन-गणना के अनुसार विभाजित भारत की जनसंख्या ३६ करोड़ से कुछ अधिक है। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि १६४७ में भारत का विभाजन हो गया और भारत के दो टुकड़े हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बन गए। १६४१ की जन-गणना के अनुसार अविभाजित भारत की जनसंख्या ३८ करोड़ ८८ लाख थी। जो भाग कि अब हिन्दुस्तान' में हैं उनकी १६४१ के अनुसार जनसंख्या ३२ करोड़ के लगभग थी। इसका अर्थ यह हुआ कि १६४१ की तुलना में १६५१ में १३'४% जनसंख्या की वृद्धि हुई। इस जनसंख्या की वृद्धि को जब हम बंगाल के दुर्भिक्ष जिसमें २५ से ५० लाख मनुष्यों की मृत्यु का अनुमान किया जाता है, खाद्यान्नों की भयंकर कमी की पृष्ठभूमि में देखते हैं तो यह वृद्धि वास्तव में आश्चर्यजनक है। यदि जनसंख्या को कम करने वाले यह कारण उपस्थित न होते तो जनसंख्या की वृद्धि वास्तव में और भी अधिक हुई होती।

यदि हम भारत की जनसंख्या की वृद्धि का प्रति दशाब्द के अनुसार अध्ययन करें तो वह नीचे लिखे अनुसार हैं :—

१८६१—१६०१	१६०१—१६११
+१५%	+६'७%
१६११—१६२१	१६२१—१६३१
+१%	+१०'६%
१६३१—१६४१	१६४१—१६५१
+१५%	+१३'४%

ऊपर के आँकड़ों को देखने से यह ज्ञात होता है कि भारत की जनसंख्या बढ़ती जाती है। यह वृद्धि एक समान नहीं है। जनसंख्या की वृद्धि एक समान न होने का मुख्य कारण दुर्भिक्ष और महामारी है। जिस दशाब्द में कोई भयंकर महामारी अथवा दुर्भिक्ष हुआ उसमें जनसंख्या की वृद्धि कम हुई और जिस दशाब्द में दुर्भिक्ष अथवा महामारी नहीं हुई उस दशाब्द में जनसंख्या की वृद्धि अधिक हुई। १६२१ के उपरान्त भारत की जनसंख्या तेजी से बढ़ी। इसका मुख्य कारण यह है

कि भारत में सिंचाई के साधनों की इन दिनों तेजी से उन्नति हुई, जिनसे दुर्भिक्ष की विकरालता कम हो गई, चिकित्सा का प्रबन्ध पहले से कुछ अच्छा हुआ तथा रोगों पर विजय पाने का प्रयत्न कुछ सफल हुआ इसके अतिरिक्त कुछ हद तक जनसंख्या में वृद्धि क्षेत्रफल में वृद्धि तथा जनगणना की पद्धति के सुधार के कारण हुई।

यद्यपि भारतवर्ष में चिकित्सा का प्रवन्ध आज भी सन्तोषजनक नहीं है फिर भी जो कुछ चिकित्सा का प्रबंध हुआ है उससे मृत्यु दर में कमी हुई है। जहाँ जन्म-दर पूर्ववत १००० पीछे ३३ है वहाँ मृत्यु-दर १९२० में ३१ प्रति १००० से घटकर १९४० में प्रति १००० पीछे २१ रह गई। बच्चों की मृत्यु-दर इसी काल में १९५ प्रति १००० से घट कर १६० रह गई है। इसके अतिरिक्त हैज़ा, चेचक, प्लेग इत्यादि रोगों का प्रकोप भी कम हुआ है।

पंजाब और सिंध में जो पिछले वर्षों में सिंचाई की सुविधायें प्राप्त हुईं उनके कारण खेती के लिए नये प्रदेश प्राप्त हो गए और रेगिस्तान में भी तेजी से आबादी बढ़ी। इन सब कारणों से ही भारत की जनसंख्या पिछले वर्षों में तेज़ी से बढ़ी है। आज की स्थिति देखते हुए जनसंख्या की यह वृद्धि हमारी चिन्ता का कारण बनती जा रही है।

जब हम भारतवर्ष की जनसंख्या की वृद्धि की ओर ध्यान देते हैं, और उसकी अन्य देशों से तुलना करते हैं, तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्य देशों में भारत की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से जनसंख्या में वृद्धि होती है। १८७० से १९३० तक के कुछ देशों के जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़े इस प्रकार हैं:—जरमनी ६०% इटली ६३% स्पेन ४०% इङ्गलैंड तथा वेल्स ७७% फ्रांस १४% रूस ११५% डेनमार्क १००% संयुक्तराज्य अमेरिका १२५% तथा जापान ११३%। ऊपर दिए हुए आँकड़ों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि फ्रांस को छोड़कर अन्य सभी देशों की जनसंख्या में भारत की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि हुई। यद्यपि भारत में प्रतिशत को देखते हुए वृद्धि अन्य देशों की अपेक्षा कम ही हुई है, परन्तु फिर भी प्रति दशाब्दों में करोड़ों की वृद्धि होती रही है, यह हमें न भूल जाना चाहिए।

यदि हम जनसंख्या की इस वृद्धि को प्रान्तों तथा देशी राज्यों में बाँटें तो १९०१ तथा १९४१ के समय के आंकड़ों का नीचे लिखे अनुसार बँटवारा होगा:—

दशाब्द	प्रतिशत वृद्धि	
	देशी राज्य	प्रान्त
१९०१—११	+ १२·९	+ ५·०
१९११—२१	+ १·०	+ ०·९

१९२१ – ३१	+ १२·८	+ १०·६
१९३१ – ४१	+ १४·५	+ १५·२

प्रान्तों में भी सबसे अधिक वृद्धि देहली प्रान्त में (४४·३%) १९३१ – ४१ के दशाब्द में हुई। इससे पिछले दो दशाब्दों में भी देहली प्रान्त में सबसे अधिक जन-संख्या की वृद्धि हुई जो इस प्रकार है :—१९३१ – २१, १९२१ – ११ में क्रमशः ३०·३% तथा १८%। अन्य प्रान्तों में भी वृद्धि एक समान नहीं है। किसी प्रान्त में जनसंख्या की वृद्धि अधिक हुई किसी प्रान्त में कम। यही नहीं कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जनसख्या की एक समान वृद्धि नहीं हुई, वरन भिन्न-भिन्न दशाब्दों में एक ही प्रान्त में जनसंख्या की वृद्धि एक समान नहीं हुई। नीचे लिखी तालिका से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। यह आँकड़े पिछले दो दशाब्दों के हैं और १९४१ की जनगणना की रिपोर्ट से लिए गए हैं। प्रान्तों का बँटवारा १९३५ के शासन विधान के आधार पर किया गया है जिससे कि विभाजन के पूर्व की परिस्थिति से मुकाबला करना आसान हो।

प्रान्तों तथा दशाब्दों में जनसंख्या का प्रतिशत परिवर्त्तन

प्रान्त	दशाब्दों में प्रतिशत परिवर्तन				
	१९०१-४१	१९०१-११	१९११-२१	१९२१-३१	१९३१-४१
	%	%	%	%	%
१—मदरास	+३३·१	+७·९	+२·५	+१०·४	+११·६
२—बम्बई	+३६·१	+५·३	–०·८	+१२·४	+१५·९
३—बङ्गाल	+४३·१	+८·०	+२·८	+ ७·३	+ २०·३
४—संयुक्तप्रान्त	+१६·३	–१·१	–३·१	+ ६·९	+१३·७
५—पंजाब	+४२·५	–१·८	+५·६	+१३·९	+२०·५
६—बिहार	+२८·६	+२·९	–१·१	+११·५	+१२·५
७—मध्यप्रान्त बरार	१+६·२	–०·१	+११·५	+१२·३	+२८·६
८—आसाम	+७८·२	+१४·९	+१३·४	+१५·६	+१८·३
९—सीमाप्रान्त	+४४·८	+७·६	+२·५	+७·७	+२५·२
१०—उड़ीसा	+२२·५	+६·४	–३·०	+९·२	+ ८·८
११—सिंध	+४१·२	+९·४	+६·७	+१८·५	+१६·७
१२—अजमेर मेरवाड़ा	+३६·९	+५·४	–०·५	+१३·५	+१५·१
१३—अंडमन नीकोबार	+३७·०	+७·३	+२·४	+८·८	+१४·६
१४—बलूचिस्तान	+३१·३	+८·५	+१·५	+१०·२	+ ८·२
१५—कुर्ग	–६·६	–३·१	–६·४	–०·३	+ ३·३
१६—देहली	+१२६·२	+२·०	+१८·०	+३०·३	+४४·३

१७—भारत	+३७·०	+६·७	+०·६	+१०·६	+१५·०
१८—प्रान्त	+३४·१	+५·०	+०·८	+६·६	+१५·१

नीचे लिखे आँकड़ों से भारत में भिन्न-भिन्न भागों में जनसंख्या का घनत्व प्रकट होता है :—

प्रान्त या राज्य	१९०१	१९११	१९२१	१९३१	१९४१
भारतवर्ष	१७६	१९१	१९३	२१३	२४६
प्रान्त	२५४	२६७	२६६	२९६	३४१
मदरास	२८७	३०६	३१८	३५०	३९१
बम्बई	२००	२११	२०६	२३५	२७२
बङ्गाल	५२६	५६६	५८४	६२७	७७६
संयुक्तप्रान्त	४४५	४४१	४२७	४५६	५१८
पंजाब	२०१	१९८	२०६	२३८	२८७
बिहार	४०५	४२१	४१६	४६४	५२१
मध्यप्रान्त बरार	१२०	१३६	१३६	१५६	१७०
आसाम	—	—	१३६	१५७	१८६
सीमाप्रान्त	१५२	१६४	१६८	१७६	२१३
उड़ीसा	२२१	२३५	२२८	२४६	२७१
सिंध	६७	७३	६८	८१	९४
अजमेर मेरवाड़ा	१७८	१८७	१८६	२११	२४३
अंडमन नीकोबार	८	८	९	९	११
बलूचिस्तान	७	८	८	९	६
कुर्ग	११४	१११	१०३	१०३	१०६
देहली	७०८	७२२	८५२	१११०	१५००
देशी राज्य	८८	१००	१०१	११४	१२०

१९५१ की जनसंख्या के आधार पर भारतीय संघ की जनसंख्या का घनत्व ३१३ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। १९५१ की जनगणना के अनुसार विभिन्न राज्यों में जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्ग मील निम्न प्रकार है :—

बङ्गाल ८०४, बिहार ५७१, उड़ीसा २४४, बम्बई ३११, आसाम १६८, मध्यभारत १६२, उत्तर प्रदेश ५६२, मदरास ४४६, पूर्वी पञ्जाब ३२६, राजस्थान ११६, दिल्ली ३०३८।

कुछ अन्य देशों में भारत की जनसंख्या के घनत्व की तुलना करना उपयोगी होगा।

देश			घनत्व प्रति वर्ग मील
भारत	...	...	३१२
चीन	...	...	१२३
रूस	...	...	२३
सं० रा० अमेरिका	...	...	५०
योरोप	...	...	१२३
पाकिस्तान	...	...	२१०

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत घना आबाद देश है। ऊपर की तालिका का अध्ययन करने से हम दो परिणामों पर पहुँचते हैं। पहला परिणाम तो यह है कि केवल समस्त देश की ही जनसंख्या में वृद्धि हुई हो ऐसी बात नहीं है, प्रान्तों की जनसंख्या में भी वृद्धि हुई है। कुछ प्रान्तों में जनसंख्या की वृद्धि औसत से अधिक हुई और कुछ प्रान्तों में कम। बङ्गाल, पञ्जाब, मध्यप्रदेश, बरार, आसाम, सीमाप्रान्त, सिंध और देहली में कुल देश की जनसंख्या की वृद्धि के औसत से अधिक जनसंख्या बढ़ी। उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में जनसंख्या की वृद्धि औसत से कम हुई है। जनसंख्या की इस वृद्धि के सम्बन्ध में लिखते हुए श्री ईट्स महोदय अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं कि बच्चों तथा माताओं की प्रसूति-गृह में मृत्यु-संख्या में कमी होने से तथा युवकों तथा युवतियों की मृत्यु-संख्या में कमी होने से यह वृद्धि सम्भव हुई है। यही नहीं, १९३१ में असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप बहुत से देश-भक्तों ने मनुष्य-गणना में भाग ही नहीं लिया तथा काँग्रेस ने मनुष्य-गणना का बहिष्कार किया, इस कारण १९३१ में मनुष्य-गणना ठीक नहीं हो सकी। देश में जितनी जनसंख्या थी उससे कम गिनी गई, इस कारण भी १९३१ में विशेष वृद्धि नहीं हुई। यही नहीं कि १९४१ में लोगों ने मनुष्य-गणना का बहिष्कार नहीं किया वरन् १९४१ में मनुष्यों में आवश्यकता से अधिक मनुष्य-गणना के प्रति उत्साह था। कारण यह था कि उस समय भारत में साम्प्रदायिक आधार पर म्यूनिसिपैलिटियों, जिला बोर्डों तथा व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव होते थे। मुस्लिम लीग इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उत्साह प्रदर्शित कर रही थी। इस कारण हिन्दुओं को भी मनुष्य-गणना की ओर विशेष ध्यान देना पड़ा। यही सब कारण थे जिनसे कि मनुष्य-संख्या में इतनी अधिक वृद्धि हुई। यह ध्यान में रखने की बात है कि १९३१ और १९४१ के दस वर्षों में भारतवर्ष की जनसंख्या में जो वृद्धि हुई वह योरोप में रूस तथा जर्मनी को छोड़कर किसी भी देश की कुल जनसंख्या से अधिक थी। ऊपर के आँकड़ों का अध्ययन करने से हम एक दूसरे निर्णय पर भी पहुँचते हैं और वह यह है कि जिन प्रान्तों या प्रदेशों में जनसंख्या घनी है, उन्हीं में सबसे अधिक वृद्धि हुई है। बङ्गाल,

उत्तर प्रदेश तथा मदरास के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। ऐसा क्यों है इसका ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। इस सम्बन्ध में हम केवल अटकल ही लगा सकते हैं। सम्भवतः अच्छी भूमि, वर्षा तथा खेती के लिए अन्य सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण कुछ प्रदेशों में जनसंख्या अधिक बढ़ी और कुछ प्रदेशों में खेती की वृद्धि के लिए सुविधाएँ प्राप्त न होने के कारण तथा औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण वे अधिक जनसंख्या का भरण-पोषण नहीं कर सकते थे। हम जनसंख्या के घनी अथवा बिखरी होने के कारणों का अध्ययन बाद में करेंगे।

जनसंख्या के घनत्व पर प्रभाव डालने वाली बातें : १९४१ की जन-गणना के अनुसार भारतवर्ष में प्रति वर्ग मील २४६ मनुष्य निवास करते थे। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में प्रति वर्ग मील ३१३ मनुष्य रहते हैं। १९३१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में अन्य देशों के सम्बन्ध में जनसंख्या के घनत्व के जो आँकड़े दिए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—बेलजियम ६५४, इङ्गलैण्ड और वेल्स ६८५, फ्राँस १८४, जर्मनी ३३२, नीदरलैण्ड ५४४, आस्ट्रिया १९९, स्पेन १०७, जापान २१५, संयुक्त राज्य अमेरिका ४१, न्यूज़ीलैण्ड ११८, मिस्र ३४, चीन २००। ऊपर दिए हुए आँकड़ों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत में जनसंख्या का औसत घनत्व अधिक है। यहाँ बङ्गाल, उत्तर प्रदेश जैसे प्रान्त हैं जिनकी संसार के अत्यन्त घने आबाद प्रदेशों में गिनती की जा सकती है। ऊपर के आँकड़ों से एक परिणाम और भी निकलता है अर्थात् जनसंख्या का घनत्व तथा आर्थिक समृद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। मिस्र तथा संयुक्त राज्य अमेरिका दोनों ही कम घने आबाद देश हैं, परन्तु अमेरिका समृद्धिशाली देश है एवम् मिस्र निर्धन देश है। इङ्गलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की आबादियों के घनत्व में आकाश-पाताल का अन्तर है, किंतु दोनों समृद्धिशाली राष्ट्र हैं।

सच तो यह है कि जनसंख्या का घनी अथवा बिखरी होना बहुत सी बातों पर निर्भर करता है। उनमें से मुख्य नीचे लिखी हैं :—

अनुकूल जलवायु, जन और धन की सुरक्षा, देश की आर्थिक स्थिति (यदि देश उद्योग प्रधान है तो जनसंख्या घनी होगी और खेतिहर देश की जनसंख्या कम घनी होगी) तथा देश के आर्थिक साधन और उस देश के रहनेवालों के रहन-सहन का दर्जा। भारतवर्ष में जो जनसंख्या अधिक घनी नहीं है उसका मुख्य कारण उसका खेतिहर राष्ट्र होना है।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जनसंख्या का वितरण बहुत भिन्न है। किसी प्रान्त में जनसंख्या बहुत घनी है तो कहीं बहुत बिखरी है। बलूचिस्तान में (जो अब पाकिस्तान में है) प्रति वर्ग मील पीछे केवल एक आदमी निवास करता है और बङ्गाल में प्रति

में एक लाख से अधिक की आबादी है उनकी कुल आबादी १९३१ में ९१ लाख थी किन्तु १९४१ में वही बढ़कर १ करोड़ ६५ लाख होगई अर्थात् दस वर्षों में इन नगरों की जनसंख्या में ८१ प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९३१ में इस प्रकार के नगरों की संख्या देश में केवल ३५ थी किन्तु १९४१ में उनकी संख्या बढ़ कर ५८ हो गई। नगरों में जनसंख्या का प्रवाह होरहा है उसके दो मुख्य कारण हैं—एक तो नगरों में उद्योग धन्धों की स्थापना होना दूसरे मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों का शहरों में रहना पसन्द करना। शहरों की दृष्टि से उत्तर प्रदेश का देश में प्रथम स्थान है। वहाँ सबसे अधिक शहर हैं। बँटवारे के पूर्व पंजाब का स्थान दूसरा था किन्तु अब तो पूर्वी पंजाब में थोड़े से ही शहर हैं बड़े शहर पश्चिमीय पंजाब में निकल गए। जहाँ तक नये शहरों का प्रश्न है जिनकी आबादी एक लाख से अधिक होगई उनमें से एक तिहाई उत्तर प्रदेश और पंजाब में थे। शहरों की दृष्टि से बंगाल की स्थिति उत्तर प्रदेश से सर्वथा भिन्न है। बंगाल में विभाजन के पूर्व केवल ४ शहर थे जिनकी जनसंख्या एक लाख से अधिक थी जबकि उत्तर प्रदेश में ऐसे १२ शहर थे। यद्यपि बंगाल में उत्तर प्रदेश से ७० लाख अधिक मनुष्य निवास करते थे। इस सम्बन्ध में हमें एक बात न भूल जानी चाहिए। वह यह है कि यद्यपि गाँवों से जनसंख्या का शहरों की ओर प्रवाह होना स्वाभाविक है परन्तु हमें बम्बई और कलकत्ता जैसे गन्दे बड़े शहरों की आवश्यकता नहीं है। कुछ थोड़े से बहुत बड़े नगरों की अपेक्षा हम बड़ी संख्या में स्वच्छ सुन्दर और साधारण बड़े शहरों को अधिक उपयुक्त मानते हैं।

यद्यपि इस सम्बन्ध में १९५१ की जनगणना के आँकड़े अभी उपलब्ध नहीं हैं परन्तु पिछले दस वर्षों में हमारे नगरों की आबादी में पर्याप्त वृद्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय में बहुत अधिक जनसंख्या हमारे नगरों में आकर बस गई है। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थी भी अधिकतर नगरों में ही आकर बसे हैं। यही कारण है कि हमारे बड़े केन्द्रों में घरों और सफाई की समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया है। जहाँ तक भारत तथा पाकिस्तान का प्रश्न है, भारत में १४ प्रतिशत जनसंख्या नगरों में निवास करती है जबकि पाकिस्तान में केवल ८ प्रतिशत जनसंख्या ही नगरों में रहती है। यह इस बात का द्योतक है कि भारत औद्योगिक दृष्टि से पाकिस्तान से अधिक उन्नत है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे शहरों का आयोजित विकास हो कि जिससे नगरों में अत्यधिक भीड़ से उत्पन्न होने वाली बुराइयों से वहाँ के निवासियों को बचाया जा सके।

जनसंख्या का जातियों के अनुसार बँटवारा : पिछली जनगणना की रिपोर्टों में जनसंख्या का बँटवारा धर्मों के अनुसार दिखाया जाता था किन्तु तत्कालीन अंग्रेजी सरकार जङ्गली जातियों को हिन्दुओं में गिनना नहीं चाहती थी क्योंकि उससे

हिन्दुओं की संख्या अधिक प्रतीत होती, साथ ही ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्रता के आन्दोलन को निर्बल करने के लिए जिस प्रकार मुसलमानों को राजनैतिक दृष्टि से पृथक कर सकने में सफल हो गई थी उसी प्रकार वह इन जङ्गली जातियों को भी राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध खड़ा करके उनसे विशेष अधिकारों की माँग करवाना चाहती थी। परन्तु कठिनाई यह थी, उनके धार्मिक आचार व्यवहार हिन्दुओं जैसे ही थे; अस्तु; यह कठिनाई बतलाकर कि जङ्गली जातियों के धर्म तथा हिन्दू धर्म में भेद करना कठिन है और इस सम्बन्ध के आँकड़े कभी भी सन्तोषजनक नहीं हो सकते, सरकार ने धर्म के आधार पर जनसंख्या के बंटवारे का अध्ययन करना आरम्भ किया। १९४१ से जाति के आधार पर जनसंख्या का वर्गीकरण किया गया। अस्तु इस प्रकार की सब जातियाँ जोकि जङ्गलों में निवास करती थीं अथवा खानबदोश थीं वे ट्राइब (Tribe) स्वीकार कर ली गई और उनका धर्म के अनुसार वर्गीकरण नहीं किया गया। नीचे लिखे आँकड़ों से इस सम्बन्ध में पूरा प्रकाश पड़ता है :—

जाति का नाम	प्रति दस हजार पीछे भिन्न-भिन्न जातियों की भिन्न-भिन्न दशाब्दों में संख्या				
	१९०१	१९११	१९२१	१९३१	१९४१
हिन्दू—	७०३४	६९३१	६८२१	६८२४	६५९३
मुसलमान—	२१२२	२१२६	२१७४	२२१६	२३८१
ईसाई—	९९	१२४	१५०	१७९	१६३
जैन—	४५	४०	३७	३६	३७
सिक्ख—	७५	९६	१०३	१२४	१४७
ट्राइब—	२९२	३२८	३०९	२३६	६५८
अन्य—	३३३	३५३	३८६	३८५	२०

ऊपर की तालिका से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दुओं की संख्या लगातार घटती गई है और मुसलमानों की संख्या बराबर बढ़ती गई है। भारत की यही दो मुख्य जातियाँ हैं और उनमें हिन्दुओं की संख्या का बराबर घटते जाना एक चिन्ता का विषय है। जनगणना के कमिश्नर ने रिपोर्ट में लिखते हुए कहा था ६४½ प्रतिशत जनसंख्या हिन्दू हैं, २७ प्रतिशत मुसलमान हैं, १ प्रतिशत भारतीय ईसाई हैं, ५½ प्रतिशत ट्राइब (Tribe) हैं और २ प्रतिशत अन्य लोग हैं। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि १०० में से ६६ हिन्दू, २४ मुसलिम तथा ६ ट्राइब जाति के लोग हैं। यदि हम हिन्दुओं की संख्या में उन जङ्गली जातियों के लोगों को भी मिला दें कि जो जनगणना में पृथक दिखलाई गई है तो हिन्दुओं का अनुपात दो तिहाई से अधिक हो जावेगा।

जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है न तो भारत में बाहर से लोग बसने के लिए ही आते हैं और न भारत से अधिक संख्या में स्त्री पुरुष विदेशों में बसने ही जाते हैं अतएव हम आवास और प्रवास को छोड़ दे सकते हैं अतएव हमको केवल दो बातों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा, पहली जन्म संख्या पर और दूसरी मृत्यु संख्या पर। जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है मृत्यु संख्या का जनसंख्या पर बहुत अधिक प्रभाव है।

जन्म संख्या : भारत की विशेषता यह है कि यहाँ जन्म संख्या बहुत अधिक है। सभ्य संसार में सम्भवतः सबसे अधिक जन्म संख्या भारतवर्ष में ही है। १९२०-१९४० के बीच में प्रति हजार के पीछे यहाँ जन्म संख्या ३३ और ३६ के बीच में रही। आधुनिक सभ्य संसार में जन्म संख्या कम होने की प्रवृत्ति है। उदाहरण के लिए इङ्गलैण्ड तथा वेल्स में जन्म संख्या १८९१-९५ में ३०.५ प्रति हजार थी जो कि १९३१ में घटकर केवल १५.३ रह गई। भारतवर्ष में जन्म संख्या के इस प्रकार घटने के कोई भी चिन्ह दिखलाई नहीं देते। इसका अब हम विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

भारतवर्ष जन्म में तथा मृत्यु संख्या का अध्ययन करने में जो सब से पहली कठिनाई उपस्थित होती है वह है सही आँकड़ों का न होना। जो भी गलत आँकड़े हमें उपलब्ध हैं उनसे हमें ज्ञात होता है कि यहाँ जन्म संख्या ३३ प्रति हजार है। परन्तु जनसंख्या की समस्या का अध्ययन करने वाले विद्वानों (श्री ज्ञानचन्द) का कथन है कि भारत में प्रति हजार पीछे जन्म संख्या ४८ तक होगी। इस दृष्टि से भारत की स्थिति अन्य देशों की तुलना में और भी गिरी हुई है।

जन्म संख्या के इतना अधिक होने का कोई एक कारण नहीं है वरन् बहुत से कारण हैं। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि जहाँ तक जातीय तथा प्राणतत्व सम्बन्धी कारण हैं वे उसके महत्वपूर्ण कारण नहीं हैं। वास्तव में जनसंख्या के इतने अधिक होने के कारण हैं सामाजिक तथा आर्थिक। हमें यह स्वीकार करना होगा कि भारत जैसे देश में जहाँ जनता रूढ़ियों में फँसी हुई है तथा दकियानूसी है या पुरानपंथी है वहाँ जन्म संख्या के इतना अधिक होने का महत्वपूर्ण कारण सामाजिक ही हो सकता है। भारतवर्ष में चाहे कोई कितना ही निर्धन क्यों न हो एक परिवार का पालन करने की क्षमता उसमें हो अथवा न हो किन्तु वह विवाह अवश्य ही करता है। इसका जीता जागता प्रमाण यही है कि पिछले कुछ वर्षों से जो आर्थिक सङ्कट रहा है उसमें भी विवाहों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिनके पास कुछ नहीं है जिनकी आर्थिक स्थिति खराब है वे भी विवाह अवश्य करते हैं। आर्थिक हीनता की दशा में विवाह करने से क्या सुख और मिलता है यह तो करने वाले ही जानते होंगे किन्तु विवाह भारतवर्ष में एक अनिवार्य धार्मिक कृत्य बन गया है जो

प्रत्येक युवक और युवती को करना ही पड़ता है। केवल अशिक्षित ही ऐसा करते हों यही बात नहीं, भारतीय शिक्षित युवक भी इस रोग से बचा हुआ नहीं है। केवल लोग अपनी आर्थिक स्थिति को बिना देखे हुए ही विवाह कर लेते हों यही बात नहीं है वरन् बच्चों के उत्पन्न करने में भी वे अपनी आर्थिक स्थिति का ध्यान नहीं रखते। बच्चे अबाध गति से एक सरिता के रूप में उत्पन्न होते रहते हैं। इनके अतिरिक्त अत्यधिक जन्म संख्या होने का एक कारण यह भी है कि बाल विवाह बहुत होते हैं। बाल विवाह का जन्म संख्या पर इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ता है जितनी कल्पना की जाती है क्योंकि जब तक कोई पत्नी गर्भ धारण योग्य नहीं हो जाती तब तक इस दृष्टि से उसके पत्नी बनने से जन्म संख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ बाल विवाह का जन्म संख्या पर इतना प्रभाव तो पड़ता ही है कि विवाह को कुछ समय तक न टालने के कारण जो जन्म संख्या कम हो सकती वह नहीं होती है। अन्य देशों में युवक और युवतियाँ जब पिता और माता बनने के योग्य हो जाते हैं उसके कुछ समय बाद ही विवाह करते हैं किन्तु भारत में तो उस आयु के पहुँचने से पूर्व ही वे पति पत्नी बन जाते हैं और इसका जन्म संख्या पर प्रभाव पड़ता है इसमें कोई सन्देह नहीं।

जहाँ तक बाल विवाह विधवाओं की संख्या को बढ़ाता है वहाँ तक वह जनसख्या को कम करने का कारण भी है किन्तु जैसे जैसे विधवा विवाह की प्रथा बल पकड़ती जावेगी वैसे ही वैसे इसका प्रभाव जन्म संख्या की वृद्धि में होगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विवाह की अनिवार्यता, बाल विवाह तथा विधवाओं का फिर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति न कर सकना कुछ ऐसे कारण हैं जो जनसंख्या पर गहरा प्रभाव डालते हैं। पहले दो कारणों से तो जन्म संख्या में वृद्धि होती है किन्तु अन्तिम कारण से जन्म संख्या में कमी होती है। यह हमारे सामाजिक संगठन का एक अंग हैं अस्तु जितना हम अपने सामाजिक संगठन में परिवर्तन ला सकेंगे उतना ही उसका जनसंख्या पर प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त भारतीयों का रहन सहन बहुत गिरा हुआ है इसका भी जनसंख्या पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक आयु समूहों का प्रश्न है १९३१ के आधार पर कहा जा सकता है कि १५ से ३० वर्ष की आयु की स्त्रियों में वृद्धि होने के कारण जन्मसंख्या में वृद्धि की अधिक सम्भावना है। इसके अतिरिक्त भारत में सन्तानोत्पत्ति को रोकने का कभी कोई प्रयत्न नहीं करता। संतति निग्रह के लिए भारत में कोई स्थान नहीं है। जो भी जितनी सन्तानोत्पत्ति कर सकता है करता है। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि भारतवर्ष में स्त्रियों की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति इङ्गलैंड की स्त्रियों की अपेक्षा कम है। इङ्गलैंड में १ हजार के पीछे १९६ और भारत में एक हजार के पीछे १६० है। भारतीय स्त्रियों की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति कम होने का कुछ लोग यह कारण बताते हैं कि सभ्यता के

विकास के साथ साथ संतानोत्पत्ति की शक्ति में वृद्धि होती है। यद्यपि प्रचलित मत यह है कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने तथा बौद्धिक विकास के होने पर सन्तानोत्पत्ति की शक्ति कम हो जाती है। परन्तु इस मत की पुष्टि में भी अखंडनीय प्रमाण नहीं दिये जा सकते। संयम का अभाव तथा संतति निरोध के कृत्रिम साधनों का उपयोग न होने के कारण भी जनसंख्या की वृद्धि होती है। भारत में स्त्रियों का स्वास्थ्य खराब रहने के कारण उनके गर्भ धारण में अनावश्यक विलम्ब होता है जो जन्म संख्या की वृद्धि के विरुद्ध है। इन सबका अध्ययन करने के उपरान्त हम एक नतीजे पर पहुँचते हैं अर्थात् भारत में वे तत्व अधिक प्रबल हैं कि जो जन्म संख्या को बढ़ाने में सहायक होते हैं। यही कारण है यहाँ जन्म संख्या अधिक है।

जहाँ तक जनसंख्या की भावी गतिविधि का प्रश्न है इस बात की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती कि जन्म संख्या की वृद्धि में कोई कमी हो क्योंकि जिन कारणों से जन्म संख्या बढ़ रही है उनमें कोई विशेष परिवर्तन होने वाला नहीं है। अभी तक एक और भी कारण था जो कि जनसंख्या की वृद्धि में सहायक हो रहा था। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व व्यवस्थापिका सभाओं तथा सरकारी नौकरियों में जाति के आधार पर चुनाव अथवा नियुक्तियाँ होती थीं। किसी जाति को व्यवस्थापिका सभाओं अथवा सरकारी नौकरियों में कितने स्थान प्राप्त होंगे यह उसकी जनसंख्या पर निर्भर था। अस्तु हिन्दू अथवा मुसलमान दोनों ही यह जानते थे कि जनसंख्या के कम होने का परिणाम यह होगा कि उनका राजनैतिक महत्त्व कम हो जावेगा। यही नहीं जनसंख्या बढ़े इसी ओर लोगों का अधिक ध्यान रहता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्यमवर्ग में शिक्षा का विस्तार होने पर स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार होने पर तथा उनमें शिक्षा का विस्तार होने पर संतति निग्रह की भावना का उदय होना स्वाभाविक है परन्तु अभी कुछ पीढ़ियों तक इस बात की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती कि जन्म संख्या में कमी हो।

मृत्यु संख्या : भारत की जनसंख्या पर प्रभाव डालने वाला दूसरा कारण मृत्यु संख्या है। भारत को केवल ऊंची जन्म संख्या प्राप्त करने का ही गौरव प्राप्त नहीं है वरन यहाँ मृत्यु संख्या भी बहुत अधिक है। विशेषकर भारत में माताओं तथा छोटे बच्चों की मृत्यु संख्या अत्यधिक है। १९२१ के उपरान्त भारत में प्रति हजार २२ या २३ मृत्यु संख्या रही है। १९२१-३१ में मृत्यु संख्या प्रति हजार ३१ थी। इस दृष्टि से मृत्यु संख्या में कमी हुई है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं परन्तु मृत्यु संख्या की यह कमी जन संख्या की साधारण प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती। बात यह थी कि १८९१ से १९२१ तक ३० वर्षों में पहले दस वर्षों में अकाल, दूसरे दस वर्षों में प्लेग तथा तीसरे दस वर्षों में इनफ्लुयंजा के कारण मृत्यु संख्या बहुत अधिक रही।

यह असाधारण कारण थे जिनसे मृत्यु संख्या बहुत अधिक रही किन्तु जहां तक साधारण मृत्यु संख्या का प्रश्न है उसमें कोई कमी नहीं हुई। नीचे की तलिका से हमें पिछले बीस वर्षों से भारत में जन्म और मृत्यु दर की प्रवृत्ति का परिचय मिल सकेगा।

वर्ष	जन्म दर (प्रति १०००)	मृत्यु दर (प्रति १०००)	जनसंख्या वृद्धि (प्रति १०००)
१६३१	३५	२५	१०
१६४०	३२	२२	११
१६५०	२६.४	१५.६	११

यह थोड़े संतोष की बात है कि पिछले ३० वर्षों से हमारी जन्म और मृत्यु दर बराबर कम होती जा रही है जिसका मुख्य कारण जनस्वास्थ्य पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाना है। परन्तु इसका जनसंख्या वृद्धि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जनसंख्या की वृद्धि का अनुपात वही प्रति वर्ष एक प्रतिशत के लगभग है। प्रजनन की वास्तविक दर में कमी होने पर भी हमारी समस्या वैसी की वैसी ही बनी है। भारतीय संघ की जनसंख्या में प्रति घंटे प्रायः ३६५ प्राणियों की वृद्धि हो रही है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि भारत में जन्म तथा मृत्यु के ठीक ठीक आँकड़े प्राप्त नहीं हैं अस्तु यदि मृत्यु संख्या की गणना में जो भूल है उसको भी हम ध्यान में रखें तो मृत्यु संख्या प्रति हजार ३३ मानी जा सकती है। १६३१-३५ में अन्य देशों की मृत्यु संख्या प्रति हजार इस प्रकार थी:—ब्रिटेन १२.२, जरमनी ११, फ्रांस १५.७, संयुक्त राज्य अमेरिका १०.६, जापान १८.१ और मिस्र २७.६। भारत में मृत्यु संख्या के अधिक होने के बहुत से कारण हैं। भारतीयों की चरम सीमा पर पहुँची हुई निर्धनता, जिसका परिणाम यह है कि उनके रहन सहन का दर्जा बहुत गिरा हुआ होता है और उनमें रोगों और मृत्यु से बचने की शक्ति बहुत कम रहती है; यही नहीं अधिकांश भारतीयों में स्वास्थ्य के नियमों की अज्ञानता, गन्दी आदतें तथा चिकित्सा तथा सफाई का समुचित प्रबन्ध न होने के कारण भी मृत्यु संख्या बहुत अधिक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है बच्चों और माताओं की मृत्यु संख्या और भी अधिक है। १६२१ से १६४० के वर्षों में बच्चों की मृत्यु संख्या हजार पीछे १५६ से १६८ तक रही, १६४० में यह संख्या १६० थी, १६२१ के उपरान्त बच्चों की मृत्यु संख्या में कुछ कमी अवश्य हुई है। यह आँकड़े भी सही आँकड़े नहीं हो सकते और वास्तविक मृत्यु संख्या इससे कहीं अधिक होगी। फिर भी यदि हम उस का ध्यान न भी रक्खें तो भारत में बच्चों की मृत्यु संख्या अन्य देशों की तुलना में बहुत अधिक है। आगे दिए गए कुछ अन्य आँकड़ों से यह बात सिद्ध हो जावेगी। प्रति हजार पीछे बच्चों की मृत्यु संख्या १६३१-३५ में ब्रिटेन में ६५, जरमनी में ७६

फ्रांस में ७३, संयुक्त राज्य अमेरिका में ५०, जापान में १२४, मिस्र में १६६ थी। उसी काल में भारत में प्रति हजार पीछे १७१ बच्चों की मृत्यु हुई। बच्चों की अत्यधिक मृत्यु संख्या के नीचे लिखे मुख्य कारण हैं:—बाल विवाह, जिससे बच्चे निर्बल उत्पन्न होते हैं, बच्चों को अफीम खिलाना, बच्चों के ठीक लालन पालन का ज्ञान माताओं को न होना, रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों में फंसे होना, बच्चों के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए किन बातों की आवश्यकता है उसका ज्ञान न होना। निर्धनता के कारण बच्चों को यथेष्ट दूध तथा पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता इस कारण भी बच्चों की मृत्यु संख्या अधिक है। इसी प्रकार माताओं की मृत्यु संख्या भी बहुत अधिक है। पब्लिक हैल्थ कमिश्नर के कथनानुसार (देखो जनगणना रिपोर्ट १९४१ भाग १ पृष्ठ ३४) भारत में हजार पीछे २० मर जाती हैं जब कि इङ्गलैंड तथा वेल्स में केवल २.६ की ही मृत्यु होती है। भारत में माताओं की मृत्यु संख्या अत्यधिक है यह स्पष्ट है और वे ही कारण जो कि साधारण मृत्यु संख्या के तथा बच्चों की मृत्यु संख्या के अत्यधिक होने के हैं वे ही माताओं की अधिक मृत्यु संख्या के हैं। हाँ, अच्छी दाइयों का अभाव तथा प्रसूतिगृह सम्बन्धी अवैज्ञानिक तरीके और अंधविश्वास के अतिरिक्त कारण भी हैं जिनके कारण बहुत बड़ी संख्या में माताओं की बच्चा उत्पन्न होने में मृत्यु हो जाती है।

मृत्यु संख्या के सम्बन्ध में जो ऊपर विवरण दिया जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष में मनुष्यों के स्वास्थ्य तथा जीवन के सम्बन्ध में स्थिति अत्यंत गिरी हुई है। भविष्य में उस स्थिति में कितना सुधार हो सकेगा यह कह सकना कठिन है। स्वास्थ्य सुधार के अतिरिक्त सबसे बड़ी समस्या जो कि हमें हल करनी होगी वह है भारतीयों की निर्धनता। जब तक कि भारतीयों की गरीबी को दूर नहीं किया जाता तब तक इसमें सुधार कठिन है। निर्धनता को दूर करने का प्रश्न स्वयं अपने में एक बहुत बड़ा प्रश्न है। हम यहाँ जिस बात पर विशेष रूप से जोर देना चाहते हैं वह यह है कि इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता। यह प्रश्न अन्य प्रश्नों से जुड़ा हुआ है। उदाहरण के लिए इसका सम्बन्ध देश की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं से है। जब तक हम उनका कोई हल नहीं निकालते तब तक इसको हल नहीं किया जा सकता। हम इस समय केवल इतना ही कह सकते हैं कि निकट भविष्य में इस सम्बन्ध में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा उसकी आशा करना व्यर्थ है। फिर इस दशाब्द में जहाँ तक जनसंख्या का प्रश्न है बहुत सी असाधारण घटनायें घटी हैं। द्वितीय महायुद्ध, बाढ़ तथा दुर्भिक्षों (बंगाल का दुर्भिक्ष) तथा विभाजन के फलस्वरूप लाखों व्यक्तियों का वध कुछ ऐसी असाधारण घटनायें हैं जिनका प्रभाव जनसंख्या पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि १९५१ की जनगणना यह अवश्य प्रगट करेगी कि

इस दशाब्द में मृत्यु संख्या अधिक रही।

जन्म तथा मृत्यु संख्या : यह हम ऊपर देख ही चुके हैं कि भारत में जन्म संख्या तथा मृत्यु संख्या दोनों ही अधिक हैं और निकट भविष्य में इस स्थिति में कोई विशेष सुधार होने के कोई चिन्ह दिखलाई नहीं देते। इन सब बातों से जनसंख्या की भावी वृद्धि के बारे में हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं ? यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धांत की नवीन व्याख्या के अनुसार जनसंख्या की वृद्धि के संबंध में अनुमान लगाने का यह वैज्ञानिक ढंग नहीं है कि जन्म संख्या में से मृत्यु संख्या को घटा दिया जावे। क्योंकि इसमें हम न तो स्त्री पुरुषों की संख्या का ही ध्यान रखते हैं और न आयु समूहों का ही ध्यान रखते हैं। अस्तु, जनसंख्या की वृद्धि के सम्बंध में भविष्यवाणी करने के अन्य अधिक वैज्ञानिक तरीके ढूँढ निकाले गए हैं। क्यूज़युस्किस का तरीका जिसे वास्तविक उत्पत्ति (Net Reproduction Rate) कहते हैं सबसे अधिक प्रचलित और सर्वमान्य सिद्धांत है। किंतु भारत में सही आँकड़ों के उपलब्ध न होने के कारण उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। किंतु हमारे लिए यह कोई विशेष असुविधा की बात नहीं है क्योंकि हमारे देश में आयु समूहों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हो रहा है जैसा कि पश्चिमीय देशों में हो रहा है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि भिन्न-भिन्न आयु पर मनुष्यों के अनुपात में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो रहा है जो कि जनसंख्या पर कोई विशेष प्रभाव डाल सके। अस्तु, भारत की जनसंख्या के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने में यदि हम जन्म और मृत्यु के आँकड़ों पर निर्भर रहें तो अधिक भूल नहीं होगी। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष ५० लाख की वृद्धि होगी। इसी आधार पर हमें देश के लिए भावी जनसंख्या सम्बन्धी नीति निर्धारित करनी होगी।

भारत के लिए सही जनसंख्या सम्बन्धी नीति की समस्या : अभी तक हमने वर्तमान जनसख्या सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन किया। इस अध्ययन का परिणाम यह निकला की हमारी जनसंख्या आज भी बहुत अधिक है और वह प्रतिवर्ष ५० लाख की गति से बढ़ रही है किन्तु हम केवल इसी पर निर्भर होकर भावी जनसंख्या सम्बन्धी नीति का निर्माण नहीं कर सकते, इस सम्बन्ध में भारतीयों की आर्थिक स्थिति का भी अध्ययन करना होगा। यदि हमें अपनी वर्तमान आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक प्रतीत हो और जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़े वैसे भविष्य में हमारी आर्थिक स्थिति में भी उसी के अनुपात में वृद्धि होती जावे तो हमें कोई चिंता न करनी चाहिए। परन्तु आज इसमें किसी को किञ्चित मात्र भी संदेह नहीं है कि हम भारतीय सभ्य संसार में सबसे अधिक निर्धन हैं और यद्यपि आर्थिक उन्नति की देश में असीम सम्भावनाएँ हैं परन्तु अभी कुछ दिनों हमें आर्थिक हीनता का जीवन

ा व्यतीत करना पड़ेगा। यद्यपि देश के स्वतंत्र हो जाने से एक बड़ी कठिनाई जो कि हमारी उन्नति के मार्ग में थी वह दूर हो गई है परन्तु फिर भी अभी कुछ समय के पश्चात ही हमारे आर्थिक विकास की योजनाएँ सफल हो पावेंगी और तभी देश का महान रोग निर्धनता दूर हो सकेगा। अभी देश के सामने बहुत सी समस्याएँ हैं जिनको हल करना है तभी उस ओर प्रयत्न हो सकेगा। अस्तु, हमारे लिए यही ठीक होगा कि हम आज की स्थिति के आधार पर ही इस प्रश्न का अध्ययन करें। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम देश के भावी आर्थिक विकास में विश्वास नहीं करते परन्तु यह मानना ही होगा कि अभी कुछ दिनों हमारी आर्थिक स्थिति ऐसी ही रहने वाली है। इसके अतिरिक्त भारत के विभाजन के फलस्वरूप जो असंख्य हिन्दू शरणार्थी पश्चिमी पञ्जाब, सीमा प्रांत, सिंध तथा पूर्वी बङ्गाल को छोड़कर भारतवर्ष में आगए हैं उन्हें भी बसाना एक भारी समस्या है। अस्तु, इन सब बातों को ध्यान में रखकर हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आज की स्थिति को देखते हुए भारत में जनसंख्या आवश्यकता से अधिक है, और भविष्य में हमें अपनी जनसंख्या को नियंत्रित करने की नीति को अपनाना होगा। जहाँ तक भावी जनसंख्या सम्बंधी नीति का प्रश्न है यही हमारे लिए बुद्धिमत्तापूर्ण तथा सही नीति हो सकती है। इससे पहले कि हम भारतवर्ष की अत्यधिक जनसंख्या के सम्बन्ध में विचारपूर्वक आलोचना करें हम एक महत्वपूर्ण चेतावनी दे देना आवश्यक समझते हैं। वह है भारत की नग्न निर्धनता तथा बढ़ती हुई जनसंख्या के पारस्परिक संबंध में। ब्रिटिश सरकार की सदैव यह मान्यता रही कि भारत की निर्धनता का मुख्य कारण बढ़ती हुई जनसंख्या है किंतु यह मत ठीक नहीं है। तथ्यों से यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अन्य देशों में जब आर्थिक उन्नति तेजी से हो रही थी और वे आर्थिक समृद्धि का अनुभव कर रहे थे उस समय उन देशों की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी। बढ़ती हुई जनसंख्या ने उन देशों की आर्थिक समृद्धि और उन्नति को रोकने अथवा कम करने के बजाय उसको और बढ़ाया। उसी काल में भारत की आर्थिक स्थिति पहले से भी बिगड़ गई। अतएव यह कहना कि भारत की निर्धनता का मुख्य कारण यहाँ की बढ़ी हुई जनसंख्या थी, गलत है। वास्तविक बात तो यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा होने वाला देश का आर्थिक शोषण ही इसका मुख्य कारण था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि बढ़ती हुई जनसंख्या पर कुछ नियंत्रण करने से हमारे भावी आर्थिक पुनः निर्माण में सहायता नहीं मिलेगी।

जीवित रहने की सम्भावनाएँ: भारतवर्ष में जो बालक जन्म लेता है उसके जीवित रहने की सम्भावनाएँ अन्य देशों के बालकों की अपेक्षा बहुत कम होती है। अन्य देशों में जीवन की लम्बाई में उन्नति हुई है किंतु भारत में जीवन की लम्बाई

में तनिक भी उन्नति नहीं हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि भारतीयों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा नहीं हुआ। भारतीयों के भोजन में यथेष्ट पौष्टिक तत्व नहीं होते। यही नहीं कि अधिकांश भारतीयों को यथेष्ट भोजन नहीं मिलता किंतु जो कुछ भोजन होता है वह लवण तथा विटैमिन पौष्टिक तत्वों की दृष्टि से घटिया होता है। नीचे हम इस सम्बन्ध में तुलनात्मक आँकड़े देते हैं जिनसे हमें भारत की हीन दशा का परिचय मिलेगा।

जीवित रहने की सम्भावनाएँ

न्यूजीलैण्ड ६७ वर्ष, ब्रिटेन ६२ वर्ष, जापान ४८ वर्ष, संयुक्त राज्य अमेरिका ६५ वर्ष, सोवियत रूस (योरोप) ४४ वर्ष, भारत २७ वर्ष।

१८६१ में ब्रिटेन में एक मनुष्य की औसत आयु केवल ४४ वर्ष थी किंतु आज वहाँ की औसत आयु बढ़कर ६२ वर्ष हो गई। यह इस बात का द्योतक है कि ब्रिटेन वासियों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा उठा है तथा चिकित्सा के प्रबन्ध में भी सुधार हुआ है। राष्ट्रसङ्घ ने जो आँकड़े इकट्ठे किए हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत में औसत आयु बहुत कम है। भारत में जीवित रहने की सम्भावनाएँ इतनी कम होने का कारण यह है कि भारत में बच्चों तथा माताओं की मृत्यु दर बहुत अधिक है। चिकित्सा का उत्तम प्रबन्ध होने पर इनकी मृत्यु दर कुछ कम अवश्य हो सकती है परन्तु रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा किए बिना उन्नत देशों के समान यह जीवित रहने की सम्भावनाएँ नहीं बढ़ सकतीं।

भारतीयों की आयु कम होने से देश को बहुत अधिक आर्थिक हानि होती है। जितना व्यय और श्रम मनुष्य के लालन-पालन में किया जाता है उसका पूरा प्रतिफल नहीं मिल पाता और बीच में ही जब कि स्त्री या पुरुष धन उत्पन्न करके देश को समृद्धिशाली बनाने के योग्य होता है तभी वह मृत्यु द्वारा छीन लिया जाता है। यही नहीं, रोके जा सकने वाली बीमारियों के कारण जो असंख्य श्रम-दिवस नष्ट होते हैं उनके कारण भी धनोत्पत्ति में हानि होती है। ऐसी दशा में यदि देश निर्धन रहे तो क्या आश्चर्य है।

भारत की एक विशेषता और भी है, जहाँ अन्य देशों में स्त्रियों की औसत आयु पुरुष से अधिक होती है वहाँ भारत में स्त्रियों की औसत आयु पुरुषों से कुछ कम है।

भारत की जन्म-दर तथा मृत्यु-दर संसार में सबसे अधिक है। इसका परिणाम यह होता है कि भारत में बच्चों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत अधिक है और वृद्ध स्त्री-पुरुषों की संख्या कम है। ५० वर्षों के उपरांत कम ही लोग भारत में जीवित रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि देश को उनके अनुभव का लाभ नहीं मिल पाता। योरोप में एक पुरुष ६५ वर्ष की आयु तक काम करता है जबकि

भारत में वह ५५ वर्ष पर ही काम करना बन्द कर देता है। अस्तु, भारत में कार्यशील जीवन (१५ से ५० तक) योरोपीय राष्ट्रों के निवासियों के कार्यशील जीवन (१५ से ६५ तक) से बहुत कम है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि धनोत्पत्ति करने वाली जनसंख्या का इस देश में अनुपात कम है।

भारत में अत्यधिक जनसंख्या का प्रश्न : यह हम ऊपर ही कह आये हैं कि भारत में जनसंख्या अधिक है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखते हुए आज जो जनसंख्या देश में निवास कर रही है वह अधिक है अर्थात देश में धन की जितनी उत्पत्ति हो रही है उसके द्वारा इतनी अधिक जनसंख्या का स्वास्थ्यप्रद रहन सहन नहीं रह सकता। भारतीय जनसंख्या का रहन सहन ऊँचा उठाने के लिए हमें अधिक उत्पादन तथा जनसंख्या का नियंत्रण करना आवश्यक होगा। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि हमारे आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन जिस परिणाम पर हम पहुँचे हैं उसका आधार नहीं है। हमारे देश के बहुत से प्रसिद्ध नेताओं तथा विद्वानों ने इस मत का खंडन किया है कि भारत में जनसंख्या अत्यधिक है अतएव हमें इस प्रश्न का विस्तार पूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

यह तो हम ऊपर देख चुके हैं कि भारत में जितनी संतानोत्पत्ति हो सकती है उतनी होती है क्योंकि भारतीय जन संतानोत्पत्ति को रोकने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते। न तो वे संयम ही रखते हैं और न संतति निग्रह के कृत्रिम उपायों को ही काम में लाते हैं। इसका परिणाम यह है कि भारत में जन्म संख्या बहुत ऊँची है। यह अत्यधिक जनसंख्या होने का पहला चिन्ह है। जनसंख्या के अत्यधिक होने का दूसरा चिन्ह है वे प्राकृतिक कारण जो कि जनसंख्या को बढ़ने से रोकते हैं। भारत में जो अत्यधिक मृत्यु संख्या है वह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि महामारी, दुर्भिक्ष तथा बाढ़ें भारतीय जनसंख्या और जीवन निर्वाह के साधनों का सामंजस्य उपस्थित करते हैं। इनके अतिरिक्त खाद्य पदार्थों की भीषण कमी भी इस बात का द्योतक है कि भारतवर्ष की जनसंख्या अधिक है। खेती की पैदावार भारतवर्ष में उसी अनुपात में नहीं बढ़ी जिस अनुपात में पिछले वर्षों में जनसंख्या बढ़ी है। अपनी पुस्तक 'चार करोड़ के लिए फूड अर्निङ्ग इन इंडिया' में डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है कि जब देश में पैदावार साधारणतः ठीक होती है उस वर्ष भी १२ प्रतिशत जनसंख्या के लिए भोजन की कमी रहती है अर्थात भारत अपनी १२ प्रतिशत जनसंख्या के लिए भोजन उत्पन्न नहीं करता। किन्तु डाक्टर पी० जे० थामस का मत दूसरा ही है। उनका कहना है कि १९२० २१ और १९२१-२२ तथा १९३०-३१ और १९३१-३२ में जबकि जनसंख्या १०'४ प्रतिशत बढ़ी तब खेती की पैदावार १६ प्रतिशत बढ़

गई और औद्योगिक उत्पादन ५१ प्रतिशत बढ़ गया।' इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत स्थापित कर सकना कठिन है क्योंकि सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के समय भारतवर्ष भर में और विशेषकर बङ्गाल, उड़ीसा तथा मदरास प्रांतों में जो खाद्य पदार्थों की भयङ्कर कमी का अनुभव हुआ उससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि देश में खाद्य पदार्थों की पैदावार कम है। जो भी हो हमारे देश का महान आर्थिक रोग है हमारी निर्धनता और यदि हम जनसंख्या की वृद्धि को कम करने का प्रयत्न करें तो उससे हमें राष्ट्रीय पुनः निर्माण में सहायता मिलेगी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

रोग को दूर करने के उपाय : जनसंख्या सम्बन्धी इस असन्तोषजनक परिस्थिति को दूर करने के लिए दो उपाय किए जा सकते हैं। पहला उपाय तो यह है कि जानबूझ कर विशेष प्रयत्नों द्वारा जनसंख्या की वृद्धि को रोका जावे। दूसरा उपाय यह है कि राष्ट्र की आय को बढ़ाया जावे और उसका अच्छा बँटवारा किया जावे। आज हमें कुछ हद तक दोनों उपाय काम में लाने की आवश्यकता है। देश के स्वतन्त्र हो जाने से हमारा भाग्य निर्माण हमारे हाथ में आ गया है और हम जिस प्रकार चाहें अपना आर्थिक नव-निर्माण कर सकते हैं। यदि देश में जो आर्थिक योजनाएँ तैयार हुई हैं उनको कार्य-रूप में परिणित किया जावे तथा जलविद्युत की योजनाएँ पूरी हो जावें तो उत्पादन बहुत कुछ बढ़ाया जा सकता है और उस दशा में जनसंख्या सम्बन्धी जो असन्तोषजनक स्थिति है उसमें अनायास ही सुधार हो सकता है। परन्तु आज बहुत सी कठिनाइयाँ हमारे देश के सामने ऐसी हैं कि शीघ्र देश उन आर्थिक योजनाओं को पूरा कर सकेगा इसमें सन्देह है। इस सम्बन्ध में हम अन्तिम परिच्छेदों में "आर्थिक योजनाओं" पर लिखेंगे। अस्तु, हमें जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगाने के सम्बन्ध में भी विचार करना होगा।

जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के दो मुख्य और सीधे उपाय हैं :— (१) कृत्रिम उपायों द्वारा जनसंख्या की वृद्धि को रोकना (२) संयम तथा नैतिक उपायों द्वारा सन्तानोत्पत्ति न होने देना।

(१) नैतिक संयम : कुछ व्यक्तियों का कहना है कि नैतिक संयम ही जनसंख्या को सीमित करने का सबसे अधिक सुगम तथा सुरक्षित तरीका है। पूज्य महात्माजी इस तरीके के प्रधान समर्थक तथा प्रचारक थे। किंतु प्रत्येक मनुष्य से जो कि अस्थि और मांस का बना हुआ है यह आशा करना व्यर्थ है कि वह लगातार अधिक समय तक संयम कर सके। इसके अतिरिक्त चिकित्सा शास्त्र के विशेषज्ञों का भी कहना है कि यदि विवाहित दम्पति लगातार लम्बे समय तक इन्द्रिय निग्रह करें तो उनके मस्तिष्क तथा शरीर पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(२) सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपाय : यदि जनसंख्या को सीमित करना चाहते हैं तो फिर केवल एक ही उपाय रह जाता है कि हम सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम में लावें। पश्चिम में इसका बहुत प्रचार हुआ है और उससे बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। हमारे देश में इस सम्बन्ध के दो विरोधी मत हैं। एक मत तो इसका घोर विरोधी है और उसमें पूज्य महात्माजी जैसी महान् विभूतियाँ हैं। कृत्रिम साधनों के विरुद्ध नीचे लिखे तर्क उपस्थित किए जाते हैं: (१) यह अनैतिक है (२) यह अप्राकृतिक है (३) इसमें यौन सम्बन्धी व्यभिचार को सहारा मिलेगा (४) यह केवल पढ़े लिखे तथा सम्पन्न स्त्री पुरुषों के द्वारा ही काम में लाया जावेगा।

हम पहले इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम में लाना अनैतिक है। महात्मा गाँधी का मत था कि बिना सन्तानोत्पत्ति की इच्छा किये स्त्री संसर्ग करना अनैतिक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक ऊँचा आदर्श है परन्तु अधिकांश मानव समाज का विचार इस सम्बन्ध में दूसरा है। आज सभ्य समाज के विचार में माता-पिता बनने और यौन संसर्ग करने में कोई सम्बन्ध नहीं है। आज का सभ्य समाज सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न रखने पर भी स्त्री पुरुष का संसर्ग अनैतिक नहीं मानता। एच. जी. वैल्स का कहना है "यौन सम्बन्ध केवल शारीरिक सम्बन्ध ही नहीं है वह मुख्यतः शारीरिक नहीं है, वह अनेक सुन्दर भावनाओं, सुन्दर कल्पनाओं, तथा सौंदर्योपासना से प्रेरित होता है।" इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सभी यौन सम्बन्ध इस श्रेणी में आ जाते हैं। यौन संसर्ग की इच्छा बहुत सी भावनाओं का प्रतीक होती है। वह बलात्कार से लेकर दो प्रेमियों की मिलन इच्छा को व्यक्त करता है। अस्तु आधुनिक सभ्य समाज उस यौन सम्बन्ध को अनैतिक नहीं मानता जो कि सन्तानोत्पत्ति की भावना या इच्छा से नहीं होता। किन्तु उसके अतिरिक्त इस प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है। यह कहाँ तक नैतिकता होगी कि माता-पिता अनैतिकता से बचने के लिए सन्तान उत्पन्न कर दें और उसका दंड बेचारे शिशुओं को सहना पड़े कि जिनका ठीक प्रकार से माता-पिता लालन-पालन करने में असमर्थ हैं। बच्चे केवल इसलिए पैदा किए जावें कि माता-पिता अनैतिकता के दोष से बचे रहें यह तो न्याय नहीं कहा जावेगा। अस्तु माता-पिता बनने तथा यौन सम्बन्ध को पृथक कर देने में कोई अनैतिकता का प्रश्न नहीं उठता। किसी किसी दशा में लालन-पालन के समर्थ न होने पर सन्तानोत्पत्ति करना ही अनैतिक हो सकता है।

सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपायों के विरुद्ध दूसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि वह अप्राकृतिक है। इस तर्क में अधिक तथ्य नहीं है। अप्राकृतिक सदैव बुरी हो और प्राकृतिक सदैव अच्छी हो ऐसा नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति भी एक प्रकार से अप्राकृतिक है इसीलिए हम जंगलीपन, असभ्यता और संस्कृतिविहीन जीवन का

समर्थन नहीं करने लग जावेंगे।

कृत्रिम उपायों के विरुद्ध तीसरा तर्क यह है कि इसके प्रचलन से समाज में व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलेगा। इसमें सन्देह नहीं कि इस तर्क में कुछ तथ्य है। व्यभिचारी स्त्री पुरुष कृत्रिम उपायों के द्वारा अपने व्यभिचार को छिपाने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु पश्चिमीय देशों के अनुभव से हमें यह ज्ञात होता है कि यदि एक व्यक्ति व्यभिचार को छिपाने के लिए कृत्रिम उपायों को काम में लाता है तो सौ मनुष्य अनावश्यक सन्तान के भार से बचने के लिए उपयोग करते हैं। अहिंसा कायरता को छिपाने का साधन बन सकती है इसलिए पूज्य महात्मा जी ने अहिंसा का उपदेश देना बन्द नहीं कर दिया। अस्तु, भय से उत्पन्न हुई नैतिकता वास्तव में नैतिकता नहीं है, सन्तति निग्रह इस भय को हटा देती है और नैतिकता को अपने पैरों पर खड़ा रहने का अवसर देती है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, यहाँ समाज में स्त्री पुरुषों का जो कि एक दूसरे के सम्बन्धी नहीं है मिलने के बहुत कम अवसर आते हैं अस्तु यहाँ इस बात का और भी कम भय है कि कृत्रिम उपायों को काम में लाने से व्यभिचार की वृद्धि होगी। अन्त में हमें यह बात न भूलना चाहिये कि चाहे आप सन्तति निग्रह को प्रश्रय दें अथवा सन्तति निग्रह को बिल्कुल रोकने का प्रयत्न करें परन्तु समाज में सदैव कुछ विलासिता के इच्छुक स्त्री-पुरुष रहते हैं जो समाज के नियमों की उपेक्षा करके यौन सम्बन्ध करते हैं, उनकी संख्या को कम करने का यह तरीका नहीं है वरन और ही तरीका है।

हाँ एक बात अवश्य है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि आरम्भ में सन्तति निग्रह को अपनाने वाले समाज में वही लोग होंगे जो शिक्षित हैं, प्रगतिशील हैं और ऊपर के वर्ग के हैं जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक है। इसका परिणाम यह होगा कि समाज के उस वर्ग में स्त्री पुरुषों की संख्या कम हो जावेगी जो कि बच्चों को उत्पन्न करके उनके लालन पालन की क्षमता रखते हैं। इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि समाज में अच्छे स्त्री पुरुषों का अनुपात कम हो जावे। किन्तु यह अस्थायी होगा और केवल कुछ समय के लिए ही होगा क्योंकि शिक्षा के साथ साथ कृत्रिम उपायों का प्रचलन सर्व साधारण में भी होगा और किसान और मजदूरों में भी सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपायों का प्रचार हो जावेगा। अस्तु, सब बातों को ध्यान में रखने पर हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि भारतवर्ष में सन्तति निग्रह का और उसके कृत्रिम उपायों का प्रचार किया जाना चाहिए। किन्तु इसमें कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ हैं जिनको दूर किये बिना यह आन्दोलन बलवान नहीं हो सकता। अभी तो भारतवर्ष में यह आन्दोलन वस्तुतः आरम्भ भी नहीं हुआ है। आर्थिक भार से दबा हुआ भारतीय मध्यम वर्ग इस ओर आकर्षित हो रहा है और कृत्रिम उपायों के बारे में सोचने लगा है।

इस आंदोलन के बलवान होने में सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि हमारे देशवासियों की मनोवृत्ति को हमें बदलना होगा, हमारे देश की प्राचीन परम्परा तथा कट्टरता का इस आंदोलन को गहरा विरोध सहन करना पड़ेगा और यह तभी हो सकता है कि जब संतति-निग्रह के पक्ष में संगठित और सफल प्रचार किया जावे। इसमें राज्य के मार्ग-प्रदर्शन की भी बहुत बड़ी आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त संतति निग्रह के वैज्ञानिक उपायों की जानकारी सर्व साधारण को कराना तथा विशेषज्ञ चिकित्सकों की सलाह भी उन व्यक्तियों को सुगमता पूर्वक उपलब्ध होनी चाहिए जो कि इन उपायों को अपनाना चाहें। इस कार्य के लिए क्लिनिक भी स्थापित करने होंगे जहाँ स्त्री पुरुषों को इन उपायों की शिक्षा दी जा सके। इसके लिए भी राज्य की सहायता की आवश्यकता होगी। इसके साथ ही सस्ते तथा अच्छे और वैज्ञानिक कृत्रिम साधनों का निर्माण करना होगा जिनको सर्व साधारण काम में ला सकें। हमें यह न भूलना चाहिए कि कृत्रिम साधनों के अवैज्ञानिक प्रयोग से बहुत हानि हो सकती है अस्तु उससे सर्व साधारण को अवगत करना होगा। अस्तु आवश्यकता यह है कि राज्य को इन कृत्रिम साधनों के निर्माण पर नियंत्रण स्थापित करना होगा जिससे कि सस्ती और अच्छी चीज ही बाजार में बेची जा सके और हानिकर साधनों का न तो विज्ञापन ही दिया जा सके और न उन्हें बेचा ही जा सके। अभी तक हम लोग स्वतंत्रता के लिए ब्रिटिश साम्राज्यशाही से युद्ध कर रहे थे, अस्तु न तो उस समय सरकार ही इस सम्बंध में सफलता पूर्वक कोई क़दम उठा सकती थी क्योंकि जनता का उसे विश्वास प्राप्त नहीं था और न राष्ट्रीय नेता अथवा राष्ट्रीय महासभा ही जनसंख्या के नियंत्रण की आवाज उठा सकती थी। यही कारण था कि उस समय इस सम्बंध में कोई संगठित प्रचार होना कठिन था। ऊपर की व्यवहारिक कठिनाइयों का अध्ययन करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब तक राज्य इस ओर प्रयत्नशील नहीं होता सफलता मिलना कठिन है। किंतु अब हम स्वतंत्र हैं अस्तु अब राज्य को इस सम्बंध में अपनी नीति बना लेनी चाहिए।

यदि राज्य आर्थिक निर्माण के कार्य को तेजी से हाथ में ले सके और उद्योग-धंधों को तेजी से उन्नति हो सके तो जनसंख्या को नियंत्रित करने की इतनी अधिक आवश्यकता न हो परन्तु यह आशा करना कि देश की निर्धनता को दूर करने तथा रहन सहन का दर्जा ऊँचा करने के लिए केवल उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न करना ही यथेष्ट होगा दुराशा मात्र है। हमें जनसंख्या को तेजी से बढ़ने से रोकना ही होगा। अस्तु, राज्य जितनी जल्दी इस ओर ध्यान दे उतना ही अच्छा है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यदि भारत की जनसंख्या को तेजी से बढ़ने देना अभिष्ट नहीं है तो हमें कृत्रिम साधनों से सन्तति निग्रह करना ही होगा इसके अतिरिक्त और दूसरा कोई

उपाय नहीं है।

प्रवास : यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि भारत के एक प्रांत से दूसरे में जनसंख्या का प्रवास नहीं हो सकता और न विदेशों में ही भारतीयों के जाने की सुविधा है। विभाजन हो जाने के उपरांत जो लाखों की संख्या में शरणार्थी भारत के भिन्न-भिन्न भागों में आ गए हैं उनके कारण स्थिति और भी दयनीय हो गई। अब कोई भी प्रान्त अधिक जनसंख्या को ग्रहण नहीं कर सकता। अभी तक आसाम, बंगाल, बम्बई तथा सिंध ही ऐसे प्रान्त थे कि जहाँ घनी आबादी वाले प्रान्तों जैसे बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रांत, संयुक्तप्रान्त, मदरास, नैपाल, राजपूताना, पंजाब तथा सीमाप्रान्त के मज़दूर जाते थे। आसाम के चाय के बाग तथा बम्बई और कलकत्ता की ओर इन प्रान्तों से मजदूरों का प्रवाह बहता रहता था। किंतु अब सिंध तो भारतवर्ष के बाहर पाकिस्तान में है। आसाम की जलवायु अच्छी न होने के कारण अन्य स्थानों से मजदूरों का वहाँ जाना कठिन था फिर अब वहाँ के चाय के बाग भी स्थानीय मजदूरों पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगे हैं। अस्तु अन्तर्प्रान्तीय प्रवास से भारत की जनसंख्या का प्रश्न हल नहीं हो सकता। यही स्थिति विदेशों की है। वहाँ भी भारतीयों के लिए बसने को स्थान नहीं है। इस समय लगभग ३० लाख से अधिक भारतीय विदेशों में बसे हुए हैं। अधिकांश भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य देशों में जाकर बसे हैं। भारत से दो प्रकार के लोग विदेशों में जाकर बसे हैं : (१) वे अकुशल मजदूर जो कि शर्तबंद कुली प्रथा के अनुसार फिजी, नैटाल, मारिशस, तथा पूर्वीय द्वीप समूह में ले जाये गए अथवा विशेष रूप से भरती कर के लङ्का तथा मलाया में ले जाये गए; (२) दूसरे प्रकार के वे भारतीय प्रवासी हैं जो कि व्यापारी, कारीगर, तथा अन्य देशों में लगे हुए लोग हैं। भारत से बाहर जाने वालों में अधिकांश रबर, चाय, काफी, गन्ने इत्यादि के खेतों में मजदूरों का काम करते हैं। १९१७ से शर्तबंद कुली की प्रथा को बंद कर दिया गया। साथ ही पिछले वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत देशों में भारतीयों के साथ बहुत अमानवीय व्यवहार किया जाने लगा है, उन पर बहुत से कानूनी प्रतिबंध लगा दिए हैं और विशेषकर अफ्रीका की वर्तमान सरकार तो पीढ़ियों से रहने वाले भारतीयों को उनके नागरिकता के अधिकारों को ही छीन कर सन्तुष्ट नहीं है उन्हें देश से निकाल देने पर उतारू है। भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्यांतर्गत देश भारतीयों को अपने यहाँ बसने देना नहीं चाहते। जो भारतीय भी विदेशों में हैं उनकी स्थिति दयनीय है और भविष्य में कोई भी देश भारतीयों को अपने यहाँ आकर बसने नहीं देना चाहता। अस्तु, यह निश्चित है कि प्रवास के द्वारा हमारी जनसंख्या की समस्या कभी हल नहीं हो सकती।

किसी जाति के स्त्री पुरुषों की कार्य शक्ति जिन बातों पर निर्भर रहती है उनमें

जातीय गुण एक मुख्य वस्तु है, उदाहरण के लिए जो लोग शारीरिक दृष्टि से निकम्मे हैं, मस्तिष्क की दृष्टि से उनकी दशा ठीक नहीं तथा नैतिक दृष्टि से वे पतित हैं वे अच्छी सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकते और समाज के हित में है कि उनपर प्रतिबन्ध लगा दिया जावे कि वे सन्तानोत्पत्ति न करें। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अभी तक जनसंख्या सम्बन्धी विज्ञान अधिक उन्नत नहीं हुआ है और आज यह कह सकना कठिन है कि वंश परम्परा का किसी व्यक्ति के चरित्र निर्माण में कितना हाथ रहता है। इसके अतिरिक्त दूसरी कठिनाई यह है कि समाज इस प्रकार के प्रतिबन्ध को आज तो सहन करने के लिए तैयार नहीं होगा। फिर भी इस प्रकार के नियंत्रण की आवश्यकता है इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारे देश में जो यह नियम हैं कि सगोत्रों में तथा सम्बन्धियों में विवाह सम्बन्ध नहीं हो सकता यह इस दृष्टि से लाभदायक हैं और अच्छे हैं किन्तु कुछ नियम ऐसे भी हैं जिनसे भारी हानि होती है, उदाहरण के लिए छोटी-छोटी बिरादरियों में ही विवाह होना इत्यादि। इस सम्बन्ध में केवल भारत को ही सुधार नहीं करना है वरन् संसार के सभी देशों को बहुत कुछ सीखना है। कुछ देशों में जैसे कि संयुक्तराज्य में इस सम्बन्ध में कुछ कानून बनाये गए हैं। उदाहरण के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका में गुप्त रोगों से पीड़ित स्त्री पुरुषों को, दिमाग से बहुत कमजोर व्यक्तियों को विवाह करने की मनाही है। वज्र मूर्खों को सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य बना दिया जाता है, यद्यपि उससे स्त्री संसर्ग में कोई बाधा नहीं पड़ती। यद्यपि इस प्रकार के प्रतिबन्ध अथवा कानून तभी लागू किए जा सकते हैं जबकि जनता इस प्रकार के नियमों की मांग करे।

उपसंहार : हमने भारतीय जनसंख्या की समस्या का सब दृष्टिकोणों से अध्ययन किया और हमने इस मत का समर्थन किया है कि हमें प्रयत्न करके भारत की जनसंख्या को तेजी से बढ़ने से रोकना चाहिए। यही हमारे देश के लिए विवेकपूर्ण नीति होगी। किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि केवल जनसंख्या की वृद्धि को रोकने मात्र से ही हमारा उद्देश्य नहीं है। जनसंख्या को अधिक न बढ़ने देना किसी भी देश का अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता। हमारा अन्तिम ध्येय तो देश की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को सुधारना है। अस्तु राष्ट्र निर्माण की एक सुसम्बद्ध योजना के साथ ही जनसंख्या की योजना को लेना होगा अन्यथा केवल जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का कोई अर्थ निकलने वाला नहीं है।

जनसंख्या की कुशलता

किसी भी जनसमुदाय की सामाजिक स्थिति को जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके रहन सहन के दर्जे का अध्ययन करें। किसी जनसमुदाय की सामाजिक स्थिति को जानने का एक नकारात्मक साधन यह भी है कि हम उस जनसंख्या

में कितने शरीर और मस्तिष्क में अपंग व्यक्ति हैं और कितने अपराध उस समाज में होते हैं उनका अध्ययन करें। प्रत्येक देश में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो कि शरीर की दृष्टि से अपंग हैं वे समाज के लिए एक भार हैं, उनका रहना देश के लिए एक आर्थिक हानि है। सच तो यह है कि निर्धनता, बीमारी, तथा अपराध सभी एक रोगी समाज के चिन्ह हैं। अस्तु हमें इस सम्बन्ध में जो सामिग्री मिले उसका अध्ययन करना चाहिए और यह मालूम करना चाहिए कि इसके क्या कारण हैं।

जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है इस प्रकार के आँकड़े अत्यन्त असन्तोषजनक हैं। १९३१ की जनगणना रिपोर्ट में लिखा गया है कि जिनका दिमाग़ कमजोर है उन्हें पागल लिख दिया जाता है, जो आंशिक रूप से अन्धे हैं उनको पूरा अन्धा लिख दिया जाता है। जहाँ तक कोढ़ का प्रश्न है, जनगणना के आँकड़े अत्यन्त भ्रामक हैं। कोढ़ तथा पागलपन लोग छिपाते हैं, प्रकट नहीं करते। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण उल्लेखनीय है। बीजापुर जिले की अन्ध सहायक समिति ने प्रति एक लाख स्त्री-पुरुषों के पीछे २६० को पूर्ण अन्धा पाया जबकि जनगणना-रिपोर्ट के अनुसार एक लाख के पीछे ७० ही पूर्ण अन्धे थे।

नीचे दी हुई तालिका से भारत में शरीर की मुख्य व्याधियों के सम्बन्ध में जानकारी हो सकती है:—

व्याधि	संख्या					
	१८८१—	१८९१—	१९०१—	१९११—	१९२१—	१९३१
पागल	८१,१३२—	७४,२७९—	६६,०२५—	८१,००६—	८८,३०५—	१२०,३०४
गूंगे बहरे	१९७,२१५—	१९६,८६१—	१५३,१६८—	१९९,८९१—	१८९,६४४—	२३०,८९५
अंधे	५२६,७४८—	४५८,८६८—	३५४,१०४—	४४३,६५३—	४७९,६३७—	६०१,३७
कोढ़ी	१३०,९६८—	१२६,२४४—	९७,३४०—	१०९,००४—	१०२,५१३—	१४७,९१

व्याधि	प्रति १००,००० पीछे व्याधि-ग्रस्त मनुष्यों की संख्या					
	१८८१—	१८९१—	१९०१—	१९११—	१९२१—	१९३१
पागल	३५	२७	२३	२६	२८	३४
गूंगे बहरे	८६	७५	५२	६४	६०	६६
अन्धे	२२९	१६७	११२	१४२	१५२	१७२
कोढ़ी	५७	४६	३३	३५	३२	४२
जोड़	४०७	३१५	२२९	२६७	२७२	३१४

१८८१ से १९०१ तक जो व्याधि-ग्रस्त मनुष्यों की जनसंख्या में कमी दृष्टिगोचर हो रही है वह जनगणना में सुधार तथा दुर्भिक्ष के कारण अधिक मृत्यु संख्या

के कारण हुई। और १६३१ में जो इस संख्या में वृद्धि हुई उसका कारण यह है कि व्याधिग्रस्त व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा तथा चिकित्सा आदि का प्रबंध अच्छा होने के कारण वे लोग अधिक दिनों जीवित रहे।

पागलपन : मस्तिष्क की खराबी का समाज के लिए विशेष प्रभाव पड़ता है। संयुक्तराज्य अमेरिका के अस्पतालों में आधे रोगी मस्तिष्क की गड़बड़ के पाये जाते हैं। भारतवर्ष में प्रति एक लाख व्यक्तियों के पीछे ३४ पागल हैं। किन्तु यह आँकड़े ठीक नहीं है क्योंकि कोई वज्र मूर्ख को भी पागल की श्रेणी में गिन लेता है तो कोई नहीं गिनता।

भारतवर्ष में गूंगे और बहरे होने का मुख्य कारण मिट्टी में आइडीन नमक का अभाव बतलाया जाता है। जिस प्रदेश में मिट्टी में यह नमक कम मिलता है वहाँ गूंगे और बहरों की संख्या अधिक है। उदाहरण के लिए जम्मू और काश्मीर में एक लाख व्यक्तियों के पीछे १५६ और सिक्किम में १४६ गूगे और बहरे हैं।

अंधापन : भारतवर्ष में अंधों की संख्या अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है। खेद की बात तो यह है कि बहुतों का अंधापन दूर किया जा सकता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आधे से अधिक अंधे इस प्रकार के हैं कि यदि प्रयत्न किया जाता तो उन्हें अंधा होने से बचाया जा सकता था। विशेष खेद और दुर्भाग्य की बात यह है कि बालकपन में ही अधिकांश अन्धे अपनी आँखें खो बैठते हैं, अधिकांश लोगों का विचार है कि फूली या जाला अंधेपन का मुख्य कारण है। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। अधिकतर बच्चे माता-पिता की भूलों, रहन-सहन की खराबी, तथा पुष्टिकर भोजन न पाने के कारण अन्धे हो जाते हैं। जाला और फूली को ठीक भी किया जा सकता है। चेचक, सिफलिस तथा अन्य भयङ्कर रोगों के कारण भारतवर्ष में अंधापन बढ़ गया है। अन्य देशों में यदि मजदूर अंधे हो जावें तो क्षतिपूर्ति कानून के अनुसार उनको हर्जाना दिया जाता है। यहाँ भी अन्धों को कुछ आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध होना चाहिए।

कोढ़ : ऐसा अनुमान किया जाता है कि संसार में ५० लाख कोढ़ी हैं और उनमें १० लाख भारतवर्ष में हैं। मनुष्य गणना के आँकड़े इस सम्बन्ध में अत्यन्त भ्रामक हैं और उनको आठ से गुणा करने पर ही भारत में कितने कोढ़ी हैं उनका पता लगाया जा सकता है। कारण यह है कि भारत में लोग इस रोग को छिपाये रहते हैं और पर्दा की प्रथा होने के कारण स्त्रियाँ तो इसको आसानी से छिपा सकती हैं।

रोग : हम यह तो पहले ही कह चुके हैं कि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष हैजा, प्लेग, इन्फ्लुएंजा तथा मलेरिया के कारण लाखों व्यक्ति मरते हैं। यही नहीं कि इन रोगों के कारण जीवन की हानि होती है वरन् मनुष्यों की कार्यशक्ति का भी नाश होता है। इनमें से बहुत सी बीमारियाँ यथेष्ट पुष्टिकर भोजन प्राप्त न होने के कारण होती हैं।

भारत में ५० प्रतिशत मृत्युएँ ज्वर से होती हैं। ज्वर एक बहुत भ्रामक शब्द है, इसमें क्षय से लेकर अन्य बहुत से रोग गिन लिए जाते हैं। वास्तव में यह निर्धनता के रोग हैं और उचित चिकित्सा तथा सफाई का प्रबन्ध होने पर उनमें से अधिकांश मृत्युएँ रोकी जा सकती हैं। इन रोगों के कारण जो जनशक्ति नष्ट होती है उसका मूल्य अरबों रुपया है। इस दृष्टि से बीमारियों को रोकना आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि पुष्टिकर भोजन प्राप्त हो तथा चिकित्सा इत्यादि का उचित प्रबन्ध हो तो भारत की जनता अर्थात् श्रमजीवियों की कार्यशक्ति बढ़ सकती है।

परिशिष्ट

भारत की पिछली गणनाओं के समय पर जनसंख्या

वर्ष	जनसंख्या लाखों में
१८८१	२५००
१८९१	२८००
१९०१	२८४०
१९११	३०३०
१९२१	३०६०
१९३१	३३८०
१९४१	३८९०

पाकिस्तान की जनसंख्या : १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ किन्तु देश का विभाजन हो गया। पाकिस्तान में पश्चिमीय पंजाब, सीमाप्रांत, बलूचिस्तान, सिंध तथा पूर्वीय बङ्गाल सम्मिलित हैं। समस्त बङ्गाल की १९४१ की मनुष्य गणना के अनुसार ६ करोड़ जनसंख्या थी। इस बटवारे के अनुसार पाकिस्तान में जाने वाले पूर्वीय बङ्गाल के भाग में ३ करोड़ ९७ लाख जनसंख्या चली गई। शेष २ करोड़ ३ लाख पश्चिमीय बंगाल में अर्थात् हिन्दोस्तान में रह गई। अस्तु, कुल बंगाल की ६४·९ प्रतिशत जनसंख्या पाकिस्तान में चली गई।

पजाब की ५६ प्रतिशत जनसंख्या पाकिस्तान में और ४४ प्रतिशत जनसंख्या हिन्दोस्तान में रह गई। कुल पाकिस्तान की जनसंख्या १९४१ की मनुष्य-गणना के आधार पर ६ करोड़ ५६ लाख है और शेष भारत (हिन्दुस्तान) की ३२ करोड़ ३२ लाख है। अस्तु, पाकिस्तान की जनसंख्या कुल भारत की जनसंख्या की तुलना में केवल १७ प्रतिशत है।

ऊपर दिए हुए आँकड़े १९४१ की मनुष्य-गणना के अनुसार दिये गए हैं। परन्तु विभाजन के उपरान्त जो नर-संहार हुआ और जो ५० या ६० लाख व्यक्ति पाकिस्तान से हिन्दुस्तान में आये और जो लाखों व्यक्ति हिन्दुस्तान से पाकिस्तान

में चले गये उनका ठीक-ठीक अनुमान लगाना असम्भव है। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की जनसंख्या के सम्बन्ध में ठीक-ठीक आँकड़े तो १९५१ की मनुष्य-गणना के उपरान्त ही ज्ञात हो सकते हैं।

संसार की आबादी का छठवां भाग भारतीय सङ्घ में निवास करता है। जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद भारत का ही स्थान है। १९४१ की जनगणना के अनुसार भारतीय सङ्घ में सम्मिलित प्रदेशों की जनसंख्या ३१,९०,१६,००० थी जो १९५१ में बढ़कर ३६,१८,१२,२५७ हो गई।

१९५१ में भारतीय सङ्घ की जनसंख्या

इकाई का नाम	क्षेत्रफल वर्ग मील में	जनसंख्या
आसाम	५४,०८४	९१,२९,४४२
बिहार	७०,३६८	४,०२,१८,९१६
बम्बई	१,१५,५७०	३,५९ ४३,५५९
मध्यप्रदेश	१,३०,३२३	२,१३,२७,८९८
मदरास	१,२७,७६८	५,६९,५२,३३२
उड़ीसा	५९,८६९	१,४६,४४,२९३
पंजाब	३७,४२८	१,२६,३८,६११
उत्तर प्रदेश	१,१२,५२६	६,३२,५४,११८
पश्चिमीय बङ्गाल	२९,४७६	२,४७,८६,६८३
हैदराबाद	८२,३१३	१,८६,५२,९६४
जम्मू और काश्मीर	८२,२५८	४३,७०,०००
कबायली क्षेत्र	—	५,६०,०००
मध्यभारत	४६,७१०	७९,४१,६४२
मैसूर	२९,४५८	९०,७१,६७८
पैप्सू	१०,०९९	३४,६८,६३९
राजस्थान	१,२८,४२८	१,५२,९७,९७९
सौराष्ट्र	२१,०६२	४१,३६,००५
तिरुवांकुर (ट्रावंकोर) कोचीन	९,११५	९२,६५,१५७
अजमेर	२,४२५	६,९२,५०६
भोपाल	६,९२१	८,३८,१०७
बिलासपुर	४५३	१,२७,५६६
कोड़गु (कुर्ग)	१,५९३	२,२९,२५५
दिल्ली	५७४	१७,४३,९९२

परिच्छेद ४

सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति और उसका देश के आर्थिक जीवन पर प्रभाव

पुराने अर्थशास्त्रियों ने जिस आर्थिक पुरुष की कल्पना की थी और जिसके आधार पर अर्थशास्त्र का भवन खड़ा किया गया था वह 'आर्थिक पुरुष' आज किसी भी आधुनिक अर्थशास्त्रज्ञ को मान्य नहीं है। आज अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्वान् इस बात को स्वीकार करता है कि अर्थशास्त्र का किसी विशेष प्रकार के व्यक्ति से सम्बंध नहीं है वरन् अर्थशास्त्र का सम्बंध साधारण व्यक्ति से ही है, जो कि केवल आर्थिक प्रयोजन से ही सारे कार्य नहीं करता वरन् उसके कार्य उसकी भिन्न-भिन्न भावनाओं—मानवीय, धार्मिक, सामाजिक और देशभक्ति—से भी प्रेरित होते हैं। यही नहीं, जिस वातावरण में वह पलता है उसका भी उसके कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। अस्तु, अर्थशास्त्र किसी विशेष प्रकार के व्यक्ति का अध्ययन नहीं करता जो कि साधारण व्यक्ति से भिन्न हो, वरन वह साधारण मनुष्यों के विशेष कार्य अर्थात् अर्थ सम्बंधी कार्यों का ही अध्ययन करता है। किंतु मनुष्य के सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों का उसके आर्थिक कार्यों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। जिस धार्मिक तथा सामाजिक वातावरण में कोई व्यक्ति रहता है वह उसके आर्थिक जीवन पर प्रभाव डालता है, और जिस आर्थिक वातावरण में कोई व्यक्ति रहता है वह उसके सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों पर प्रभाव डालता है। इस सबसे हमारे कहने का केवल इतना-सा ही तात्पर्य है कि किसी समाज के आर्थिक संगठन का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि उस समाज की धार्मिक, सामाजिक संस्थाओं तथा आदर्शों को भी ध्यान में रक्खा जावे। अस्तु; अब हम भारत की धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करेंगे क्योंकि उनका भारत के आर्थिक जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

जाति-प्रथा : भारत की एक महत्वपूर्ण संस्था जाति-प्रथा है जो कि हिन्दू समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि भारतवर्ष में जो जाति-प्रथा प्रचलित है वह अन्य देशों में प्रचलित सामाजिक वर्गीकरण से सर्वथा भिन्न है। भारतीय जाति प्रथा की विशेषता यह है कि जाति बंधन

अत्यन्त कठोर हैं और एक की दूसरी जाति में जाने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। भिन्न-भिन्न जातियों में खान-पान और विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकते। इस प्रकार के कठोर नियम या बन्धन पश्चिम के भिन्न-भिन्न वर्गों में दृष्टिगोचर नहीं होते। पश्चिमीय देशों में एक व्यक्ति एक सामाजिक श्रेणी से ऊँची सामाजिक श्रेणी में पहुँच सकता है यदि वह परिश्रमी और योग्य हो। उदाहरण के लिए निम्न श्रेणी का व्यक्ति मध्यम श्रेणी में पहुँच सकता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति जो कि ऊँची श्रेणी का व्यक्ति है नीची श्रेणी में आ सकता है। पश्चिमीय देशों में यद्यपि एक श्रेणी का व्यक्ति उसी श्रेणी के व्यक्ति से मिलना-जुलना चाहता है और अपने से नीची श्रेणी वाले से उसका सम्बन्ध नहीं रहता, परन्तु उनमें खान-पान अथवा विवाह-सम्बंध पर कोई बंधन नहीं होता। किंतु हिन्दुओं की जाति-प्रथा में खान-पान तथा विवाह-सम्बंध पर कठोर बन्धन लगा दिये गए हैं। एक जाति का व्यक्ति अपनी जाति वालों से ही खान-पान तथा विवाह-सम्बंध स्थापित कर सकता है, वह चाहे कितना ही प्रयत्न करे, ऊँची जाति में प्रवेश प्राप्त नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि जाति-प्रथा की यह कठोरता आरम्भ में नहीं थी। यह पिछले काल में ही उत्पन्न हुई है। हमारे प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में इस प्रकार के प्रमाण बहुत मिलते हैं कि आरम्भ में जाति प्रथा लचीली थी और उसके बंधन इतने कठोर नहीं थे। प्राचीन धर्म ग्रंथों से हमें पता चलता है कि क्षत्रिय पिता से उत्पन्न होने वाला व्यक्ति ब्राह्मण बन गया और ब्राह्मण पिता से उत्पन्न होने वाला व्यक्ति क्षत्रिय बन गया। उस समय जाति जन्मतः निर्धारित नहीं होती थी, वरन् योग्यता तथा कर्म के आधार पर निर्धारित होती थी। यह उलट-फेर चारों ही वर्णों में होता था, किंतु पहले तीन वर्णों में बहुत अधिक होता था; अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य एक दूसरे का पेशा करते थे और अपने वर्ण का परिवर्तन करते रहते थे। इससे यह तो स्पष्ट ही हो गया कि प्राचीन काल में जातियाँ जन्म पर आश्रित न हो कर कर्म पर आश्रित थीं। फिर क्या कारण है कि आगे चल कर जाति प्रथा में इतनी कठोरता आ गई और चार वर्णों के स्थान पर अगणित जातियाँ और उपजातियाँ उत्पन्न हो गईं ? यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसका कोई ठीक उत्तर देना कठिन है। आज तक इसका ठीक कारण ज्ञात न हो सका और यह रहस्य-मय ही रहा कि जाति-प्रथा का यह कठोर भवन किस प्रकार खड़ा हो गया। सच तो यह है कि भारत की जाति-प्रथा के पीछे कोई एक कारण नहीं है वरन् कई एक कारण हैं और वर्तमान जाति प्रथा उन सब का सम्मिलित परिणाम है। अस्तु, हम यहाँ उन कारणों का तो अध्ययन नहीं करेंगे जिनके परिणामस्वरूप हमारे देश में जाति प्रथा का ऐसा पेचीदा और सुदृढ़ भवन खड़ा हो गया, किंतु हम केवल इस जाति प्रथा का हमारे आर्थिक जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है उसका ही अध्ययन करेंगे।

इससे पहले कि हम जाति प्रथा के गुण दोषों की व्याख्या करें हमें उन हजारों जातियों को कुछ बड़ी-बड़ी श्रेणियों में बाँट लेना आवश्यक है। रिजले ने इन सभी जातियों को सात मुख्य श्रेणियों में बाँटा है जिनमें तीन श्रेणियाँ मुख्य हैं। पहली श्रेणी तो उन उपजातियों की है जो कि किसी कबीले अथवा जाति के कारण बनी हैं; उदाहरण के लिए अहीर, बङ्गाल के राजवंशी, राजपूताने के जाट और मेव। दूसरी श्रेणी में वे उपजातियाँ हैं जिनका आधार उनका पेशा है; उदाहरण के लिए बनिया, कुम्हार, बुनकर, नाई, सुनार, चमार, बढ़ई इत्यादि। तीसरी श्रेणी उन जातियों की है जो कि किसी मत अथवा सम्प्रदाय विशेष के कारण उत्पन्न हुई हैं; जैसे बम्बई प्रान्त के लिंगायत, बङ्गाल के बोस्तम और अथित इत्यादि। अब हम जाति-प्रथा के गुण-दोषों की विवेचना करेंगे।

जब हम आज की जाति प्रथा के कठोर बन्धनों को देखते हैं तो हमें अनायास ही ऐसा प्रतीत होता है कि वह सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त हानिकर प्रथा है। आज जब कि मानव जाति के लिए यह सम्भव हो गया है और उससे भी अधिक आवश्यक भी हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे तथा सहयोग की स्थापना हो, जो कि मानव-समाज की समृद्धि तथा उसकी शान्ति के लिए आवश्यक है, तब यह जाति-प्रथा एक विरोधाभास और हानिकर प्रथा दिखलाई देती है। किन्तु इससे हमें इस परिणाम पर पहुँचने में जल्दी न करनी चाहिए कि जाति प्रथा का उसके प्रदुर्भाव होने से आज तक यही स्वरूप रहा है। जब तक जाति-प्रथा में लचीलापन था और जाति कर्मानुसार निश्चित होती थी तब तक जाति प्रथा के गुण भी थे। सबसे पहला गुण यह था कि जाति प्रथा ने समाज में श्रम-विभाजन की स्थापना की जिसके कारण देश की आर्थिक उन्नति हुई और श्रम में अधिक कुशलता आई। यही नहीं, इसके कारण समाज को कला-कौशल की अच्छी शिक्षा देने का एक उत्तम और सस्ता साधन मिल गया। उदाहरण के लिए—बढ़ई का पुत्र अपने पिता के पास अपने घरेलू वातावरण में अनायास ही बढ़ईगीरी सीख जाता था और क्रमशः उस कला में पारंगत हो जाता था। उस समय जब कि कारीगरी तथा कला की शिक्षा की कोई विधिवत् व्यवस्था न थी, तब इसका और भी अधिक महत्व था। यही नहीं, जाति-प्रथा से एक दूसरा लाभ यह होता था कि किसी भी नवयुवक को अपनी आजीविका के लिए कोई पेशा ढूँढना नहीं पड़ता था वरन् उसको पेशा स्वतः ही प्राप्त हो जाता था। कोई भी व्यक्ति बेकार नहीं रहता था। उसकी आजीविका का प्रश्न तय हुआ रहता था। आज की भांति उसको संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता का सामना नहीं करना पड़ता था। अस्तु, जाति-प्रथा से ऊपर लिखे महत्वपूर्ण लाभ थे, परन्तु यह लाभ तभी तक थे जब तक कि जाति-प्रथा में लचीलापन था और उसमें जड़ता और कठोरता नहीं आई थी और रुचि के अनुसार व्यक्ति

को एक जाति अथवा पेशे से दूसरी जाति अथवा पेशे में जाने की सुविधा थी। जैसे ही यह लचीलापन जाता रहा और इस प्राकृतिक परिवर्तन तथा प्रगति का जाति-बन्धनों के कारण दम घुटने लगा वैसे ही उसकी उपयोगिता नष्ट होती गई।

जाति प्रथा का आर्थिक दृष्टि से ही केवल महत्व नहीं था वरन् सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक दृष्टि से भी विशेष महत्व था। जाति-प्रथा का एक लाभ यह था कि समाज में स्वास्थ्यकर सामाजिक आदर्श की स्थापना हो गई थी। व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों की अपेक्षा सामूहिक स्वार्थों को अधिक महत्व देता था। वास्तव में हिन्दुओं की जाति, उनका क्लब, मजदूर-सभा, बीमा सभा तथा हितों की रक्षा करने वाली संस्था है। जब कोई व्यक्ति विपत्ति में फँसता है तो वह अपने जाति भाइयों से सहायता पाने की आशा करता और प्रत्येक बिरादरी का व्यक्ति उस विपत्ति में फँसे हुए जाति भाई के प्रति अपना कर्तव्य निबाहता है। जाति के सुदृढ़ संगठन के ही कारण हिन्दू-समाज पर राजनैतिक आक्रमणों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इन आक्रमणों से हिन्दू-समाज के सुदृढ़ सङ्गठन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा इसका श्रेय जाति-बिरादरी के सुदृढ़ सङ्गठन को ही है। जाति प्रथा का एक लाभ यह हुआ कि प्रत्येक जाति अपनी सांस्कृतिक तथा धार्मिक परम्पराओं को सुरक्षित रख सकी। अस्तु, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में जाति प्रथा एक प्रगतिशील शक्ति का कार्य करती थी और आज वह निस्सन्देह हानिकारक संस्था बन गई है। जाति प्रथा की सारी उपयोगिता नष्ट हो चुकी है। अब उसको जीवित रहने देना समाज के हित में नहीं है।

आज जाति प्रथा का जहाँ तक आर्थिक दुष्परिणाम दिखलाई देता है वह स्पष्ट है। एक जुलाहे का लड़का चाहे जितना चमारी के कार्य में दिलचस्पी लेता हो, किन्तु वह उस कार्य को नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसकी जाति के लिए उचित नहीं समझा जाता। जाति प्रथा का सबसे बड़ा आर्थिक दृष्टि से दोष यह है कि उससे श्रम की गतिशीलता बिलकुल नष्ट हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि किसी-किसी पेशे में तो आवश्यकता से अधिक मजदूर मिलते हैं और कहीं-कहीं किसी-किसी पेशे या धन्धे में मजदूरों की बेहद कमी दृष्टिगोचर होती है। यही नहीं, जाति-प्रथा के द्वारा जो कारीगरी की शिक्षा की सुविधा मिलती थी वह भी नष्ट हो गई, क्योंकि उत्पादन के तरीकों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया है। नये-नये आविष्कार हो रहे हैं, बहुत सा कार्य यंत्रों द्वारा हो रहा है, ऐसी दशा में कारीगरी की शिक्षा का पुराना तरीका अनावश्यक और उपयोगिताहीन हो गया है। इसके साथ ही हाथ-कारीगरी पद्धति इतनी पुरानी हो गई है कि वह आधुनिक ढंग से यंत्रों द्वारा तैयार किए हुए माल की प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि कुटीर-धन्धों की विशेष अवनति हुई और वे नष्ट होने लगे। जाति-प्रथा के आधार पर जो धन्धे खड़े हुए थे

उनकी उन्नति रुक जाना अवश्यम्भावी था क्योंकि पिता से पुत्र पुराने तरीके को ही सीख सकता था, उसमें नवीनता अथवा प्रगतिशील उत्पादन के तरीके को प्रवेश कराना सम्भव नहीं था। अस्तु; आज जो ग्रामीण धन्धे अवनत दशा में दिखलाई दे रहे हैं उसका मुख्य कारण उनका जातिगत आधार है। कुछ विद्वानों का कथन है कि जाति-प्रथा बड़ी मात्रा के उत्पादन के लिए एक भारी रुकावट है; क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म श्रम-विभाजन के अनुकूल नहीं है, वह सूक्ष्म श्रम-विभाजन को रोकती है। जाति-प्रथा के कारण धन का उपभोग भी स्थानीय और सीमित हो जाता है और किसी एक वस्तु की बहुत अधिक मांग उत्पन्न नहीं हो पाती।

आर्थिक जीवन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी जाति-प्रथा की पुरानी उपयोगिता नष्ट हो गई है। आज जब कि देश में राष्ट्रीय एकता की भावना की आवश्यकता सर्वोपरि है, तब जाति-प्रथा के द्वारा समाज में भेद-भाव और संकुचित मनोवृत्ति का उदय होता है। यही नहीं कि जाति-प्रथा राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध होती है वरन् सांस्कृतिक एकता के लिए भी एक बड़ी रुकावट सिद्ध हो रही है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में जबकि बीमा कम्पनियों के द्वारा व्यक्ति के लिए आर्थिक सुरक्षा की समस्या हल हो गई है, तथा बैंकों के द्वारा व्यक्तिगत बचत के जमा करने की सुविधा उत्पन्न हो गई है और क्रमशः सामाजिक बीमे के द्वारा राज्य बेकारी, बीमारी तथा बुढ़ापे के समय मजदूरों के लिए आर्थिक समस्या का समाधान करने जा रहा है, तब जाति की यह उपयोगिता भी नष्ट होती जा रही है। प्राचीन काल में जाति सङ्गठन एक प्रकार से बीमा संस्था थी, किन्तु आज व्यक्तिवाद के युग में उसका जीवित रहना कठिन हो गया है। आज एक युवक जिसकी अपनी निजी महत्वाकांक्षाएँ तथा इच्छाएँ हैं, वह जाति भाइयों के अपने ऊपर अधिकार की नितान्त अवहेलना करता है, अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों को जो कि वह जाति के बाहर स्थापित करता है, अधिक मान्यता [illegible]ता है। जाति-प्रथा का एक भारी दोष यह भी है कि प्रत्येक युवक को अपनी जाति[illegible]ी युवती से ही विवाह करना पड़ता है और इस प्रकार एक ही जाति के अंतर्गत युव[illegible] तथा युवतियों का विवाह होने से जातीय ह्रास होता है। साथ ही साथ इसका [illegible] परिणाम यह भी होता है कि किसी-किसी जाति में स्त्रियों की कमी हो जाती है [illegible]ी जाति में स्त्रियों की अधिकता होती है। इसके परिणामस्वरूप भयङ्कर दहेज[illegible]का भूत समाज में उत्पन्न हो गया है। यही नहीं नैतिक पतन तथा शिशु हत्या और पुन[illegible] के परिणाम हैं। श्रम के प्रति ऊँची जातियों की उदासीनता भी जाति-प्रथा का गया [illegible]दुर्गुण है। ऊँची कही जाने वाली जातियाँ शारीरिक श्रम को घृणा की दृष्टि से देख[illegible]हैं, क्योंकि उस प्रकार के श्रम को नीची जातियों के लोग करते हैं। इन सब दोषों के [illegible]तिरिक्त जाति-प्रथा में जो ऊँच-नीच की भावना दृढ़ता से जमी हुई

है, वह मानव-समाज के बराबरी के नैतिक सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है और समाज में ऊँच-नीच की भावना को प्रश्रय देती है। इस कारण उसका नष्ट होना ही समाज के लिए श्रेयस्कर है।

इस सैद्धान्तिक विवेचना के उपरान्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आज जाति-प्रथा की देश में क्या स्थिति है और उसका भविष्य कैसा है। जहाँ तक भारत के कोटि-कोटि निवासियों का प्रश्न है उनके लिए जाति आज भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज भी जाति उनके कार्यों तथा जीवन पर गहरा प्रभाव डालती है। किन्तु वे लोग जो कि पश्चिमीय सभ्यता से प्रभावित हुए हैं, जिन पर पश्चिमीय शिक्षा तथा विचारों का प्रभाव है, उनका दृष्टिकोण बदल गया है। आज शिक्षित जन व्यक्तिवाद की भावना से प्रभावित हैं, जो कि नवीन विचारों और नवीन शिक्षा की देन है। इसके परिणामस्वरूप जाति के बन्धन ढीले हो रहे हैं और उसका प्रभाव गिर रहा है। आज शिक्षित समुदाय में भिन्न-भिन्न जाति के व्यक्ति साथ-साथ खाने-पीने में संकोच नहीं करते, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह अभी भी बहुत कम होते हैं। आज बहुत से युवक भविष्य में उन्नति की इच्छा से अपने पैतृक कार्य को छोड़कर अन्य कार्यों को कर रहे हैं। देश में आर्थिक परिवर्तन होने से तथा गमनागमन के साधनों की उन्नति के कारण गाँवों पर भी आर्थिक परिवर्तनों का गहरा प्रभाव पड़ा है और उसके फलस्वरूप जाति-पांति का बन्धन ढीला पड़ गया है। आधुनिक स्कूलों, व्यापार गृहों तथा कार्यालयों के कारण भी इस परिवर्तन के लाने में विशेष सुविधा हुई है। संक्षेप में आज के समय की भावना जाति-पांति के विरुद्ध है। आज का युवक उसका बन्धन सहन नहीं करना चाहता। किन्तु अभी बहुत समय लगेगा जबकि भारत से जाति-प्रथा का प्रभाव सर्वथा समाप्त हो जावेगा। जैसे-जैसे देश में शिक्षा का प्रसार होगा और उससे देश में रहन-सहन के दर्जे तथा संस्कृति की एकता स्थापित होगी, वैसे ही वैसे जाति-प्रथा का प्रभाव और महत्व कम होता जावेगा और हमारे समाज से जाति-प्रथा का भूत नष्ट हो जावेगा। इस बुराई को जो शताब्दियों से यहाँ जमी कि है, दूर करने का कोई सरल और सीधा तरीका नहीं है। यह धीरे-धीरे ही दूर हो -प्रथ इस सम्बन्ध में हम ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज आदि के समाज-सुधार के का क्योंकि शंसा किए बिना नहीं रह सकते। इन धार्मिक आन्दोलनों के कारण भी तो कि रहे हैं, का प्रभाव कम हुआ है। अंत में महात्मा गांधी के अस्पृश्यता को दूर कर प्रथा पुराना न और उनके ऐतिहासिक पूना-उपवास को भी नहीं भुलाया जा सकता इसी -कारीगरी रण देश में एक सामाजिक क्रांति हुई। भारत से छुआछूत के भयङ्कर एक कए हुए म करने में जितना महत्वपूर्ण कार्य महात्मा गांधी ने किया वैसा कार्य अती -धन्धों कि अथवा संस्था से नहीं बन पड़ा। इन नव प्रयत्नों का फल यह हुआ कि द गो धन्धे सयों में जाति-

प्रथा और विशेषकर छूआछूत के विरुद्ध एक तीव्र भावना का उदय हुआ। किन्तु शताब्दियों की बनी हुई परम्परा एक दिन में टूट नहीं सकती, वह धीरे ही धीरे नष्ट होगी। यही कारण है कि जाति-प्रथा और अस्पृश्यता आज भी जीवित है। जैसे-जैसे देश में शिक्षा का विस्तार होगा वैसे ही वैसे धीरे-धीरे यह रोग नष्ट हो सकेगा। समय और शिक्षा ही देश को इस भयङ्कर रोग से मुक्ति दिला सकेंगे।

सम्मिलित कुटुम्ब : एक दूसरी सामाजिक संस्था जिसके सम्बन्ध में हमें जानकारी प्राप्त करनी है वह है सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली। हिन्दुओं की सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली पश्चिमीय व्यक्तिगत परिवार से सर्वथा भिन्न है। पश्चिमीय व्यक्तिगत परिवार में पति पत्नी तथा उनके बच्चे ही होते हैं, किन्तु इसके विरुद्ध हिन्दू सम्मिलित परिवार में सात पीढ़ियों तक के लोग एक साथ रहते हैं। उनका भोजन एक साथ बनता है, वे साथ-साथ पूजा करते हैं, उनका कारबार एक साथ होता है और उनका रुपया पैसा एक साथ रहता है। परिवार में सबसे बड़ा पुरुष ही परिवार का मुखिया होता है, उसकी आज्ञा से ही परिवार का संचालन होता है। परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि परिवार के अन्य सदस्यों की इच्छा का कोई मूल्य नहीं होता अथवा उनकी नितांत अवहेलना की जाती है, परंतु उनकी इच्छा सर्वमान्य अथवा सर्वोपरि नहीं हो सकती। वह तो परिवार के मुखिया की ही हो सकती है। परिवार के छोटे अथवा तरुण सदस्य परिवार के मुखिया के विचारों अथवा इच्छाओं के सामने अपने विचारों और इच्छाओं को प्रसन्नतापूर्वक छोड़ देते है। अपने बड़ों की इच्छानुसार कार्य करने में वे अपना गौरव और प्रसन्नता मानते हैं। इसी प्रकार घर-गृहस्थी का प्रबंध करने के लिए परिवार की सबसे बड़ी स्त्री होती है जो घर का प्रबंध करती है। घर में उसी का शासन चलता है। परिवार के सभी सदस्यों की कमाई परिवार के कोष में जमा होती है, परिवार का मुखिया उसको व्यय करता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार दिया जाता है। परिवार के मुखिया का कर्तव्य होता है कि वह परिवार के प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करे। परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्यों की आमदनी चाहे जितनी हो, कोई अधिक कमाता हो और कोई कम कमाता हो, परंतु सभी को एक समान रहना पड़ता है। सबका रहन-सहन का दर्जा एक-सा होता है। सम्मिलित परिवार की प्रणाली के प्रादुर्भाव के सम्बंध में सबों का मत यह है कि पशु-पालन के जीवन से कृषि का जीवन स्वीकार करने में स्थायी गृह का निर्माण करना आवश्यक था, और पुरुषों की खेती में अधिक महत्ता होने के कारण सम्मिलित परिवार को जन्म दिया गया। एक ही पिता की संतान होने के कारण, एक ही धर्म तथा परम्परा को स्वीकार करने के कारण, तथा पुराने आर्थिक सङ्गठन में पैतृक धंधों तथा

पेशों का महत्व होने के कारण, तथा गमनागमन के साधनों की कमी के कारण सम्मिलित परिवार को बल मिलता रहा।

इस प्राचीन संस्था के कुछ विशेष गुण हैं जिनसे वह आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से उपयोगी संस्था सिद्ध हुई है। सम्मिलित कुटुम्ब का पहला गुण तो यह था कि परिवार में साधारण रूप से श्रम-विभाजन सम्भव हो सकता था। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार तथा शक्ति के अनुसार कार्य मिल सकता था। आज भी हम देखते हैं कि गाँवों में किसान अथवा कारीगरों की स्त्रियाँ तथा बच्चे किस प्रकार पुरुषों की उनके काम में सहायता करते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही घर में रहने तथा एक साथ भोजन करने से बहुत किफायत होती है, क्योंकि बहुत-सा बेकार खर्चा जो प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है, बच जाता है। बड़ी मात्रा की बचत सम्मिलित परिवार में पूरी तरह से देखने को मिलती है। ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटने तथा बिखर जाने की भी सम्मिलित परिवार में सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि सारी भूमि परिवार की होती है, उसका बटवारा नहीं होता। सम्मिलित परिवार के इन आर्थिक गुणों के अतिरिक्त कुछ सामाजिक लाभ भी हैं। इसके द्वारा परिवार के सदस्यों में व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर परिवार के लाभ की उद्धत भावना जाग्रत होती है। यही नहीं, सम्मिलित परिवार के सदस्यों में त्याग, अनुशासन तथा पारस्परिक सहानुभूति तथा सहायता करने की ऊँची भावना भी उदय होती है। इसके अतिरिक्त सम्मिलित कुटुम्ब वृद्धों, बीमारों, अनाथों, विधवाओं तथा अपाहिजों के लिए बीमा कम्पनी का काम करता है। इस प्रकार के सभी निरीह-लोगों की सम्मिलित परिवार में देखभाल होती है, साथ ही उनसे उनकी योग्यता तथा शक्ति के अनुरूप ही कार्य लिया जाता है।

आज की बदलती हुई परिस्थिति में सम्मिलित परिवार के दुर्गुण अधिक व्यापक और महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं और वह उतनी लाभदायक संस्था नहीं रही है। आर्थिक दृष्टि से सम्मिलित परिवार के कारण उसके सदस्यों में आलस्य और अकर्मण्यता उत्पन्न होती है। उसका कारण यह है कि जो अधिक कमाता है उसको अधिक नहीं मिलता और जो कुछ भी नहीं कमाता वह भी सम्मिलित परिवार पर आश्रित रहकर जीवन व्यतीत करता है। दूसरे शब्दों में सम्मिलित परिवार आलस्य और अकर्मण्यता को प्रोत्साहन देता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास तथा साहस की भावना को नष्ट करता है। इसका समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। वे लोग भी जो कि जीविका उपार्जन के लिए अयोग्य हैं, अथवा जो जानबूझ कर अकर्मण्य बने हुए हैं, विवाह कर लेते हैं। उनका विवाह होने में कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योंकि भारतवर्ष में विवाह व्यक्ति का नहीं वरन् परिवार का कर्तव्य समझा जाता है और परिवार के आर्थिक साधन उसके पीछे होते हैं। यही कारण है कि सम्मिलित परिवार के सदस्य बिना

किसी विचार के अधिक से अधिक सन्तानोत्पत्ति करने में संकोच नहीं करते। सम्मिलित परिवार का एक भारी दोष यह है कि इसके द्वारा अयोग्य, आलसी तथा अकर्मण्य लोगों का पालन होता है तथा पूँजी इकट्ठी नहीं होती। सम्मिलित परिवार में जो श्रम-विभाजन दिखलाई देता है वह उस प्रारम्भिक अवस्था के लिए तो ठीक है कि जब उत्पादन छोटी मात्रा में होता है, परन्तु बड़ी मात्रा के उत्पादन के लिए सम्मिलित परिवार एक अड़चन है। सम्मिलित परिवार के जो सामाजिक तथा नैतिक गुण थे आज वे भी प्रायः नष्ट हो गए हैं; क्योंकि घरों में आपसी कलह और द्वेष ही अधिक दिखलाई पड़ता है जिसके कारण सम्मिलित कुटुम्ब का विशेष गुण शान्ति, सुख तथा सद्भावना, नष्ट हो गए हैं।

जिन कारणों से सम्मिलित परिवार को संस्था नष्ट होने जा रही है वे लगभग वही हैं जो कि जाति-प्रथा को नष्ट कर रहे हैं। आज जो व्यक्तिवाद की भावना प्रबल हो उठी है उसके फलस्वरूप कोई भी व्यक्ति एक परिवार के उस भारी बोझ को जो कि उसके व्यक्तिगत सुखभोग तथा महत्त्वाकांक्षा में बाधक होता है ढोना नहीं चाहता। आज की बदलती हुई आर्थिक परिस्थिति में युवकों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे अपने पैतृक गृह को छोड़कर बाहर जा कर धन कमायें। इसका परिणाम यह होता है कि सम्मिलित परिवार नष्ट हो जाता है। आज जब हम एक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक संक्रान्ति-काल में से गुजर रहे हैं, तब विचारों में विरोध तथा दृष्टिकोण में मतभेद होना अनिवार्य है। इस कारण भी परिवार टूटने लगे हैं, क्योंकि इससे घर की शान्ति नष्ट होती है। गमनागमन के साधनों की सुविधा, आधुनिक शिक्षा के प्रसार, शहरों का आकर्षण तथा तरुणों में स्वतन्त्र जीवन की आकांक्षा आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनके कारण सम्मिलित परिवार संस्था नष्ट होती जा रही है। खेद की बात यह नहीं है कि यह प्राचीन संस्था नष्ट हो रही है, क्योंकि आज की परिस्थितियों में उसका विनाश होना अवश्यम्भावी है; परन्तु खेद इस कारण है कि एक ओर प्राचीन सामाजिक संगठन जर्जर होकर गिर रहा है, किन्तु दूसरी ओर नवीन सामाजिक संगठन खड़ा नहीं हो रहा है कि जिससे समाज को इस सामाजिक परिवर्तन से जो हानि होने वाली है उससे बचाया जा सके। उदाहरण के लिए सम्मिलित कुटुम्ब जो कि वृद्धों, अपाहिजों, तथा अशक्तों का एक प्रकार से जीवन-बीमा करता था नष्ट हो चुका है; किन्तु अभी तक बुढ़ापे की पेंशन तथा अन्य सामाजिक बीमे की सुविधायें देश में पूरी तरह से उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। यह एक नवीन समाज के जन्म लेने में होने वाले कष्ट हैं। परन्तु अब यह आशा की जा सकती है कि स्वतन्त्र भारत में यह कष्ट अधिक नहीं होंगे।

इस सम्बन्ध में हमें हमारे उत्तराधिकार के नियमों का भी अध्ययन कर लेना

आवश्यक है, क्योंकि उनका हमारे आर्थिक जीवन पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। आरम्भ में जायदाद या सम्पत्ति का विचार सम्मिलित कुटुम्ब की भावना से सम्बन्धित था। परिवार की सम्पत्ति परिवार के सभी सदस्यों की सम्पत्ति थी और परिवार का मुखिया उसका प्रबन्ध करता था। किन्तु कुछ समय व्यतीत होने के उपरान्त सम्पत्ति के बँटवारे का प्रश्न उठा और इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त और नियम निर्धारित किये गए। इस समय हमारे देश में उत्तराधिकार के दो महत्वपूर्ण नियम और सिद्धान्त प्रचलित हैं। 'मिताक्षरा' नियम के अनुसार परिवार के सभी सदस्य, यहाँ तक कि पिता के जीवन-काल में पुत्र भी, परिवार की जायदाद के संयुक्त स्वामी होते हैं और उस समय तक जब तक कि कोई सदस्य बँटवारा नहीं चाहता जायदाद संयुक्त रहती है। दूसरे नियम 'दायभाग' के अनुसार पिता के जीवनकाल में पुत्र परिवार की सम्पत्ति का संयुक्त स्वामी नहीं है और जायदाद का बँटवारा भाइयों अथवा भाइयों के उत्तराधिकारियों के बीच ही हो सकता है, पिता-पुत्र के बीच नहीं हो सकता। बंगाल में दायभाग नियम प्रचलित है और शेष भारत में मिताक्षरा नियम का प्रचलन है। मुसलमानों में सम्पत्ति के संयुक्त होने की परम्परा नहीं है, परन्तु मुसलमानों में भी सम्मिलित परिवार मिलते हैं। मुसलमानों में जायदाद का स्वामी—फिर वह जायदाद चाहे पैतृक हो अथवा स्वयं अर्जित की हुई हो—उस जायदाद का अपने जीवन काल में पूर्ण स्वामी होता है। उसकी मृत्यु के उपरान्त हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में वह जायदाद कहीं अधिक उत्तराधिकारियों में बँटती है। मुसलमानों में लड़कियों को भी पिता की जायदाद का भाग मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि न हिन्दुओं और न मुसलमानों में ही यह नियम है कि केवल ज्येष्ठ पुत्र को ही सारी जायदाद मिले। केवल देशी राज्यों में यह नियम प्रचलित था कि राज्य अथवा जागीर ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलती थी। प्रान्तों में कुछ बड़े-बड़े जमीदारों के बारे में भी यही नियम लागू है।

इस प्रकार के उत्तराधिकार नियम के क्षेत्र में एक बात यह है कि इससे सम्पत्ति केवल कुछ लोगों के ही हाथ में इकट्ठी नहीं रह पाती, उसका समान रूप से सब भाइयों में बँटवारा हो जाता है। जहाँ तक भूमि की जायदाद का प्रश्न है इससे स्वतंत्र किसान भू-स्वामीवर्ग उत्पन्न होता है। जिनके पास थोड़ी-थोड़ी भूमि होती है वे उसके स्वामी होते हैं और उस पर खेती करते हैं। दूसरा लाभ इस नियम का यह भी होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन आरम्भ करने के लिए कुछ न कुछ मिल ही जाता है जिसे वह अपनी योग्यता के अनुसार बढ़ा सकता है। किन्तु यदि इसकी अति करदी जावे जैसा कि आज हमारे देश में हुआ है और जो हमारी आर्थिक हीनता तथा भूमि पर जनसंख्या के अत्यधिक भार के कारण हुआ है, तो यह एक भीषण बुराई के रूप में दिखलाई

देता है। आज इसका सबसे भयंकर परिणाम हमें भूमि के बँटवारे तथा खेतों के बिखरे होने के रूप में दिखलाई देता है। यहाँ हमें यह न भूल जाना चाहिए कि खेतों के छोटे और बिखरे होने का कारण यह उत्तराधिकार नियम नहीं है वरन् भूमि पर जन-संख्या का अत्यधिक भार है। इन उत्तराधिकार नियमों का इसमें केवल इतना सा भाग है कि इनके द्वारा भूमि का बँटवारा सम्भव हो सका। अस्तु; भूमि के बँटवारे तथा खेतों के बिखरे होने की समस्या को हल करने के लिए उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है वरन् हमारी आर्थिक स्थिति में सुधार की आवश्यकता है जिससे कि भूमि पर जनसंख्या का भार कम हो।

अभी तक हमने अपनी सामाजिक संस्थाओं के आर्थिक प्रभाव का अध्ययन किया अब हम अपने आर्थिक जीवन पर धार्मिक प्रभाव का अध्ययन करेंगे। इस सम्बन्ध में भारतवर्ष में बहुत अधिक भ्रम फैला हुआ है। बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि भारतीय भौतिक उन्नति की ओर से नितान्त उदासीन हैं और आध्यात्मिक उन्नति को ही सब कुछ मानते हैं; यही कारण है कि भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश है। उन लोगों की मान्यता है कि भारत की धार्मिकता ही उनके निर्धन होने का मुख्य कारण है। किन्तु भारतीय दर्शन में जगत् को असार और मिथ्या कहा गया है। हमारा निश्चित मत यह है कि भारत के जीवन-आदर्श का इससे अधिक भ्रमपूर्ण और गलत विवेचन नहीं हो सकता। भारतीय दर्शन-शास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी इस बात को भली भाँति जानता है कि यदि भारतीय संस्कृति तथा विचार-धारा की कोई महत्वपूर्ण विशेषता है तो यह है कि भारतीय विचारधारा और भारतीय दर्शन ने मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को ध्यान में रखकर ही विचार किया है। जो लोग भारतीय इतिहास का अध्ययन करते हैं वे जानते हैं कि भारतीय विचारधारा में मनुष्य की भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं का एक अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया गया है। यह नितान्त भ्रमपूर्ण धारणा है कि भारतीय अध्यात्मवाद भौतिक उन्नति को तिलांजलि देकर ही सम्भव हुआ है अथवा भारतीय दर्शन ने भारतीयों को आर्थिक उन्नति की अवहेलना करना सिखाया है। प्राचीन काल में भारत ने कला-कौशल तथा उद्योग-धन्धों में जो आश्चर्यजनक उन्नति की, भारत ने एक विस्तृत विदेशी व्यापार की नींव डाली और बड़े साम्राज्य स्थापित किये तथा ज्योतिष, गणित, तथा चिकित्सा शास्त्रों में आश्चर्यजनक उन्नति की और जो देशी बैंकिंग और साख का निर्माण किया, यह इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि भारतीय भौतिक उन्नति की ओर से उदासीन नहीं थे। आज भी जो जातियाँ अत्यन्त धर्मभीरु और पुरातन रूढ़िवादी हैं; जैसे मारवाड़ी, जैन, बोहरा इत्यादि, वे ही धन बटोरने में सबसे बढ़कर हैं और देश का सारा का सारा व्यापार तथा व्यवसाय उनके हाथ में है। यहाँ हम

इस बात को बताना आवश्यक समझते हैं कि आधुनिक औद्योगिक उन्नति के पूर्व भारत योरोपीय देशों की अपेक्षा अधिक वैभवसम्पन्न, समृद्धिशाली तथा आर्थिक दृष्टि से उन्नत था। भारतवर्ष पिछले दो सौ वर्षों में आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गया और इन्हीं दो सौ वर्षों में जबकि उसकी आर्थिक अवनति हुई, वह धार्मिक तथा दर्शन के क्षेत्र में भी पिछड़ गया। अतएव यह कहना कि भारत की आर्थिक हीनता उसके धर्म के प्रति आग्रह तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण है, शत प्रतिशत मूर्खता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारत के आर्थिक जीवन पर धर्म का कोई प्रभाव नहीं है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि भारतीयों के धार्मिक विचारों का उनके आर्थिक प्रयत्नों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए पुराने गृह-उद्योग-धन्धों पर तथा हाथ कारीगरी के द्वारा बनाई गई वस्तुओं की डिजाइन इत्यादि पर भारतीयों के धार्मिक विश्वासों तथा सिद्धान्तों की छाप पड़ी है। घंटे बनाने तथा मूर्तियों को बनाने का धन्धा तो एकमात्र उनके धार्मिक महत्व पर ही निर्भर है। इसके अतिरिक्त आज भी हम देखते हैं कि जो हम भारतीय विवाह, मृत्यु तथा जन्म के अवसर पर अंधाधुंध व्यय करते है, वह एकमात्र हमारे धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक परम्पराओं के फलस्वरूप ही है। इन धार्मिक अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों ने हमारे अन्दर जो बुद्धिवाद है उसको कुचल कर नष्ट कर दिया है। यही नहीं हम उन बहुत-सी बातों तथा क्रियाओं को अपनाने में संकोच करते हैं कि जो आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हैं, क्योंकि उनसे हमारी धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं को धक्का लगता है। उदाहरण के लिए साधारण भारतीय किसान मैले, मछली तथा हड्डी की खाद का उपयोग नहीं करना चाहता, क्योंकि यह उसकी धार्मिक भावनाओं के प्रतिकूल है। इसी प्रकार ऊँची जाति का हिन्दू किसान मुर्गी पालने का धन्धा करना पसन्द नहीं करता, फिर चाहे उससे कितना ही लाभ क्यों न हो। यह सब स्वीकार करने पर भी यह कहना भूल होगी कि हमारी धार्मिक भावना अथवा परलोक बनाने की भावना हमारी आर्थिक हीनता का कारण है।

ऊपर लिखे मत का आशय यह नहीं है कि लेखक, भारतीय जनता में भाग्यवाद और निराशा ने जड़ जमा ली है इसको अस्वीकार करता है। आज वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय जनता में घोर निराशा और भाग्यवाद ने स्थायी अड्डा जमा लिया है। कोटि-कोटि भारतीय जनता का अपने जीवन के प्रति अत्यन्त उदासीनता का दृष्टिकोण है और उनके हृदय में वर्तमान अथवा भविष्य में कोई आशा हो ऐसा भी नहीं है। उनके लिए जीवन एक भार है जिसको वे विवशता तथा अनिच्छापूर्वक ढो रहे हैं। उनमें न तो उत्साह है और न जोश ही है। सच तो यह है कि भारतीय जनता का जीवन आशा, विश्वास, तथा सुख से बहुत दूर विवशता तथा

दुःख का जीवन है और वह निराशा तथा उदासीनता को लेकर जीवन का भार ढोता रहता है। यदि यह सच है जैसा कि वास्तव में है तो इसका कारण क्या है? यदि मानवीय विकास का जीवन और इतिहास हमें कोई पाठ पढ़ाता है तो वह यह है कि व्यक्ति तथा समाज की परिस्थिति जिसमें कि वह व्यक्ति पलता है, उसके जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बनाते हैं। मनोविज्ञान का यह एक माना हुआ सिद्धांत है कि यदि मनुष्य समृद्धि और सफलता के बीच रहता या पलता है तो उसका दृष्टिकोण आशा-वादी बन जाना अनिवार्य है; और इसके विरुद्ध यदि मनुष्य निराशा और निर्धनता के बीच रहता है तो उसका दृष्टिकोण निराशावादी बन जावेगा। आज भारतीय जनता में जो निराशावादिता की सर्वत्र छाप दृष्टिगोचर होती है उसका एकमात्र कारण यह है कि पिछली कुछ शताब्दियों में भारतीय जनता को अत्यन्त निर्धनता का और गर्हित जीवन व्यतीत करना पड़ा है। भारत का प्रमुख धन्धा खेती, जिस पर देश की अधि-कांश जनसंख्या अपनी आजीविका के लिए आश्रित है, यहाँ की अनिश्चित वर्षा तथा जलवायु के कारण अत्यन्त अनिश्चित है। इस कारण साधारण किसान में भाग्य तथा परमात्मा के भरोसे बैठे रहने की भावना उदय होती है। यही नहीं, दुर्भिक्ष, महा-मारी तथा अन्य विपत्तियों के कारण जो प्रतिवर्ष अपार जीवन शक्ति की हानि होती है उससे भी किसान भाग्यवादी ही बना है। आज तो दुर्भिक्ष के विध्वसकारी प्रभाव को कम करने के लिए सिंचाई इत्यादि के साधन उपलब्ध किये गए हैं और दुर्भिक्ष से जनसंख्या को बचाने के उपाय ढूंढे गए हैं। आज महामारियों को रोकने का भी प्रयत्न किया जाता है; किन्तु इनके अभाव में निरीह ग्रामीण राम-भरोसे बैठे रहने के सिवा कर ही क्या सकता था। अस्तु; उसमें भाग्य को ही सर्वोपरि मानने की आदत पड़ गई और वह पूरा भाग्यवादी बन गया। मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के उपरांत एक शताब्दी तक देश में जो घोर अराजकता उत्पन्न हो गई उसके कारण धन और जन की सुरक्षा असम्भव हो उठी थी। इसके उपरांत हमारे ऊपर विदेशी दासता का जुआ रक्खा गया। ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने भारत का जिस प्रकार आर्थिक शोषण किया उससे भारत की निर्धनता चरम सीमा पर पहुँच गई। भारतीय इतने अधिक शोषित और निर्धन होगए कि उन्हें यह विश्वास ही नहीं रहा कि उनकी स्थिति में कभी सुधार भी सकता है। इस विवशता के कारण उनके जीवन में नैराश्य का अन्धकार छा गया। भारतीय किसान की मनोदशा ऐसी दयनीय बन गई कि वह यह कल्पना भी नहीं करता था कि कभी वह दिन भी आ सकेगा कि जब वह अपने परि-श्रम का फल भोग सकेगा। दिन प्रतिदिन उसकी आर्थिक स्थिति गिरती ही गई और उसकी निर्धनता ने उसको इतना निर्बल और अशक्त बना दिया कि वह बीमारियों का शिकार होने लगा। उसका स्वास्थ्य गिर गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका

परिच्छेद ५

भारत के आर्थिक जीवन में परिवर्तन

आज भारत संक्रांति काल में से निकल रहा है। उसकी राजनीति, अर्थशास्त्र और उसके धार्मिक तथा सामाजिक आदर्शों और विचार-धारा को आधुनिक पश्चिमीय राष्ट्रों के जीवन तथा उनकी विचार-धारा ने चुनौती दी है। किन्तु अभी तक भारत पश्चिमीय संस्कृति तथा विचार-धारा के साथ अपनी प्राचीन संस्कृति और विचार-धारा का सामंजस्य नहीं बिठा सका है। अपने जीवन तथा आदर्शों में परिवर्तन लाना तथा उनके साथ सामंजस्य बिठाना सरल नहीं होता, उसमें कष्ट और त्याग अनिवार्य है। किन्तु विदेशी दासता में भारत का यह परिवर्तन अत्यन्त कष्टसाध्य और लम्बा हो गया इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। अब हम आगे उन आर्थिक परिवर्तनों की चर्चा करेंगे जो कि भारतवर्ष में आज हो रहे हैं या हो गए हैं।

संक्रांति अथवा परिवर्तन का अर्थ यह है कि प्राचीन परम्परा को छोड़ कर नवीन परम्परा स्थापित की जावे। अस्तु; भारतवर्ष में जो आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनका ठीक-ठीक अध्ययन करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम भारत के पुराने आर्थिक संगठन का भी अध्ययन करलें।

भारतवर्ष के पुराने आर्थिक संगठन की विशेषता यह थी कि वह मुख्यत: ग्राम्य आर्थिक संगठन था। वास्तविक भारत उसके असंख्य गाँवों में निवास करता था और आज भी स्थिति लगभग वही है। आज भी भारतवर्ष गाँवो का ही देश है। उनकी तुलना में शहरों की संख्या नहीं के बराबर है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्राचीन भारत में नगरों का कोई स्थान अथवा महत्व नहीं था। इसके विपरीत प्राचीन भारत में आगरा, देहली, बनारस, इलाहाबाद (प्रयाग), मुर्शिदाबाद, अहमद-नगर, लखनऊ, मिर्जापुर इत्यादि बड़े-बड़े नगर थे जो भारतवर्ष में ही नहीं संसार भर में धार्मिक तथा व्यापारिक स्थान होने अथवा राजधानी होने के नाते प्रसिद्ध थे। इनमें कुछ नगरों में कारीगरी और कला की वस्तुओं का निर्माण होता था और वे विलासिता की सामग्री बनाने के कारण संसार भर में प्रसिद्ध थे। फिर भी यह सच था कि वास्तविक भारत उन असंख्य गाँवो में ही निवास करता था व आज भी करता है, जो देश

भर में बिखरे पड़े हैं। इन गाँवों में देश की ९० प्रतिशत जनसंख्या निवास करती थी। अस्तु; हमारे प्राचीन आर्थिक संगठन की गाँव ही इकाई थी और हमारी सभ्यता मुख्यतया ग्राम्य सभ्यता थी। भारत का ग्राम कोई अनोखी संस्था नहीं थी। तत्कालीन इङ्गलैंड में 'मैनर' (Manor), जर्मनी का 'मार्क' (Mark) और रूस का 'मिर' (Mir) भारतीय ग्राम की ही भांति एक आर्थिक इकाई थे। किन्तु भारतीय ग्राम्य संस्था की विशेषता यह रही कि इतने सब परिवर्तन तथा उलट-फेर होने पर भी भारतीय ग्राम्य संस्था जीवित रही। इसके सम्बन्ध में हम आगे चलकर अध्ययन करेंगे। यहाँ अभी तो हम केवल पुराने ग्राम्य आर्थिक संगठन की विशेषताओं तथा गुणों की विवेचना करेंगे।

इस सम्बन्ध में जो पहली बात हमें ध्यान देने की है वह है भारतीय ग्राम का आर्थिक स्वावलम्बन। हमारा गाँव पुराने समय में आर्थिक दृष्टि से पूर्ण स्वावलम्बी था। पुराने समय में और आज भी कुछ अंशों में भारतीय ग्राम सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी है। जो भी दैनिक काम की चीजें हैं वे बहुत कुछ गाँवों से ही प्राप्त हो जाती हैं, बाहर से लेनी नहीं पड़तीं। गाँव के बाहर से यहाँ तक कि पड़ोस के गाँवो से भी कोई व्यापार नहीं होता था। बाहर से केवल नमक तथा विलासिता की वस्तुएँ —उदाहरण के लिए जेवर तथा बढ़िया वस्तु ही मँगायी जाती थीं। भारतीय ग्राम का जो चित्र सरकारी कागजों में खींचा गया है वह आज के भारतीय ग्राम का सही चित्र है। हम उसे नीचे वैसे का वैसा ही देते हैं।

"वे धन्धे कि जिनकी गाँव की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आवश्यकता थी गाँव में ही स्थापित हैं। पंजाब के गाँव पूर्णतः स्वावलम्बी हैं। वे अपना भोजन स्वयं उत्पन्न करते हैं, वे अपने खेती के औजार स्वयं बनाते हैं, अपने घर में काम आने वाले बर्तनों का निर्माण स्वयं करते हैं। गाँव का पुरोहित गाँव में ही रहता है, गाँव का काम बिना डाक्टर अथवा वैद्य के चलता है। गाँव को बाहर से केवल नमक, सिक्का, मसाला और बढ़िया कपड़ों को मंगाना पड़ता है।"

(पंजाब जन-गणना रिपोर्ट १८८१)

यहाँ जो पंजाब के एक गाँव के बारे में कहा गया वह भारत के अन्य गाँवों के बारे में भी सही है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय ग्राम और भी अधिक स्वावलम्बी थे, क्योंकि उस समय तक लगान भी नकदी में न दी जाकर अनाज के रूप में दिया जाता था।

भारतीय गाँवों की दूसरी विशेषता पृथकता है जो उनके स्वावलम्बन से मिलती-जुलती और बहुत कुछ उसका ही परिणाम है। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत के सम्बन्ध में लिखते हुए बहुत से लेखकों ने यह कहा है कि भारतीय गाँव इस

हद तक स्वावलम्बी थे कि बाहर क्या हो रहा है, उसका उन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। भारत में साम्राज्यों का उदय और पतन हुआ, देश में राजनैतिक उलट-फेर तथा विद्रोह हुए, किन्तु भारतीय गाँवों का जीवन इस उथल-पुथल में भी पूर्ववत् ही चलता रहा। इन राजनैतिक बवंडरों का भारतीय गाँवों पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु कुछ लेखकों का कहना है कि बात ऐसी नहीं थी। इन उलट-फेरों से भारतीय गाँवों पर भी प्रभाव पड़ा। उनका मत यह है कि यह असम्भव है कि मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के उपरान्त देश में जो अराजकता फैली उसने गाँवों को न छुआ हो और उनके जीवन पर उसका प्रभाव न पड़ा हो। जब देश में अराजकता छाई हुई थी, उस समय लूट-मार का देश में दौर-दौरा था और सैनिक लोग निरीह जनता से मनमाना धन छीन लेते थे। ऐसी अवस्था में गाँवों के आर्थिक संगठन को धक्का न लगा हो यह सम्भव नहीं है। हम भी ऊपर लिखे विचारों से सहमत हैं और यही सत्य के अधिक समीप है। इस अराजकता तथा लूटमार के काल में भारतीय गाँवों का आर्थिक जीवन ज्यों का त्यों सुरक्षित नहीं रह सका, परन्तु उसका मूल आधार अवश्य सुरक्षित रहा। राजनैतिक अराजकता तथा गड़बड़ हमारे गाँवों के आर्थिक ढाँचे को न बदल सकी। उसका मुख्य कारण यह था कि जिन कारणों तथा परिस्थितियों ने उस आर्थिक संगठन को जन्म दिया था, उनमें इस अराजकता तथा देश में उत्पन्न हुई गड़बड़ से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आलोचना

हमारे गाँवों के स्वावलम्बन तथा पृथकता का मुख्य कारण यह था कि देश में गमनागमन, यातायात तथा सन्देशवाहक साधनों का अभाव था; उनकी उन्नति नहीं हुई थी। इस दृष्टि से उत्तर भारत की स्थिति दक्षिण भारत से अच्छी थी। उत्तर भारत में गंगा तथा सिंध और उनकी सहायक नदियों ने प्राकृतिक मार्ग उपलब्ध कर दिये थे और कुछ सड़कें भी बनाई गई थीं। यद्यपि अच्छी से अच्छी सड़कें भी बैलगाड़ियों के लिए बहुत अच्छी नहीं थीं तथापि किसी प्रकार बैलगाड़ियाँ उन पर चल सकती थीं। मुगल बादशाहों ने जो भी सड़कें बनवाई थीं वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में नष्ट हो गईं, क्योंकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कभी भी सड़कों की ओर ध्यान नहीं दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी तो केवल लाभ कमाने के लिए यहाँ आई थी। अस्तु; वह देश की आवश्यकताओं की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देती थी। गमनागमन के साधनों का अभाव होने के दो महत्वपूर्ण आर्थिक परिणाम हुए। पहला परिणाम तो यह हुआ कि वस्तुओं के मूल्यों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर बहुत अधिक अन्तर रहता था और मूल्यों में एक साथ घटा-बढ़ी हो जाती थी। दूसरा भयङ्कर परिणाम यह हुआ कि दुर्भिक्षों के कारण असंख्य मृत्युएँ होती थीं जहाँ दुर्भिक्ष पड़ जाता वहाँ मनुष्य और पशु, दोनों ही बहुत बड़ी संख्या में मरते थे। यातायात के साधनों का अभाव होने के कारण

यदि एक प्रदेश में किसी कारण फसलें नष्ट हो जातीं तो अन्य स्थानों का अनाज वहाँ नहीं लाया जा सकता था। इसका फल यह होता था कि कहीं तो खाद्य पदार्थों की बहुत कमी रहती और कहीं उनकी अत्यन्त बहुलता दिखलाई पड़ती।

हमारे ग्राम्य आर्थिक सङ्गठन की दूसरी विशेषता यह थी कि खेती ही देश का महत्वपूर्ण और मुख्य धन्धा था। अन्य धंधों का उसकी तुलना में कम महत्व था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ के हमारे पास कोई आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, अस्तु; हम १८७२ के आँकड़ों से खेती का हमारे आर्थिक जीवन में क्या महत्व था इसका अनुमान लगावेंगे। १८७२ के आँकड़ों के अनुसार ६८·५ प्रतिशत जनसंख्या खेती से अपना जीवन निर्वाह करती थी। किन्तु इससे ही हमारे तत्कालीन आर्थिक जीवन में खेती के महत्व का पूरा-पूरा अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। सच तो यह था कि जो केवल खेती पर जीविका उपार्जन के लिए निर्भर थे उनके अतिरिक्त जो उद्योग-धन्धों तथा अन्य पेशों में लगे कुछ थे वे भी थोड़ी-बहुत गौण रूप से खेती करते थे। इस बात के कोई प्रमाण नहीं हैं कि खेती पर निर्भर रहने वालों का प्रतिशत इससे पहले कभी कम था। अस्तु; प्राचीन काल में भी खेती ही भारत का प्रमुख धंधा था और आज भी खेती ही देश का प्रमुख धंधा है। भारत की जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामीणों का ही रहा है और आज भी ग्रामीणों की ही संख्या बहुत अधिक है। हाँ, यह सच है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ग्रामीणों की आर्थिक दशा भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न थी, उसका कारण यह था कि उस समय भारत के भिन्न-भिन्न भागों की राजनैतिक दशा भी भिन्न थी। परंतु मोटे तौर पर यह मानना होगा कि उस समय किसानों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। वे छोटे-छोटे खेतों पर खेती करते थे, उनके खेतों के चारों ओर बाढ़ नहीं थी, उनके औजार इत्यादि पुराने थे और खेती का ढंग भी पुराना था। किसान के पास बहुत कम पूँजी थी और वह तथा उसका परिवार ही खेत पर काम करता था। अधिकतर खेतों पर मजदूर नहीं रक्खे जाते थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि खेती पुराने ढग से की जाती थी तो खेती की दशा अत्यन्त खराब थी। वास्तविकता तो यह थी कि प्रत्येक जिले में खेती का स्वरूप भिन्न था। किसान जिन परिस्थितियों में रहता था उसका खेतों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। जिन प्रदेशों में खेती उन्नत अवस्था में थी वहाँ खेती की प्रणाली बहुत उत्तम थी और जिन प्रदेशों में खेती की दशा बहुत अच्छी नहीं थी वहाँ भी उसके लिए किसान दोषी नहीं था वरन् वहाँ की प्रतिकूल परिस्थिति ही उसका कारण थी। कहीं-कहीं ईंधन की कमी के कारण किसान को अपने बहुमूल्य खाद को जला देना पड़ता था और भूमि पर अत्यधिक भार होने के कारण वह भूमि को परती छोड़ कर आराम नहीं दे पाता था। इसका परिणाम यह होता था कि जहाँ एक ओर देश में

अत्यन्त उन्नत कृषि होती थी वहाँ पिछड़ी हुई खेती भी दिखलाई पड़ती थी। जहाँ तक खेती के स्वरूप का प्रश्न था वह गाँव को स्वावलम्बी बनाए रखने की दृष्टि से की जाती थी। अधिकतर अनाज ही पैदा किया जाता था यद्यपि तिलहन और कपास भी स्थानीय उपयोग के लिए उत्पन्न की जाती थी। केवल कपास और गन्ना ही दो फसलें थीं जो कि हर एक स्थान पर उत्पन्न नहीं की जा सकती थीं क्योंकि यह फसलें प्रत्येक जलवायु में उत्पन्न नहीं हो सकती थीं। अस्तु यह फसलें कुछ विशेष प्रदेशों में ही उत्पन्न की जाती थीं।

यद्यपि भारत के ग्रामों में निवास करने वाले अधिकांश व्यक्तियों का खेती ही एकमात्र धंधा था किन्तु इससे यह न मान लेना चाहिए कि उद्योग-धंधों तथा औद्योगिक जनसंख्या का प्राचीन ग्राम्य आर्थिक सङ्गठन में कोई स्थान ही नहीं था। सच तो यह था कि प्रत्येक गाँव में एक कारीगर-वर्ग रहता था। प्रत्येक गाँव में एक बढ़ई, लुहार, चमार, बुनकर, कुम्हार, तेली तथा रंगरेज इत्यादि रहता था। इनमें से कुछ कारीगर तो गाँव के सेवकों की श्रेणी में थे और कुछ स्वतंत्र कारीगर थे। सेवकों की श्रेणी में वे कारीगर थे जिनकी सेवाओं की गाँव वालों को नियमित रूप से आवश्यकता होती थी; उदाहरण के लिए बढ़ई, लुहार, चमार और कुम्हार इत्यादि। दूसरी श्रेणी में बुनकर, तेली और रंगरेज थे। जिनकी सेवाओं की कभी-कभी आवश्यकता होती थी। इन दोनों श्रेणियों के कारीगरों में मुख्य भेद यह था कि उनकी मजदूरी भिन्न प्रकार से दी जाती थी। सेवक कारीगरों को गाँव बिना लगान के अथवा नाम मात्र का लगान लेकर भूमि देता था जिस पर यह लोग खेती करते थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक किसान उन्हें अपने खेत की पैदावार का एक निश्चित अंश देता था। यही उनकी आय का मुख्य साधन था। अस्तु; इन सेवक कारीगरों को एक बँधी हुई राशि पैदावार की दे दी जाती थी। केवल कोल्हू अथवा गाड़ी तैयार करने के लिए विशेष रूप से उन्हें मजदूरी दी जाती थी, किन्तु हल इत्यादि को ठीक करने के लिए विशेष कुछ नहीं दिया जाता था। स्वतंत्र कारीगरों से जो भी काम लिया जाता था उसके लिए अलग से मजदूरी दी जाती थी। परन्तु मजदूरी बहुधा अनाज में ही दी जाती थी। यद्यपि प्रत्येक गाँव में यह दो प्रकार के कारीगर पाए जाते थे, परन्तु देश के भिन्न-भिन्न भागों में दोनों श्रेणियों के कारीगर एक प्रकार के नहीं थे। एक कारीगर जो एक प्रदेश में सेवक कारीगर की श्रेणी में था वही दूसरे प्रदेश में स्वतन्त्र कारीगर की श्रेणी में होता था। इस सम्बन्ध में एक दूसरी बात ध्यान देने की यह थी कि प्रत्येक गाँव में सभी कारीगर हों यह आवश्यक नहीं था। उदाहरण के लिए जुलाहा सब गाँवों में नहीं पाया जाता था, केवल बड़े गाँव में ही बुनकर या जुलाहा होता था। गाँव के कारीगर का उत्तराधिकारी ही उस गाँव का कारीगर होता था। वह वंश

परम्परागत गांव की सेवा करता था। अतएव गाँव का समस्त जीवन एक-सा रहता था उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता था और न गाँव में प्रतिस्पर्द्धा ही दिखलाई पड़ती थी। ग्राम-सेवकों की यह संस्था भारतीय गाँवों की एक विशेषता थी और उससे गांव का संगठन दृढ़ और सबल बन गया था। गांव मूलतः स्वावलम्बी था, प्रत्येक गाँव के अपने कारीगर थे जिससे कि गाँव को उनकी सेवाओं के लिए बाहर वालों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। अस्तु; इस प्रकार के संगठन के कारण ग्राम्य उद्योग-धंधों का एक विशेष स्वरूप बन गया था। प्रत्येक कारीगर को अपने धंधों का सारा कार्य स्वयं ही करना पड़ता था। अस्तु; वह अपने धंधे में तनिक भी श्रम-विभाजन को स्थान न देसका और न वह किसी प्रकार की विशेषता ही प्राप्त कर सका। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्राम्य उद्योग-धन्धों में श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण का कोई स्थान न रहा और कारीगर की कारीगरी बहुत ऊँचे दर्जे की न बन सकी। इसके अतिरिक्त गाँवों के स्वावलम्बी होने के कारण ग्राम्य उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण भी न हो सका। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण उद्योग-धंधे पिछड़ी अवस्था में ही रहे। भारतीय गाँवों के स्वावलम्बी होने के साथ-साथ उनमें दो विशेष कर्मचारी भी होते थे जिनका उल्लेख कर देना आवश्यक है। मुखिया या पटेल गाँव में शान्ति तथा व्यवस्था कायम करने तथा मालगुजारी वसूल करने के लिए होता था। उसको अपनी इस सेवा के बदले कुछ भूमि मुफ्त में जोतने को मिलती थी। रैयतवारी प्रदेशों में उसका बहुत बड़ा महत्व होता था। दूसरा मुख्य कर्मचारी पटवारी होता था जो कि गाँव की भूमि का लेखा तथा हिसाब रखता था और प्रत्येक गाँव में एक चौकीदार होता था जो गाँव में होने वाली चोरियों इत्यादि की पुलिस को सूचना देता था और दोषियों को पकड़वाने में पुलिस की सहायता करता था। पुराने समय में प्रत्येक गाँव में एक पंचायत होती थी जो कि सस्ता और शीघ्र न्याय दे देती थी और गाँव वालों को एक सूत्र में बाँधे रहती थी। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त प्रत्येक गाँव के कुछ सेवक होते थे; उनमें धोबी, भंगी तथा नाई इत्यादि मुख्य थे। गांव के यह भी कारीगरों की भांति सेवक होते थे। इनके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव का अपना पुरोहित या ज्योतिषी होता था और प्रत्येक गाँव का एक महाजन होता था जो कि लेन-देन का काम करता था। वह खेती की पैदावार की खरीद बिक्री भी करता था। ऊपर लिखे विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गांव सब प्रकार से स्वावलम्बी था और उसका संगठन आर्थिक तथा समाजिक आधार पर था। गांव में किसानों को छोड़कर तीन मुख्य कार्यकर्त्ताओं की श्रेणियाँ थीं। सबसे अधिक आदर और प्रभाव पंडित या पुरोहित तथा पटवारी और पटेल का था, दूसरी श्रेणी में कारीगर आते थे और तीसरी [illegible] गाँव के नौकर जैसे मेहतर और धोबी इत्यादि आते थे।

उनको गाँव जो थोड़ी सी भूमि खेती के लिए देता था वह उनकी आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त होती थी। वे अधिकांश में मजदूर होते थे जो कभी-कभी मजदूरी के अतिरिक्त मोटा कपड़ा बुनने, डलिया बनाने तथा चटाई बुनने का काम भी कर लेते थे।

प्राचीन काल में भारतीय गाँवों की कुछ और भी विशेषतायें थीं जिनकी ओर हमें ध्यान देना आवश्यक है। उनमें से एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि भारतीय गाँवों में उस समय द्रव्य का चलन नहीं था। उस समय अदल-बदल के द्वारा विनिमय होता था और अनाज में ही मूल्य का नाप किया जाता था। उस समय मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत सीमित थीं, व्यापार बहुत कम था और गाँव अपनी आवश्यकता की लगभग सभी वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न कर लेता था। अस्तु; विनिमय के लिए द्रव्य की आवश्यकता नहीं थी। यही कारण था कि उस समय गाँवों में द्रव्य का चलन नहीं था। यहाँ तक कि मालगुजारी भी नकदी में नहीं चुकाई जाती थी। आज की अपेक्षा मजदूरों को गतिहीनता तथा उनकी रुढ़िवादिता और भी अधिक थी। गाँव वाले अपने पैतृक गृह को कभी भी छोड़ने को तैयार नहीं होते थे और एक स्थान से दूसरे स्थान को मजदूरों का प्रवास बिलकुल नहीं था। प्रतिस्पर्द्धा तथा स्वतन्त्रता के स्थान पर परम्परा तथा सामाजिक पद मनुष्य की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को निर्धारित करते थे। जाति प्रथा तथा सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली के कारण व्यक्ति अपना पेशा चुनने में स्वतन्त्र नहीं था और जाति के अनुसार ही उसको समाज में पद मिलता था। पेशा तथा सामाजिक पद उसको अमुक वंश और अमुक जाति में जन्म लेने के कारण मिलते थे, न कि उसकी व्यक्तिगत योग्यता के कारण। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व योरोप तथा इङ्गलैंड में भी प्रतिस्पर्द्धा की तुलना में परम्परा का ही अधिक महत्व था। अस्तु; भारतवर्ष में पुराने समय में लगान, मजदूरी, तथा मूल्य रीति और परम्परा से निर्धारित होते थे; फिर भी वह किसी एक पक्ष के लिए अन्यायपूर्ण नहीं होते थे। उदाहरण के लिए हम ऊपर कह आये हैं कि गाँव के कारीगरों को पैदावार का एक निश्चित भाग अनाज के रूप में दिया जाता था। अन्य मजदूरों को भी भोजन तथा निवास स्थान मालिक देता था अथवा उनको भी पैदावार का एक निश्चित भाग दे दिया जाता था। यही बात मूल्य के सम्बन्ध में लागू होती थी। असाधारण समय में जबकि पैदावार की अत्यन्त कमी या बहुलता होती तो प्रतिस्पर्द्धा परिपाटी से अधिक प्रबल सिद्ध होती थी और मूल्य माँग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारित होते थे, परन्तु साधारणतः मूल्य भी परम्परा और परिपाटी के द्वारा ही नियंत्रित होता था। इस सम्बन्ध में जबकि हम परिपाटी और प्रतिस्पर्द्धा की बात करते हैं तब हमें एक बात पर ध्यान देना चाहिए। वास्तव में दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है, परिपाटी प्रति-

स्पर्द्धा के तत्वो के ही आधार पर बनती है। दोनों में केवल भेद इतना ही है कि परिस्थिति में तनिक भी परिवर्तन होने पर प्रतिस्पर्द्धा द्वारा निर्धारित मूल्य में शीघ्र ही परिवर्तन हो जावेगा और परिपाटी द्वारा निर्धारित मूल्य में धीरे होगा। यों परिपाटी में भी परिवर्तन होता है; परन्तु उस परिवर्तन में बहुत अधिक समय लगता है। यहाँ तक प्रतिस्पर्द्धा के द्वारा ही निर्धारित मूल्य के परिवर्तन में भी कुछ समय तो लग ही जाता है। अभी तक हमने भारतवर्ष के ग्रामीण अर्थशास्त्र का उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-काल के बारे में अध्ययन किया, अब हम उस समय के नगरों की आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करेंगे।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, मोटे रूप में उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में कुल जन-संख्या का दस प्रतिशत ही नगरों में रहती थी। उस समय बड़े नगर वे ही होते थे जो केन्द्रीय सरकार अथवा प्रान्तीय सरकार की राजधानी होते थे; उदाहरण के लिए देहली, आगरा, लखनऊ और लाहौर इत्यादि इसी कारण बड़े नगर बन गए क्योंकि वहाँ राजधानी थी। राजनैतिक कारणों के अतिरिक्त धार्मिक केन्द्र भी बड़े बन जाते थे। बनारस, प्रयाग, मथुरा, गया तथा पुरी इत्यादि गनर धार्मिक केन्द्र होने के कारण ही बड़े नगर बन गए थे। कुछ व्यापारिक केन्द्र भी थे। मिरज़ापुर, हुबली तथा बंगलौर इसी श्रेणी के नगर थे। व्यापार बहुत सीमित था, अतः व्यापारिक केन्द्र भी बहुत कम थे। उस समय अधिकतर नगर व्यापारिक अथवा औद्योगिक केन्द्र होने के कारण बड़े नगर नहीं बने थे। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि नगरों में उद्योग-धन्धे नहीं थे। सच तो यह है कि प्रत्येक बड़े नगर में कोई न कोई धन्धा अवश्य होता था। धार्मिक केन्द्र बनारस इत्यादि में तांबे, कांसे तथा पीतल के बर्तन बनाने तथा मन्दिर के घंटे बनाने का धन्धा केन्द्रित था। इन धार्मिक केन्द्रों में पूजापात्र बनाने का धन्धा पनपता था। राजधानियों में विलासिता की वस्तुएँ अधिक बनाई जाती थीं। उदाहरण के लिए देहली, लखनऊ इत्यादि केन्द्रों में तारकशी, कीमती कपड़ा, ज़री का काम, सोने चाँदी का काम, हाथीदाँत की वस्तुएं बनाने, लकड़ी पर नक्काशी का काम तथा बर्तनों पर कलई करने का धन्धा बहुत अच्छी अवस्था में था। प्राचीन काल में भारतवर्ष ने इन्हीं कलात्मक वस्तुओं तथा कारीगरी की वस्तुओं के कारण संसार में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। भारत की कला और कारीगरी अभूतपूर्व थी। कला और कारीगरी की इस सफलता का मुख्य कारण यह था कि बादशाहों का कलाकारों तथा कारीगरों को संरक्षण प्राप्त था। ढाका की मलमल, मुर्शिदाबाद का रेशम और काश्मीर के शाल संसार-प्रसिद्ध थे। इन धन्धों के पनपने के लिए बादशाहों का संरक्षण अत्यन्त आवश्यक था। वे ग्राम्य धन्धों की अपेक्षा अधिक सुसंगठित थे।

अब हम नगरों के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे। नगरों और गाँवों में बहुत भेद था। नगर आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं थे और न वे अन्य केन्द्रों से पृथक ही थे। नगरों में समीपवर्ती गाँवों से अनाज आता था और नगरों में बहुत प्रकार के पेशे और धन्धे दृष्टिगोचर होते थे, और उन धन्धों का संगठन बहुत अच्छा होता था। बड़े नगरों में प्रत्येक धन्धे का एक संघ होता था जो कि अपने सदस्यों के हितों तथा उनकी कारीगरी की देखभाल करता था। कारीगर अपने ग्राहकों की मांग पर उनके दिये हुए कच्चे माल के द्वारा वस्तुओं का निर्माण करते थे। कच्चे माल के कारण अथवा अन्य कारणों से कुछ नगरों में धन्धों का स्थानीय-करण हो गया था। फिर भी अधिकतर स्थानीय माँग पर ही अधिकतर धन्धे जीवित रहते थे। कुछ को छोड़कर बाहर की माँग लगभग नहीं के बराबर होती थी। नगरों में साख का समुचित प्रबन्ध था। प्रत्येक नगर में देशी बैंकर तथा साहूकार होते थे और क्रय-विक्रय में नकदी का बहुत प्रचलन था। बड़े नगरों में व्यापार खूब होता था और भारत से बाहर विदेशों से भी व्यापार होता था। आधुनिक परिवर्तनों के पूर्व जिनके कारण कि भारतीय कारीगरी तथा गृह-उद्योग-धन्धों का विनाश आरम्भ हुआ, भारतीय नगरों की आर्थिक स्थिति ऊपर लिखे अनुसार थी। अब हम उन तत्वों का अध्ययन करेंगे कि जिनके कारण भारत में आर्थिक परिवर्तन आरम्भ हुआ और जो आज भी पूर्ण नहीं हुआ है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संसार में जो मूलभूत आर्थिक परिवर्तन हुआ और जिसका प्रादुर्भाव आर्थिक क्रान्ति के रूप में सर्व प्रथम इङ्गलैंड में दिखलाई पड़ा, उसी का यह परिणाम था कि पुराने आर्थिक संगठन का स्थान नवीन आर्थिक संगठन ने ले लेना आरम्भ कर दिया; जिसका क्रम आज भी भारतवर्ष में चल रहा है। आर्थिक जगत के इस आधारभूत परिवर्तन को औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है। इस परिवर्तन को जो कई दशाब्दों में जाकर हुआ, औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारने का औचित्य यह है कि उसके पूर्व आर्थिक परिस्थिति और बाद की आर्थिक परिस्थिति में आकाश पाताल का अन्तर है। अब हम औद्योगिक क्रान्ति के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

सबसे पहले हम इस महान् परिवर्तन के रूप को लेंगे और यह देखेंगे कि किन-किन क्षेत्रों को उसने प्रभावित किया। जहां तक परिवर्तनों के स्वरूप का प्रश्न है हम कह सकते हैं कि इस परिवर्तन के फलस्वरूप उस समय तक प्रचलित छोटी मात्रा के उत्पादन का स्थान बड़ी मात्रा के उत्पादन ने ले लिया। बड़ी मात्रा के उत्पादन का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि अधिकाधिक यन्त्रों का उपयोग किया जाने लगा, उत्पादन में पूँजी की अधिक आवश्यकता पड़ने लगी, अधिक विशिष्टीकरण तथा श्रम-

विभाजन की आवश्यकता हुई। बड़े-बड़े कारखानों में बहुत बड़ी संख्या में मजदूरों का जमाव हुआ तथा बहुत से नवीन औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना हुई। औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना के फलस्वरूप नगरों में अत्यधिक भीड़, गन्दगी तथा स्वास्थ्य को खतरा पहुँचाने वाले तत्व उत्पन्न हो गए तथा अनैतिकता की वृद्धि हुई। बड़ी मात्रा का उत्पादन और उसके परिणामस्वरूप बड़े औद्योगिक केन्द्रों का उदय तेजी से और यकायक हुआ। यह सब किसी योजना के अनुसार नहीं हुआ इस कारण उसके ऊपर लिखे दुष्परिणाम तो होने ही थे। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि उत्पादन करने वाले कारखाने के मालिक और उस कारखाने में काम करने वाले मजदूरों में कोई सम्पर्क नहीं रहा जैसा कि छोटी मात्रा के उत्पादन में रहता था। बड़ी मात्रा के उत्पादन में पूँजीपति तथा मजदूर बहुत दूर पड़ गए और मजदूर का शोषण होने लगा। इस प्रकार समाज में दो वर्गों का उदय हुआ—एक शोषकों का, दूसरा शोषितों का। यह परिवर्तन केवल उद्योग-धन्धों तक ही सीमित नहीं रहा वरन खेती में भी यह क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ और उसका परिणाम वही हुआ जो कि उद्योग धन्धों में हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जहां उद्योग-धन्धों में बड़े-बड़े कारखानों का उदय हुआ उसी प्रकार खेती में छोटी मात्रा की खेती के स्थान पर बड़े-बड़े फार्मों का उदय हुआ। जहाँ पहले छोटे-छोटे खेतों पर किसान पुराने ढंग से खेती करते थे, वहाँ बड़े-बड़े फार्मों पर वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाने लगी और खेती में भी अधिक पूँजी और मशीनों का प्रयोग होने लगा। क्रमशः पूँजीपति किसानों के पास विशाल फार्म आ गए। उन फार्मों का प्रबन्ध पूँजीपति किसान करते थे और उन पर मजदूर काम करते थे। इस परिवर्तन को हम कृषि क्रान्ति के नाम से पुकारते हैं। औद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप जनसंख्या की वृद्धि हुई और उससे खाद्य पदार्थों की माँग बेहद बढ़ गई। इसका परिणाम यह हुआ कि खेती का धन्धा अधिक लाभदायक बन गया और उसी कारण कृषि क्रान्ति हुई। आधुनिक औद्योगीकरण संसार में सर्व प्रथम इङ्गलैंड में क्यों हुआ इसके नीचे लिखे मुख्य कारण हैं :—(१) इङ्गलैंड में अतिरिक्त पूँजी इकट्ठी हो गई थी क्योंकि ब्रिटेन ने भारत का आर्थिक शोषण खूब किया था। (२) इसके अतिरिक्त कुशल तथा अकुशल मजदूरों की भी वहाँ बहुतायत थी। (३) ब्रिटिश माल की खपत के लिए उनके साम्राज्य के अन्तर्गत विस्तृत बाजार मौजूद थे। भारत तथा विस्तृत भूभागों पर ब्रिटेन का आधिपत्य होने के कारण वहाँ ब्रिटिश माल की खूब खपत होती थी। ब्रिटेन ने धार्मिक सहिष्णुता को अपनाया इस कारण योरोप से कुशल कारीगर जिन्हें धार्मिक द्वेष के कारण अपने देशों को छोड़ना पड़ा वे इङ्गलैंड में आकर बस गए। (४) इङ्गलैंड में औद्योगिक संघों (Gilds) का पतन शीघ्र हो गया जिसके कारण उद्योग-धंधों पर से इन संघों का नियन्त्रण उठ गया और एक व्यवसायी

वर्ग उत्पन्न हो गया जो कि कारीगरों को काम देता था। इस कारण इङ्गलैंड में कारखानों की स्थापना सरल हो गई। इसके अतिरिक्त एक दूसरा क्षेत्र था जिसमें आधुनिक ढंग की उन्नति हुई। वह क्षेत्र यातायात का था। यातायात में यह परिवर्तन सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में आरम्भ हुआ। उस समय इङ्गलैंड में कम्पनियाँ अपने व्यय से सड़कें बनाकर यात्रियों से यात्रा-कर लेने लगीं और नहरें भी बनाई गईं। पहले सौ वर्षों में उन्नति की गति धीमी थी किन्तु बाद के सौ वर्षों में यातायात के साधनों की उन्नति तेजी से हुई। १८२५ के उपरान्त इङ्गलैंड में रेलवे का विस्तार हुआ और यातायात में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। इसी समय लकड़ी के स्थान पर लोहे के जहाज बनने लगे और पालों के स्थान पर जहाज भाप से चलने लगे। इससे समुद्री यातायात में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक कारखाने तथा फार्मों को पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिए यातायात में क्रान्तिकारी परिवर्तन और उन्नति होना आवश्यक था। ऐडम स्मिथ तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने जो अहस्तक्षेप का सिद्धान्त (Laissez faire) प्रतिपादित किया उसका उस समय इङ्गलैंड पर पूरा प्रभाव था। इस अहस्तक्षेप नीति के कारण उद्योग-धन्धों और कृषि में खूब वृद्धि और उन्नति हुई। इस सिद्धान्त की सर्वप्रियता का ही यह फल था कि सरकार ने पूँजीपतियों के द्वारा उत्पादन कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं किया और मजदूर के हितों की रक्षा की ओर ध्यान तक नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि धन्धों की उन्नति तेजी से हुई, किंतु इस परिवर्तन के कारण मजदूर-वर्ग को निर्धनता, रोग और बुभुक्षा का शिकार होना पड़ा। पुराने आर्थिक संगठन की तुलना में नवीन आर्थिक सगठन में ऊपर लिखा भेद था और उसी नवीन आर्थिक संगठन के आधार पर आधुनिक पश्चिमीय सभ्यता खड़ी हुई है। मारिसन ने इस नवीन आर्थिक संगठन के गुणों की संक्षेप में इस प्रकार व्याख्या की है—(१) मोल-भाव तथा खरीद-बिक्री करने की स्वतन्त्रता (२) संसार के भिन्न-भिन्न देशो में यातायात के साधनो की उन्नति के फलस्वरूप निकट सम्बन्ध स्थापित होना (३) अपेक्षाकृत जनसंख्या का देशों में समान वितरण होना, कृषि का महत्त्व कम हो जाना और शहरी जनसंख्या का ग्रामीण जनसंख्या से अधिक महत्व बढ़ जाना (४) श्रम के विभाजन का अधिक प्रयोग होना और अधिक पेचीदा बन जाना (५) कारखानों के मजदूरों की बहुत बड़ी जनसंख्या का एक जगह एकत्रित होना (६) बड़ी मात्रा का उत्पादन (७) अदल-बदल के स्थान पर द्रव्य का चलन होना (८) साख तथा बैंकिंग की उन्नति होना। ऊपर लिखी विशेषताएँ आधुनिक उत्पादन के विशेष गुण हैं और पिछले सौ वर्षों से भारतवर्ष में जो आर्थिक परिवर्तन हो रहा है वह इसी ओर हो रहा है। अब हम इस परिवर्तन के कारण तथा प्रत्येक क्षेत्र में कितना परिवर्तन हो चुका है उसका अध्ययन करेंगे।

पिछले समय में भारतीय इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना थी। विदेशी दासता का एक सबसे भयङ्कर परिणाम यह हुआ कि विदेशी सरकार ने भारत के वास्तविक स्वार्थों की ओर से घोर उदासीनता प्रकट की। ब्रिटिश सरकार ने भारत के करोड़ों व्यक्तियों के शोषण के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा की। पिछले डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत सरकार ने भारत के आर्थिक हितों की नितान्त अवहेलना करके ब्रिटेन के हितों को बढ़ाया। भारत में जो भी आर्थिक परिवर्तन हुआ उसकी कठोरता और उसके कारण होने वाले कष्ट की तीव्रता इस कारण और भी बढ़ गई, क्योंकि उस समय भारत पर विदेशी शासन का भयङ्कर बोझ लदा हुआ था। भारत में ब्रिटेन का शासन स्थापित होने का परिणाम यह हुआ कि यहां एक केन्द्रीय शासन-व्यवस्था स्थापित की गई और न्याय तथा रेवेन्यू की एक नवीन पद्धति का श्रीगणेश हुआ जिन्होंने उपर लिखे परिवर्तनों को लाने में सहायता दी। परन्तु देश के आर्थिक जीवन में परिवर्तन लाने में सबसे अधिक सहायक सड़कों तथा रेलों का बनना था। सड़कों तथा रेलों के विस्तार से देश जो सन्दूक की भांति बन्द प्रदेश बना हुआ था खुल गया। गमनागमन के साधनों की उन्नति के फलस्वरूप ही केन्द्रीय शासन-व्यवस्था तथा नवीन रेवेन्यू और न्याय की पद्धति प्रचलित की जा सकती थी। यही नहीं यातायात के साधनों की उन्नति के फलस्वरूप भारत का सम्पर्क आधुनिक उत्पादन तथा विनिमय के साधनों से भी हुआ। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप भारतीय बाजार विदेशी वस्तुओं के लिए खुल गए और हमारे कच्चे पदार्थ विदेशी बाजारों में जाने लगे। इसका फल यह हुआ कि भारत के समस्त आर्थिक संगठन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। संक्षेप में भारत में आर्थिक परिवर्तन के ऊपर लिखे कारण थे। प्रश्न यह है कि इस परिवर्तन का इंगलैंड तथा अन्य देशों पर जहां बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा वहां भारत पर बुरा प्रभाव क्यों पड़ा। इसका एकमात्र कारण यह था कि भारत उस समय ब्रिटेन की दासता का भार ढो रहा था। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो इस परिवर्तन का भारत में भी अच्छा प्रभाव पड़ता। अब हम इस बात का अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे कि इस परिवर्तन का भारत के पुराने आर्थिक संगठन पर कैसा प्रभाव पड़ा।

हम ऊपर लिख आये हैं कि भारत के प्राचीन आर्थिक संगठन की एक विशेषता यह थी कि भारतीय ग्राम स्वावलम्बी था तथा पृथकता का जीवन व्यतीत करता था। गाँव का बाहर से आर्थिक सम्बन्ध नहीं के बराबर था। अब इसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। आज भारतीय गाँव केवल भारत के अन्य भागों से ही वस्तुओं को नहीं मंगाता वरन् विदेशों से भी दैनिक उपयोग की बहुत-सी वस्तुएँ मँगाता है। उदाहरण के लिए आज गाँवों के घरों में आपको विदेशी कपड़ा, मिट्टी

का तेल, अलूमीनियम के बर्तन, दियासलाई, छाते, दवाइयां, शीशे, चूड़ियां, बिसातखाने का बहुतसा सामान, दिखलाई पड़ेगा। पश्चिमीय रहन-सहन के संसर्ग में आने का परिणाम यह हुआ कि जनता में ऊपर लिखी वस्तुओं की मांग उत्पन्न हो गई। विदेशी वस्तुओं की मांग, ग्रामीण धंधों की अवनति, तथा ग्रामीण अर्थ व्यवस्था से अंतर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की ओर झुकाव यह ऐसे परिवर्तन थे जिनके कारण बाहर से वस्तुओं का मंगवाना आवश्यक हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि गांव स्वावलम्बी नहीं रहे। स्वावलम्बी न रहने के साथ-साथ उनकी पुरानी पृथकता भी जाती रही। आज भारतीय ग्राम पर बाहरी आर्थिक तथा राजनैतिक घटनाओं का पहले की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है। आज यदि संसार में आर्थिक मन्दी प्रकट होती है तो भारतीय गाँव उससे अछूता नहीं रहता, और यदि वस्तुओं का मूल्य ऊपर चढ़ता है तो भी भारतीय गाँवों पर उसका प्रभाव पड़ता है। केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के फलस्वरूप ग्राम पंचायत का विनाश हो गया। इस प्रकार इन परिवर्तनों के फलस्वरूप प्राचीन भारत के गांव का स्वतन्त्र स्वरूप नष्ट होगया। पिछले दिनों शासन व्यवस्था के विकेन्द्रीयकरण की ओर जो प्रयत्न हुआ है वह भी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की गाँवों के प्रति उदासीनता के कारण गांवों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। हाँ अब स्वतन्त्र भारत में गाँव के महत्व को स्वीकार किया जा रहा है और उनको अधिक महत्व दिया जा रहा है। भारतीय गाँव का स्वावलम्बीपन तथा पृथकता नष्ट हो गई यह खेद की बात नहीं है। खेद की बात तो यह है कि सरकार ने भारतीय गाँवों को आधुनिक परिवर्तनों के आक्रमण के सामने अरक्षित छोड़ दिया, उनकी तनिक भी रक्षा न की। उसका परिणाम यह हुआ कि गाँवों का संघटन नष्ट हो गया और उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ी। उनका आर्थिक दृष्टि से विघटन हो गया।

गाँवों के स्वावलम्बन तथा पृथकता का नाश हो जाने के कारण मूल्यों तथा दुर्भिक्षों पर गहरा प्रभाव पड़ा। अब एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थानों पर लगभग एकसा मूल्य रहता है। पहले की भांति एक स्थान पर बहुत अधिक और दूसरे स्थान पर बहुत कम मूल्य अब दृष्टिगोचर नहीं होता। यही नहीं, अब एक ही स्थान पर भिन्न-भिन्न समय में भी मूल्यों में अधिक हेर-फेर नहीं होता। इसका कारण यह है कि यातायात के साधनों की उन्नति के फलस्वरूप एक स्थान पर कोई वस्तु अधिक है तो वह कम खर्च से उस स्थान पर ले जाई जा सकती है जहाँ वह कम है। दूसरे शब्दों में यातायात के साधनों की उन्नति होने से माँग और पूर्ति का सतुलन आसानी से हो सकता है। अब प्रत्येक वस्तु के बाजार का क्षेत्र पहले से बहुत अधिक बढ़ गया है और उस विस्तृत क्षेत्र में माँग और पूर्ति का सामंजस्य स्थापित हो जाता है। दुर्भिक्षों पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। अब दुर्भिक्ष पहले जैसे भयंकर और विस्तृत नहीं होते, क्योंकि जिस क्षेत्र में दुर्भिक्ष पड़ता है वहाँ खाद्य पदार्थ उन प्रदेशों

से मँगवा लिया जाता है जहाँ कि अधिक होता है। अतएव दुर्भिक्ष के स्वरूप में आज बहुत परिवर्तन हो गया है। पुराने समय में दुर्भिक्ष का अर्थ होता था द्रव्य का दुर्भिक्ष और खाद्य पदार्थों का दुर्भिक्ष। आज खाद्य पदार्थों का अकाल उतना नहीं होता जितना कि रुपये पैसे का। आज जब किसी प्रदेश में अकाल पड़ता है तो टोटा इस बात का नहीं होता कि खाद्य पदार्थ नहीं मिलता, वरन् टोटा इस बात का होता है कि अधिकांश जनसंख्या के पास बेकारी के कारण खाद्य पदार्थ खरीदने के लिए यथेष्ट रुपया-पैसा नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि किसी के पास अधिक मूल्य देकर भोजन के पदार्थों को खरीदने की क्षमता हो तो वह भूखों नहीं मर सकता। यह तो स्वाभाविक ही है कि खाद्य पदार्थों की कमी के कारण खाद्य पदार्थों की कीमत तो ऊँची हो जावेगी। पुराने अन्न भंडार तो अब लुप्त हो गए हैं, क्योंकि प्रत्येक गाँव देश भर में फैले हुए अन्न भंडारों अर्थात् अनाज की राशि में से आवश्यता पड़ने पर अनाज पा सकता है। अब उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि बहुत-सा अनाज दुर्भिक्ष काल के लिए इकट्ठा करके रक्खा जावे।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे वर्तमान आर्थिक संगठन में कृषि से सम्बन्ध रखता है। जहाँ तक कृषि की अन्य धन्धों की तुलना में प्रमुखता का प्रश्न है स्थिति आज भी पूर्ववत् ही है। पहले भी जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग खेती पर निर्भर था और आज तो स्थिति पहले से भी अधिक गिरी हुई है। खेती पर निर्भर रहने वालों की संख्या और अनुपात बढ़ जाने का एकमात्र कारण यह है कि गृह-उद्योग-धन्धों का नाश हो जाने के कारण कारीगर बेकार हो गए। अन्य धन्धों के अभाव में वे भी खेती करने लगे। यही नहीं, भारतवर्ष की जनसंख्या तेजी से बढ़ती गई और अन्य धन्धों या पेशों के अभाव में वह भी खेती पर ही निर्भर हो गई। खेती पर निर्भर रहने वालों का प्रतिशत बढ़ जाना एक ऐसी बात है जो अनोखी है। संसार के सभी प्रमुख देशों में खेती पर निर्भर रहने वालो का अनुपात घटा है, भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ कि यह अनुपात बढ़ा है। जहाँ तक किसान की आर्थिक स्थिति का प्रश्न है उसकी आर्थिक स्थिति में पहले से कोई सुधार नहीं हुआ। हाँ १९४१ के उपरान्त द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप खेती की पैदावार का मूल्य आकाश छूने लगा। अस्तु, आजकल किसान की आर्थिक स्थिति अच्छी है परन्तु यह अस्थायी समृद्धि है। आज भी अधिकांश भारतीय जनता अत्यन्त निर्धन है। खेती के तरीके में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। आज भी पुराने औजारों की सहायता से बिना बाढ़ के खुले हुए खेतों पर पुराने ढङ्ग से खेती होती है। अच्छे बीज, अच्छे हल, बढ़िया खाद तथा वैज्ञानिक ढङ्ग की खेती आज भी स्वप्न तुल्य है। यद्यपि कृषि विभाग इसके लिए बहुत कुछ प्रयत्न करता रहा है, किन्तु आज भी किसान अपने ढङ्ग से ही खेती करता है। आज भी भारतवर्ष में खेती अत्यन्त

छोटी मात्रा में की जाती है तथा भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाने के कारण स्थिति और गिरती जा रही है। अस्तु जहाँ तक खेती करने के ढंग का प्रश्न है आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप भी भारत में खेती की कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। यही नहीं, आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप खेती और खेती पर अवलम्बित रहने वालों की स्थिति गिरती ही गई। किन्तु आर्थिक परिवर्तन के फलस्वरूप कुछ अन्य दिशाओं में खेती में भी परिवर्तन हुआ। पहिला परिवर्तन तो खेती के स्वरूप में ही हुआ। स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर आश्रित खेती की पुरानी पद्धति नष्ट हो गई और खेती पैदावार को वेचने के उद्देश्य से की जाने लगी। इसको व्यापारिक खेती का नाम दिया गया है। इस परिवर्तन का मुख्य कारण यातायात के साधनों की उन्नति तथा द्रव्य का चलन था। जब लगान नकदी में वसूल किया जाने लगा और द्रव्य का चलन अधिक हो गया तो स्वभावतः किसान को अपनी पैदावार को वेचना आवश्यक हो गया। अस्तु वह उस फसल को बोता था जिसके बाजार में अच्छे पैसे मिलते थे और जिसकी बाजार में अधिक माँग थी। यातायात के साधनों की उन्नति तथा द्रव्य के चलन का ही यह परिणाम था कि देश में व्यापारिक खेती का प्रादुर्भाव हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत में जो रेलवे लाइनों का विस्तार हुआ वही इसका एकमात्र कारण नहीं था वरन् १८६६ में स्वेज नहर बन जाने के कारण भारत के कच्चे माल को संसार में पहुँचाने की सुविधा हो गई। स्वेज नहर के बन जाने से यह लाभ हुआ कि औद्योगिक योरोप भारत के बहुत समीप आ गया और भारतीय कच्चे माल का योरोप और विशेषकर ब्रिटेन के बाजारों में पहुँचना सम्भव हो गया। इसके अतिरिक्त सरकारी लगान तथा महाजन के ऋण को अदा करने की विवशता के कारण किसान को फसल काटते ही अपनी पैदावार को वेचना आवश्यक हो गया। स्थिति यह हो गई कि किसान को लगान तथा महाजन का ऋण चुकाने के लिए फसल कटते ही अपनी पैदावार को वेचना पड़ता था फिर चाहे कुछ महीनों के बाद उसे स्वयं अपने उपयोग के लिए अथवा बीज डालने के लिए वही अनाज खरीदना ही क्यों न पड़े। १८६८ के लगभग संयुक्त राज्य अमेरिका में गृह युद्ध होने के कारण जब अमेरिका से ब्रिटेन में कपास आना बिल्कुल बन्द हो गया तब भारतवर्ष की कपास की लंकाशायर में माँग बेहद बढ़ गई और कपास का मूल्य बहुत ऊँचा हो गया। कई वर्षों तक यही स्थिति रही। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में कपास की खेती को बहुत प्रोत्साहन मिला और उसका खूब ही विस्तार हुआ। कपास की खेती के विस्तार ने भी व्यापारिक खेती को प्रोत्साहन दिया। पंजाब, उत्तर-प्रदेश तथा अन्य प्रान्तों में बड़ी बड़ी नहरों तथा सिंचाई की दूसरी योजनाओं का जो विकास हुआ उससे भी व्यापारिक खेती को प्रोत्साहन मिला। जूट तथा अन्य औद्योगिक कच्चे पदार्थों की माँग के फलस्वरूप भी व्यापारिक खेती की वृद्धि हुई तथा भिन्न-भिन्न

प्रदेशों में वहाँ की मिट्टी तथा जलवायु के अनुकूल ही फसलें उत्पन्न की जाने लगीं। इस प्रकार खेती में विशेषीकरण भी प्रारम्भ हो गया। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करने वाली फसलों का स्थान औद्योगिक कच्चे पदार्थ उत्पन्न करने वाली फसलों ने ले लिया था। ऐसा केवल कुछ ही क्षेत्रों में हुआ था और वहाँ भी खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करने वाली फसलें ही मुख्यतः उत्पन्न की जाती थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ किसी औद्योगिक कच्चे पदार्थ को उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त परिस्थितियां थीं वहां उसकी बहुलता हो गई। परन्तु मुख्यतः खाद्य-पदार्थों को ही उत्पन्न किया जाता था। अस्तु; खेती में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ वह यह था कि व्यापारिक खेती बाजार को दृष्टि में रख कर की जाने लगी।

खेती के धन्धे में एक और भी बड़ा परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। वह परिवर्तन यह था कि भूमि किसानों के हाथ से निकल कर महाजनों के हाथ में जाने लगी। यह किसानों के अधिकाधिक ऋणी हो जाने का परिणाम था। हम भारतीय ग्रामीण ऋण के प्रश्न का अध्ययन एक पृथक परिच्छेद में करेंगे। जनसंख्या के बढ़ जाने के कारण भूमि का मूल्य भी बढ़ गया। यह परिवर्तन १८६० के लगभग आरम्भ हुआ। इसके दुष्परिणाम-स्वरूप भूमि किसानों के हाथ से निकल कर महाजनों के हाथ में जाने लगी। यह क्रिया १८६० के लगभग आरम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक तेजी से बढ़ती गई और सरकार के प्रयत्न करने पर १९४० तक भी वह नहीं रुक सकी। यही नहीं, भूमि हस्तांतरकरण कानून (Land Alienation Acts) के बन जाने के कारण किसान जातियों में ही महाजन भी उत्पन्न हो गए।

भारत में आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप खेती में एक विशेष प्रकार का बुरा परिवर्तन हुआ। अन्य धन्धों और पेशों के अभाव में तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या का भार खेती पर बढ़ता गया और उसका परिणाम यह हुआ कि भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गई और छोटे तथा बिखरे हुए खेतों की समस्या उत्पन्न हुई। इस समस्या का हम आगे चलकर विशेष रूप से अध्ययन करेंगे।

इसके अतिरिक्त एक विचित्र और अनोखी समस्या भारतीय गाँवों में दृष्टिगोचर होने लगी। वह थी ग्रामों में खेती के लिए मजदूरों की कमी। यह समस्या अनोखी इस कारण थी क्योंकि एक ओर तो जनसंख्या का भूमि पर भार बेहद बढ़ता जा रहा था क्योंकि अन्य धन्धों का अभाव था, दूसरी ओर यह कहा जा रहा था कि खेती के लिए मज़दूर नहीं मिलते। किन्तु वास्तव में इन दोनों में कोई विरोधाभास नहीं है; यह समस्या के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने से स्पष्ट हो जावेगा। खेती के लिए मजदूरों की कमी का अनुभव केवल फसल काटने के समय ही होता है, जबकि किसान का अपने श्रम तथा अपने परिवार वालों के श्रम से काम नहीं चलता।

अन्य समय छोटा किसान अपने परिवार वालों की सहायता से खेती का सारा कार्य कर लेता है। कुछ भागों में ग्रामीण जनसंख्या शहरों में मज़दूरी करने चली जाती है, इस कारण भी खेती के लिए मज़दूरों की कमी प्रतीत होती है। किन्तु हमारा देश औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा है अतएव यह इस बात का प्रमाण है कि ग्रामीण जनसंख्या का औद्योगिक केन्द्रों की ओर प्रवास इस कमी का मुख्य कारण नहीं हो सकता। एक तीसरा कारण भी खेती के मज़दूरों की कमी का वतलाया जाता है, वह यह है कि सम्पन्न किसानों ने स्वयं खेती करना छोड़ दिया है और वे मज़दूरों द्वारा खेती करवाते हैं, इस कारण खेत-मज़दूरों की माँग बढ़ गई है। जो कुछ भी कारण हो, परन्तु फसल के समय खेत-मज़दूरों की कमी रहती है इसमें कोई संदेह नहीं; और यह कोई अनोखी समस्या नहीं है। अब हम इन आर्थिक परिवर्तनों का भारतीयों पर कैसा प्रभाव पड़ा इसका अध्ययन करेंगे।

यह तो हम पहले ही कह चुके है कि भारत में उद्योग-धन्धों में लगी हुई जनसंख्या अधिकतर गृह-उद्योग-धन्धों में लगी हुई थी। यह कारीगर गाँव के स्थाई सेवक के रूप में अथवा स्वतन्त्र कारीगर की हैसियत से काम करते थे। इन ग्रामीण कारीगरों का गाँव के लिए विशेष महत्व था। आर्थिक परिवर्तनों की जो क्रिया हमारे देश में चल रही है उसने इन कारीगरों को कई प्रकार प्रभावित किया है। यह सच है कि आज भी प्रत्येक गाँव के अपने बढ़ई, लुहार, कुम्हार, धोवी तथा नाई इत्यादि होते हैं, फिर भी उनका महत्व और गांव के आर्थिक संगठन में जो एक निश्चित और स्थाई स्थान था वह जाता रहा। इसके अतिरिक्त और भी कई दिशाओं में परिवर्तन हुए। उदाहरण के लिए आजकल प्राचीन परिपाटी के अनुसार पैदावार के रूप में मज़दूरी देने के स्थान पर नकद मज़दूरी देने का कहीं-कहीं चलन हो गया है, यद्यपि आज भी वहुत से स्थानों पर वार्षिक पैदावार के रूप में मजदूरी चुकाने का चलन है। इसी प्रकार सभी कारबार अब रुपये के द्वारा होने लगे हैं। पैदावार के द्वारा क्रय-विक्रय क्रमशः बन्द होता जा रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि भारतीय गाँवों में द्रव्य का चलन और महत्व बहुत बढ़ता जा रहा है। पिछले महायुद्ध के फलस्वरूप तो द्रव्य का चलन और भी अधिक वढ़ गया है। गाँव के स्थाई कारीगर सेवकों को जो गाँव की ओर से खेती के लिए छोटासा भूमि का टुकड़ा मिला हुआ था, उसका भी महत्व अब कम हो गया है। आज ग्रामीण कारीगर की यह आकांक्षा रहती है कि वह किसी वड़े गाँव या कस्बे में जाकर वस जावे। यह क्रम बराबर चल रहा है। जिन कारीगरों का गांवों में रहना इन आर्थिक परिवर्तनों के कारण अत्यन्त आवश्यक नहीं रहा है; अथवा जिनकी वस्तुएँ आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जा सकती हैं, वे अधिकतर गाँवों से हटकर बड़े गांवों तथा कस्बों में

बसते जा रहे हैं। आज जो प्रत्येक गांव में बढ़ई और लुहार दिखलाई देता है वह इस कारण कि किसान के हल तथा अन्य औज़ारों को प्रतिक्षण ठीक करने के लिए उसका गाँव में रहना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि कुम्हार भी आज गाँव में दिखलाई देता है। कुम्हार के बर्तन आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाये जा सकते इस कारण उसका भी गांव में रहना अत्यन्त आवश्यक है। कहीं-कहीं, जहाँ चरस से ही सिंचाई होती है वहां चमार भी गांवों में रहता दिखलाई पड़ता है, क्योंकि उसे चरसों की मरम्मत करनी पड़ती है। किन्तु बुनकर और रङ्गरेज़ उतने आवश्यक नहीं हैं इस कारण वे छोटे-छोटे गांवों को छोड़-कर बड़े-बड़े गाँवों तथा कस्बों में बसते जा रहे हैं और उनका विशेष स्थानों पर जमाव होता जा रहा है। सुनार भी गांवों से हटकर बड़े गाँवों अथवा क़स्बों में चला गया है। उन कारीगरों में, जिनके धन्धों का या तो विदेशी माल की प्रतिद्वन्द्विता के कारण अथवा अन्य कारणों से पतन हुआ, उनमें दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं—या तो वे अपना धन्धा छोड़कर साधारण मज़दूर बन गए अथवा वे शहरों में काम की खोज में चले गए। इसके अतिरिक्त बहुत से कारीगरों ने अपने पैतृक धन्धे को छोड़कर खेती करना आरम्भ कर दिया। जहां तक ग्रामीण धन्धों के ऊपर आर्थिक परिवर्तन के प्रभाव का प्रश्न था उसका ऊपर लिखा प्रभाव पड़ा। इससे पहले कि हम इस सम्बन्ध में विचार करना समाप्त करें, हमें दो बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात यह कि भिन्न-भिन्न प्रकार के कारीगरों पर इस आर्थिक परिवर्तन का एकसा प्रभाव नहीं पड़ा। अब हम इस सम्बन्ध में तनिक विस्तार पूर्वक लिखेंगे।

हम यह तो ऊपर लिख ही चुके हैं कि लुहार तथा बढ़ई की मांग आज भी गांवों में पूर्ववत ही है। इनमें से जिन स्थानों पर उत्तम औज़ार तथा कृषि-यन्त्रों का अधिकाधिक उपयोग होने लगा है वहां बढ़ई की स्थिति कुछ गिर गई है। उन स्थानों में जहां कि लुहार या बढ़ई शहरों में चला गया है उसकी स्थिति में सुधार हुआ है। शहरों में कैंची, चाकू के धन्धे की उन्नति होने के कारण तथा इंजिनियरिङ्ग वर्कशापों के स्थापित हो जाने से लुहारों की स्थिति संभल गई तथा फरनीचर, मकान, तांगा और गाड़ी के धन्धे की उन्नति होने के कारण बढ़ई की स्थिति में सुधार हुआ। गांवों में लुहार तथा बढ़इयों की मांग बढ़ नहीं रही है, अतः उनकी संख्या में वृद्धि होने के दो ही परिणाम होंगे—या तो वे अन्य पेशों को अपनावें अथवा शहरों की ओर प्रवास करें।

यद्यपि गांव के कुम्हार के लिए ग्रामीण आर्थिक संगठन में आज भी स्थान है और वह निर्धन ग्रामीणों की मिट्टी के बर्तनों की मांग को पूरी करता है परन्तु

तांबे, पीतल और अलूमीनियम के बर्तनों का सम्पन्न परिवारों में अधिक प्रचलन होने के कारण तथा परिस्थितिवश साधारण परिवारों में भी उनका चलन बढ़ने के कारण कुम्हार की स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा है। जहाँ-जहाँ कुम्हार को अपना पैतृक पेशा छोड़ना पड़ा है उसके लिए खेती करने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं है।

गांव के चमार की स्थिति इस परिवर्तन से वास्तव में दयनीय हो गई है। भारत की खालों की विदेशों के बाजार में बहुत अधिक मांग है और उनका मूल्य बढ़ गया है। उसके लिए सिवा इसके और कोई चारा नहीं रहा कि या तो वह आधुनिक चमड़ा कमाने वाले कारखानों (टैनरियों) में जाकर काम करे अथवा खेती करे।

तेली की कथा भी इससे भिन्न नहीं है। तिलहन का विदेशों के लिए निर्यात तथा देश में तेल पेरने की मिलों के स्थापित होने से उसको इतनी हानि नहीं पहुँची जितनी मिट्टी के तेल के प्रचलन से उसको हानि पहुँची। बनस्पति के धंधे के स्थापित होने से उसकी स्थिति और भी दयनीय हो गई है।

जहां तक बुनकर तथा रङ्गरेज का प्रश्न है उनकी स्थिति भी पहले से बिगड़ गई। यद्यपि हाथ-कर्घों का धन्धा नष्ट नहीं हो गया, आज भी लाखों कर्घे भारतवर्ष में चलते हैं और देश की कुल कपड़े की मांग का लगभग एक तिहाई कपड़ा कर्घों पर ही तैयार होता है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्थिक परिवर्तन के कारण बुनकर की आर्थिक दशा बहुत गिर गई और उसको बहुत गहरा धक्का लगा। सबसे अधिक धक्का तो उन बुनकरों को लगा जो कि बढ़िया कपड़ा तैयार करते थे, क्योंकि उन्हें विदेशी तथा भारतीय कारखानों में बने हुए बढ़िया कपड़े की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा तथा उनके कपड़े के विदेशी बाज़ार जो कि जावा, ईरान, तथा अन्य एशियाई देशों में थे वे उनसे छिन गए। कपड़े के मिलों की प्रतिस्पर्द्धा सबसे अधिक औसत दर्जे के कपड़े में थी। जहाँ तक बहुत बढ़िया और ऊँचे दर्जे की कारीगरी की चीज़ों का प्रश्न था, उदाहरण के लिए शाल, जरी का काम तथा ग़लीचे, उनकी स्थिति इतनी खराब नहीं हुई, और न बहुत घटिया और मोटा कपड़ा बनाने वालों की स्थिति ही इतनी खराब हुई, क्योंकि मिलों को इन वस्तुओं के बनाने में उतना अधिक विशेष लाभ नहीं था। इसके अतिरिक्त मिलों के सूत का उपयोग करने से भी हाथ-बुनाई के धन्धे को सहायता मिली। हाथ-बुनाई का धन्धा भारतवर्ष में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुका था, किन्तु क्रमशः उसका पतन आरम्भ हुआ। किसी-किसी प्रान्त में धन्धे की दशा बहुत तेज़ी से खराब हो गई, तो किसी प्रान्त में देर से खराब हुई; परन्तु धन्धे की उन्नति सभी प्रान्तों में रुक गई और सभी प्रान्तों में धन्धे की अवनति हुई। गांव के बुनकरों की दशा शहरों के बुनकरों की तुलना में और भी गिर गई, क्योंकि शहर के बुनकरों का संगठन गाँव वालों की अपेक्षा अच्छा था। उन्नीसवीं

शताब्दी के अन्तिम चरण में विदेशी नकली रंगों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण भारतीय रंगरेज का भी धन्धा नष्ट हो गया। कारण यह था कि विदेशी नकली रंगों से कोई भी सरलतापूर्वक घर पर कपड़े रंग सकता है। इसके अतिरिक्त मिलें भी रंगीन कपड़े तैयार करने लगीं और साथ ही जनसाधारण की रुचि में भी परिवर्तन हो गया। इन सब कारणों से रंगरेजों की स्थिति खराब हो गई और यह धन्धा गिरने लगा। परन्तु इन सबों में कतैओं (सूत कातने वालों) की स्थिति सबसे अधिक खराब हो गई। उनका धंधा ही चौपट हो गया। यद्यपि महात्मा गांधी के नेतृत्व में हाथ-कताई के मृत धन्धे में फिर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न हुआ और अखिल भारतवर्षीय चर्खा सङ्घ ने हाथ-कताई के धंधे को उन्नत करने के लिए विशेष प्रयत्न किया परन्तु फिर भी उसकी स्थिति शोचनीय है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ग्रामीण धंधों को इस आर्थिक परिवर्तन से बहुत अधिक हानि पहुँची, और कुछ कारीगरों की आर्थिक स्थिति पहले से बहुत अधिक खराब हो गई। आज भी उन कारीगरों की कठिनाइयाँ दूर नहीं हुई हैं।

इस सम्बन्ध में एक दूसरी बात ध्यान देने योग्य है। जो भी गृह-उद्योग-धंधे आज तक जीवित हैं, उनके संगठन में तथा कारीगरों की कार्य प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल वे लोग जो नगरों में चले गए उनकी आर्थिक स्थिति में अवश्य सुधार हो गया है। केवल कुछ ही धन्धों में कारीगरों ने आधुनिक परिवर्तनों के साथ अपने काम करने की प्रणाली में परिवर्तन किया है। उदाहरण के लिए बुनकर मिल का सूत काम में लाने लगा है, दर्जी सीने की मशीनों को, चमार तथा बढ़ई बढ़िया आधुनिक औजारों को काम में लाने लगे हैं।

आर्थिक परिवर्तन-काल में भारतीय ग्राम के पूरे चित्र को अङ्कित करने के लिए यह बतला देना आवश्यक है कि अन्य दूसरे ग्राम-सेवक तथा पदाधिकारी पहले की तरह आज भी गाँवों में मौजूद हैं। उदाहरण के लिए आज भी गाँव में धोबी और मेहतर, नाई पुरोहित तथा महाजन और पटवारी, पटेल तथा चौकीदार होते हैं। यह सच है कि गाँव में उन शक्तियों का विकास हो रहा है जो क्रमशः इनमें से कुछ का, विशेष कर महाजन तथा पुरोहित का, प्रभाव आगे चलकर कम करदें; किन्तु अभी तो उनका गांव में यथेष्ट प्रभाव है और कुछ पीढ़ियों के बाद ही उनका प्रभाव कम होने की सम्भावना है। जहां तक पटवारी, पटेल अथवा चौकीदार का प्रश्न है, ब्रिटिश शासन में इन कर्मचारियों की स्थिति और भी दृढ़ हो गई, क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने उन्हें अङ्गीकार करके सरकारी कर्मचारी बना दिया। जहां तक धोबी और मेहतर का प्रश्न है उनकी स्थिति भी दृढ़ है, क्योंकि उनकी गांव को नितान्त आवश्यकता है। ग्राम-पंचायत, जो कि ग्राम-जीवन का नियंत्रण करती थी, उसका अंगरेजी

की केन्द्रीय शासन-प्रणाली में पतन हो जाना अवश्यम्भावी था। पिछले दिनों जो शासन के विकेन्द्रीयकरण के प्रयत्न किए गए वह बहुत से कारणों से सफल नहीं हुए। स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त फिर ग्राम-पंचायत के महत्व को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

हम यह ऊपर ही कह चुके हैं कि अदल-बदल परिपाटी तथा मर्यादा ही पुराने भारतीय गांव की विशेषताएँ थीं। नकदी, प्रतिस्पर्द्धा तथा स्वतंत्रता का पुराने भारतीय ग्राम में सर्वथा अभाव था। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतीय गांव में धीरे-धीरे अदल-बदल का स्थान रुपया-पैसा, परिपाटी का स्थान प्रतिस्पर्द्धा तथा मर्यादा का स्थान स्वतन्त्रता ले रही है। परन्तु इस परिवर्तन की गति बहुत धीमी है। व्यक्तिवाद का उदय होने, स्वावलम्बन तथा पृथकता का विनाश होने के कारण भारतीय गाँव में अदल-बदल के स्थान पर रुपये-पैसों का चलन आरम्भ हो गया है। आज भारतीय गांवों में लगान, मूल्य तथा मजदूरी प्रतिस्पर्द्धा तथा मोल-भाव से निर्धारित होती है न कि परम्परा से, जैसा कि पहले होता था। ऊपर लिखा चित्र आर्थिक परिवर्तन-काल में भारतीय गांव का वास्तविक और पूरा चित्र है। अब हम नगरों का अध्ययन करेंगे।

एक बात जो हमें नगरों के सम्बन्ध में दिखलाई देती है, वह यह है कि नगरों की वृद्धि के सहायक तथा विरोधी तत्वों के कारण नगरों की जनसंख्या में वास्तव में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में नगरों की जनसंख्या में वृद्धि होने लगी है। विशेषकर द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप नगरों की जनसंख्या की आश्चर्यजनक गति से वृद्धि हुई है। भारतवर्ष में नगरों की अपेक्षाकृत जनसंख्या में जो अधिक तेजी से वृद्धि नहीं हुई वह इङ्गलैण्ड तथा अन्य पश्चिमीय देशों के अनुभव के सर्वथा विरुद्ध थी। इङ्गलैण्ड में आर्थिक परिवर्तन काल में नगरों की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ी थी। भारत के नगरों की जनसंख्या के धीमी गति से बढ़ने का मुख्य कारण यह है कि यहां आर्थिक क्रान्ति अप्राकृतिक तथा अराष्ट्रीय परिस्थितियों में हुई। जहां हमारे नगरों में गृह-उद्योग-धन्धों का पतन हो गया, वहां आधुनिक ढंग के कारखानों का विकास उसके साथ-साथ नहीं हुआ। जो भी थोड़े-बहुत कारखाने स्थापित हुए, वह बहुत ही धीरे स्थापित हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि नगरों की अपेक्षा ग्रामों में रहने वाली जनसख्या की ही अधिक वृद्धि हुई। अस्तु; जहाँ एक ओर रेलवे लाइनों तथा सड़कों के बनने तथा नये कल-कारखानों के स्थापित होने, शहरों में जीवन सम्बन्धी सुविधाएँ—स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध—होने, तथा गाँवों में धधो के विनाश के कारण, बेकारी बढ़ जाने के कारण, नगरों की वृद्धि में सहायता पहुँची, वहाँ पुराने शहरों की उनके व्यापारिक महत्व के कम हो जाने से

अवनति हो गई, या उनके गृह-उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने के कारण तथा शहरी जीवन की कठिनाइयों के कारण नगरों की वृद्धि में रुकावट हुई। अस्तु, इन दो विरोधी कारणों ने एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर दिया और नगरों की अधिक वृद्धि न हो सकी। इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। यद्यपि भारतवर्ष में बहुत से नगर तो उत्पन्न नहीं हुए; परन्तु बम्बई, कलकत्ता, जमशेदपुर, अहमदाबाद तथा कानपुर जैसे औद्योगिक केन्द्रों का उदय हुआ, जो कि पुराने भारत में कहीं भी देखने को नहीं मिलते थे। नवीन शहरों में जो सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ, वह पुराने गृह-उद्योग-धंधों का विनाश था। नगरों के गृह-उद्योग-धन्धों की अवनति अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से आरम्भ हुई, किन्तु उन्नीसवीं, शताब्दी के मध्य में गृह-उद्योग-धन्धों का तेजी से पतन हो गया। जिन कारणों से शहरों के गृह-उद्योग-धन्धों का विनाश हुआ, हम उनका आगे चलकर विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। यहां हम इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप भारतीय नगरों में जनसंख्या की तेजी से वृद्धि हुई। जो पाकिस्तान से हिन्दू शरणार्थी आये उन्होंने भी नगरों की जनसंख्या में भारी वृद्धि की। शहरों के गृह-उद्योग-धन्धों के नाश होने के नीचे लिखे कारण हैं।

(१) **बादशाहों की राजधानियों का नष्ट होना :** शहरों के गृह-उद्योग-धंधो की अवनति का यह प्रमुख कारण था। पुराने समय में नवाबों, राजाओं तथा बादशाहों की राजधानियों में बहुत से धन्धे इस कारण पनपते थे, क्योंकि शासक तथा उनके दरबारियों द्वारा उन वस्तुओं की माँग होती थी। ब्रिटिश शासन के स्थापित हो जाने के उपरान्त इन धन्धों को जो राजकीय संरक्षण प्राप्त था वह जाता रहा इस कारण उन गृह-उद्योग-धन्धों की अवनति हो गई।

(२) **विदेशी प्रभाव :** विदेशी प्रभाव दूसरा महत्वपूर्ण कारण था, जिसके फलस्वरूप गृह-उद्योग-धन्धों की अवनति हो गई। देश में विदेशियों का शासन स्थापित हो जाने के कारण विदेशी प्रभाव बढ़ा, जिसके फलस्वरूप धन्धों की अवनति हो गई। ब्रिटिश शासन के स्थापित होने के साथ-साथ दरबारियों तथा सामंतों का स्थान योरोपीय उच्च राज्य कर्मचारियों, योरोपीय यात्रियों तथा अङ्गरेजी जीवन से प्रभावित शिक्षित भारतीयों ने, जो सरकारी नौकरियाँ करते थे या वकालत इत्यादि पेशों में लगे हुए थे, ले लिया। इस परिवर्तन का भारतीय गृह-उद्योग-धन्धों पर बुरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि योरोपीय उच्च अफसर तथा विदेशी यात्री हमारे गृह-उद्योग-धन्धों द्वारा तैयार की हुई वस्तुओं की थोड़ी-बहुत माँग करते थे इस कारण वे वस्तुएँ तैयार भी की जाती थीं, परन्तु फिर भी गृह-उद्योग-धंधों के बने हुए पदार्थों की पहले जैसी माँग नहीं रही। विदेशी यात्रियों तथा अंगरेज अफसरों की माँग का लाभ यही हुआ कि धंधों के द्वारा

तैयार की हुई वस्तुओं की माँग एकदम लुप्त नहीं हो गई, धीरे-धीरे कम हुई। यही नहीं, विदेशी यात्रियों तथा अंग्रेज अफसरों की मांग सस्ती और नई डिजाइनों की वस्तुओं की थी, जिन्हें कि अंगरेजों ने इस देश में प्रचलित किया था। पहले जैसी कीमती तथा भारतीय कला की सुन्दर वस्तुओं की मांग तो सर्वथा लुप्त हो गई। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि भारतीय कारीगरी गिर गई, क्योंकि भारतीय कारीगर जब विदेशी डिजाइनों की नकल करते तो उनकी कला जीवनरहित दिखाई देती थी, क्योंकि वे पश्चिमीय डिजाइनों को समझ ही नहीं पाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का प्राचीन कला-सौन्दर्य नष्ट हो गया। अंग्रेजी ढंग के शिक्षित भारतीयों की कहानी और भी कष्टदायक तथा अपमानजनक है। अंग्रेजी ढंग की शिक्षा ने महात्मा गांधी के शब्दों में उनमें दास मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी जिसके परिणामस्वरूप वे सभी भारतीय बातों से घृणा करने लगे और सभी अंग्रेजी बातों को पसन्द करने लगे। शिक्षित भारतीयों ने भारतीय कलात्मक वस्तुओं को एकदम तिलाञ्जलि दे दी इस कारण इन धधों का पतन शीघ्रतापूर्वक होने लगा। ब्रिटिश शासन ने हमारे धंधों का और तरह से भी सत्यानाश किया। अंग्रेजी सरकार ने राजनैतिक दृष्टि से भारतीयों को अस्त्र-शस्त्र रखने की मनाई कर दी। इस निशस्त्रीकरण का परिणाम यह हुआ कि बन्दूक, तलवार तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रों को बनाने का जो धन्धा देश में प्रचलित था वह नष्ट हो गया। इसी प्रकार ब्रिटिश शासन की स्थापना के फलस्वरूप औद्योगिक संघ निर्बल हो गए, जो कि गृह-उद्योग-धन्धों का नियंत्रण तथा व्यवस्था करते थे; अतएव गृह-उद्योग-धन्धों की अवनति होने लग गई।

(३) विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा : यद्यपि ऊपर लिखे हुए दोनों कारणों से यह तीसरा कारण कम महत्त्वपूर्ण न था, किन्तु इसने गिरते हुए भारतीय गृह-उद्योग-धन्धों को कुचल डालने का काम किया। विदेशी माल की भीषण प्रतिस्पर्द्धा का शिकार मुख्यतः भारतीय वस्त्र-व्यवसाय हुआ; उसमें भी बढ़िया कपड़ा बनाने वालों को सबसे गहरा आघात पहुँचा। लङ्काशायर तथा मैन्चैस्टर-शायर भारतीय वस्त्र-व्यवसाय के सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। यद्यपि लङ्काशायर तथा मैन्चैस्टर-शायर के कपड़े भारतीय कारीगरों द्वारा बनाए गए वस्त्रों से घटिया होते थे, किन्तु उनकी विशेषता यह होती थी कि वे सस्ते होते थे। इस कारण भारतीय वस्त्र उनकी प्रतिस्पर्द्धा में बाजार में नहीं टिक पाते थे। शिक्षित भारतीयों में भारतीय वस्तुओं की उपेक्षा करने तथा विदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग की भावना उत्पन्न हो गई थी; उसके कारण विदेशी माल को भारतीय वस्तुओं से प्रतिस्पर्द्धा करने में और भी अधिक सहायता मिली।

अभी तक हमने केवल उन शहरी धन्धों की ही बात की जो कि विलासिता की

वस्तुओं को तैयार करते थे। इनके अतिरिक्त प्राचीन काल में भारतीय शहरों में लोहे, शीशे, कागज तथा नोलाथोथा के धन्धे भी केन्द्रित थे। यह धन्धे भिन्न भिन्न शहरों में केन्द्रित थे। जिस नगर के समीप जो भी कच्चा माल मिलता था, उसी का धन्धा वहां केन्द्रित हो जाता था। बहुत से कारणों से यह धन्धे भी गिरने लगे। विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा ही इनकी अवनति का मुख्य कारण थी।

जो भी शहरी गृह-धन्धे जीवित बच गए उनके संगठन में भारी परिवर्तन हो गया। इन धन्धों में क्रमशः कारीगर का स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो गया और वह एक पूँजीपति व्यापारी के आश्रित हो गया। कहीं-कहीं तो कारीगर का स्वतन्त्र अस्तित्व एकदम नष्ट हो गया और वह व्यापारी का मजदूर बनकर काम करने लगा। उस दशा में मजदूर कारीगर व्यापारी के दिये हुए कच्चे माल का ही उपयोग करता था और उसके औजारों को ही काम में लाता था। किसी किसी दशा में कारीगर का स्वतन्त्र अस्तित्व आंशिक नष्ट होता था। आज कारीगर अपने औजारों से काम करता है और किसी-किसी दशा में वह कचा माल भी अपना ही लगाता है। परन्तु व्यापारी जो कि कारीगर को कच्चा माल बेचता है, इसी शर्त पर कच्चा माल देता है कि कारीगर तैयार माल को उसी के हाथ एक निश्चित मूल्य पर बेचे। इस प्रकार व्यापारी व्यवसायी कारीगर का शोषण करने में सफल होता है। कारीगर की यह स्वतन्त्रता अधिकतर ऊँचे दर्जे के धन्धे में हो नष्ट हुई। जिन धन्धों के लिए बहुत थोड़ी पूँजी की आवश्यकता होती थी, और माल की बिक्री उसी स्थान पर हो जाती थी, वहां कारीगर की स्वतन्त्रता नष्ट नहीं हुई और वह स्वतन्त्र रूप से कार्य करता रहा। जिन धन्धों में कच्चा माल अधिक मूल्यवान् होता था, पूँजी की अधिक आवश्यकता पड़ती थी, अथवा जिसके ग्राहक बहुत दूरी पर होते, अथवा जिस माल की मांग मौसमी अथवा अनिश्चित होती, वहां कारीगर व्यापारी अथवा मध्यस्थ का क्रीत दास बन गया।

(४) ब्रिटिश सरकार की घातक नीति : भारतीय गृह-उद्योग-धन्धों के विनाश की कथा उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि सरकार की घा क औद्योगिक नीति का वर्णन न कर दिया जावे। ब्रिटिश सरकार ने जिस आर्थिक नीति को अपनाया वह देश के आर्थिक हितों के सर्वथा विरुद्ध और घातक थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय गृह-उद्योग-धन्धों के पतन और विनाश की ओर से घोर उपेक्षा ही नहीं दिखलाई, वरन् उनकी रक्षा करने तथा नवीन आर्थिक परिवर्तन के कारण होने वाले कष्टों से देश को बचाने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया। उद्योग धन्धों की रक्षा करने तथा नवीन आर्थिक परिवर्तनों से होने वाले कष्टों से देश की रक्षा करना तो दूर रहा, वरन् ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बाद को ब्रिटिश सरकार ने ऐसी घातक आयात तथा निर्यात कर-नीति (Tariff policy) को अपनाया कि विदेशी माल को बिना

ोई कर दिए ही देश में आने दिया। इस मुक्तकर-नीति (Free trade policy)
ऽ कारण विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा तीव्र हो गई जिसके परिणामस्वरूप गृह-उद्योग-
न्धों का तो विनाश हुआ ही, नये कारखानों की स्थापना में भी रुकावट होती थी।
ही नहीं, रेलवे लाइनों की भाड़ा-नीति ऐसी थी कि जिससे विदेशी पक्के माल का
गयात (Import) बढ़े और भारत से कच्चे माल के निर्यात (Export) को
ोत्साहन मिले। रेलवे-कम्पनियों ने भी इस प्रकार की भाड़ा नीति को अपनाया कि
गरत में उद्योग धन्धों का विस्तार न हो सके। ब्रिटिश सरकार की इन घातक नीतियों
का परिणाम यह हुआ कि आर्थिक परिवर्तन से होने वाले कष्ट बेहद बढ़ गए और
भारत के आर्थिक परिवर्तन का रुख गलत दिशा की ओर मुड़ गया। भारतीय पक्के
माल पर इङ्गलैण्ड में बहुत अधिक कर लगाया गया। ब्रिटिश माल को भारत में बिना
कर लगाये आने दिया गया, यहाँ तक कि भारतीय रङ्गीन कपड़े को पहनना इंगलैण्ड
में दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया और भारतीय कारीगरों पर घोर अत्याचार
किया गया जिससे कि वह अपने धन्धे को न चला सकें। भारतीय धंधों के जीवित रहते
अंग्रेज शासकों को यह भय था कि वह ब्रिटेन के धन्धों से प्रतिस्पर्द्धा करेंगे। सच तो
यह है कि भारत पर राजनैतिक प्रभुत्व जमा कर ब्रिटिश सरकार ने उस प्रभुता का
उपयोग अत्यन्त निर्लज्जता पूर्वक भारतीय जन और आर्थिक साधनों के शोषण में
किया। हम लोगों को विवश किया गया कि हम कच्चा माल उत्पन्न करें और विदेशों
को भेजें और पक्का माल बाहर से मँगावें। यह हमारे शहरी उद्योग-धन्धों की अवनति
की कथा है। वे भारतीय गृह-उद्योग धन्धे जिनकी ओर संसार ईर्ष्या की दृष्टि से
देखता था और जिनके कारण भारत संसार की दृष्टि में सोने की चिड़िया थी,
नष्ट हो गये।

आर्थिक परिवर्तन के सम्बन्ध में इस परिच्छेद को समाप्त करने से पहले यह
शिक्षाप्रद और रुचिकर दोनों ही होगा कि हम भारत के आर्थिक परिवर्तन तथा अन्य
देशों के आर्थिक परिवर्तन का तुलनात्मक अध्ययन करें। यदि हम संसार के अन्य
देशों के प्रतिनिधि स्वरूप इङ्गलैंड को ले लें तो हमें ज्ञात होगा कि वहां भी आधुनिक
आर्थिक संगठन के फलस्वरूप गृह-उद्योग-धन्धों की मृत्यु हो गई। परन्तु वहां साथ ही
साथ तेजी से फैक्टरियां स्थापित होती गईं। पुराने धन्धों की मृत्यु के साथ-साथ
आधुनिक ढङ्ग की फैक्टरियों की तेजी से स्थापना का परिणाम यह हुआ कि गृह-उद्योग-
धन्धों से बेकार होने वाले कारीगरों को उन फैक्टरियों में काम मिल गया। इसके
विपरीत भारत में गृह-उद्योग-धन्धों का विनाश हो गया किन्तु उनके स्थान पर आधु-
निक ढङ्ग की फैक्टरियों का उदय नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ इङ्ग-
लैंड के कारीगर को इस परिवर्तन से बहुत कम कष्ट हुआ वहां भारत के कारीगर की

दशा दयनीय हो उठी। भारतवर्ष में जो भी फैक्टरियों की स्थापना हुई वह इतनी देर बाद और धीरे-धीरे हुई कि भारतीय कारीगर को अपना पैतृक धन्धा छोड़कर खेती की ओर जाना पड़ा। भारत में आधुनिक ढंग के कल-कारखाने बहुत देर से धीरे-धीरे स्थापित हुए इसके बहुत से कारण हैं, जिनके सम्बन्ध में हम आगे चलकर लिखेंगे। इस आर्थिक परिवर्तन का एक परिणाम यह भी हुआ कि हमारे आन्तरिक व्यापार की अपेक्षा विदेशी व्यापार में अधिक वृद्धि हुई और बहुत समय तक भारत के विदेशी व्यापार का स्वरूप यही रहा कि हम बाहर से पक्का माल मँगवाते और कच्चा माल बाहर भेजते थे। अन्य देशों में जहां भी आर्थिक क्रान्ति हुई वहां इसके सर्वथा विपरीत परिस्थिति रही; अर्थात् वे पक्का माल विदेशों को भेजते थे और कच्चा माल विदेशों से मँगवाते थे। यदि हम संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि जहां अन्य देशों में आर्थिक क्रांति अथवा आर्थिक परिवर्तन शुभ हुआ, वे देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली बन गए। वहां समृद्धिशाली धन्धों और वैभवशाली नगरों का उदय हुआ। परन्तु भारतवर्ष में आर्थिक परिवर्तन अत्यन्त कष्टदायक हुआ और उसके परिणामस्वरूप भारत में दैन्य, निर्धनता और दीनता का साम्राज्य स्थापित हो गया। यही नहीं, यहां बड़े-बड़े वैभवशाली नगरों के स्थान पर ग्रामीण जनसंख्या की ही वृद्धि अधिक हुई। यह विनाशकारी परिवर्तन इस कारण नहीं हुआ कि भारतीयों में कोई योग्यता अथवा क्षमता नहीं थी वरन् इस कारण हुआ कि हम परतन्त्र थे, और ब्रिटिश साम्राज्यवाद हमारा शोषण करता रहा। सच तो यह है कि एक स्वतन्त्र और राष्ट्रीय सरकार ही देश के आर्थिक हितों की रक्षा कर सकती है और करोड़ों देश-वासियों को सम्पन्न बना सकती है। हर्ष की बात है कि १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया। अब हमारी राष्ट्रीय सरकार देश को उन्नत बनाने का प्रयत्न करेगी।

स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त भारत सरकार इस ओर प्रयत्नशील है। सिंचाई तथा जल-विद्युत की नवीन योजनायें हाथ में ली गई हैं, नवीन धंधों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार ने ट्रैक्टर विभाग स्थापित करके बंजर भूमि पर खेती कराने का प्रयत्न किया है तथा पंचवर्षीय आर्थिक योजना को स्वीकार करके भारत सरकार देश का योजनाबद्ध आर्थिक विकास करने के लिए कृत-संकल्प है। आशा है कि कुछ समय के उपरान्त भारत समृद्धिशाली बनने की ओर कदम रखेगा।

दस वर्षों में जब जलविद्युत की नवीन योजनाएँ कार्यान्वित हो जावेंगी और हमारे गांवों में सस्ती बिजली मिल सकेगी तो खेती तथा कुटीर उद्योग-धंधों की कायापलट हो जावेगी। कुओं से सिंचाई का कार्य बिजली के द्वारा होने लगेगा जैसा कि उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में इस समय होता है तथा कुटीर धंधे हल्की मशीनों का उपयोग कर सकेंगे जो कि बिजली से चलेंगी। यह कुटीर धंधे सहकारिता के द्वारा और

अन्य व्यापारिक फसलें	०.४%	०.३%	०.४%
व्यापारिक फसलों का जोड़	१८.१%	१६.१%	२०%

सर टी० डबल्यू० होल्डरनेस ने अपनी पुस्तक "भारत के निवासी तथा उनकी समस्याएँ" में ठीक ही लिखा है कि यदि विदेशी बाजारों में कच्चा औद्योगिक माल देने वाली भूमि को कुल जोती जाने वाली भूमि में से घटा दिया जावे, तो हमें ज्ञात होगा कि जो भूमि बचेगी वह प्रति भारतीय के पीछे दो तिहाई एकड़ से अधिक नहीं है। अतएव भारत इस दो तिहाई एकड़ से एक व्यक्ति के लिये भोजन उत्पन्न करता है, और कपड़ा देता है। संसार में सम्भवतः कोई भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ भूमि से इतनी अधिक आशा की जाती हो, (विस्तृत खेती के द्वारा) यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यदि प्रति व्यक्ति पीछे इतनी कम भूमि होने तथा विस्तृत खेती (Extensive Cultivation) के कारण भारतीयों को भूखा और नङ्गा रहना पड़े। अस्तु; भारत की निर्धनता को दूर करने का एकमात्र उपाय देश का औद्योगीकरण तथा अधिक गहरी खेती (Intensive cultivation) ही है।

भारत में खेती की फसलों का संक्षिप्त विवरण

खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करने वाली फसलें

चावल : चावल भारत की सब से महत्वपूर्ण फसल है। वह देश की जोती जाने वाली भूमि की ३० प्रतिशत भूमि पर बोया जाता है। चावल अविभाजित भारत में ७ करोड़ एकड़ से अधिक भूमि पर पैदा किया जाता था। विभाजन के उपरान्त भारत में ५ करोड़ ८० लाख एकड़ भूमि पर चावल उत्पन्न होता है। चावल जिनका मुख्य भोजन है, भारत में उनकी जनसंख्या सबसे अधिक है। चावल के लिये उर्वरा भूमि चाहिये, जिसमें जल को सुरक्षित रखने की शक्ति हो, तापक्रम ७५ डिगरी होना आवश्यक है। चावल का पौधा यदि पानी के अन्दर रहे तो खूब पनपता है, इस कारण चावल की खेती के लिये पानी की बहुत आवश्यकता होती है। नदियों की घाटी की गंगवार भूमि तथा डेल्टा की भूमि चावल की पैदावार के लिए विशेष उपयुक्त है। उन स्थानों पर, जहाँ कि वर्षा ४० इञ्च से कम होती है, चावल की पैदावार नहीं की जाती। मानसून पर चावल की पैदावार निर्भर रहती है। यदि किसी वर्ष मानसून निर्बल होता है, तो चावल की पैदावार कम हो जाती है, क्योंकि पानी चावल की खेती के लिये मुख्य वस्तु है।

भारत में चावल उत्पन्न करने वाले प्रांतों में बङ्गाल, मद्रास, बिहार, आसाम, उड़ीसा, बम्बई, उत्तर-प्रदेश और मध्य-प्रदेश मुख्य हैं। सक्खर बांध की नहरों के बन जाने से सिंध में भी पिछले वर्षों से चावल की खेती बहुत होने लगी है। भारत के विभाजन के फलस्वरूप सिंध और पूर्वीय बंगाल जो कि चावल उत्पन्न करने वाले प्रान्त

है, पाकिस्तान में चले गए हैं। स्थिति यह है कि पश्चिमीय पाकिस्तान में चावल कुछ आवश्यकता से अधिक है, किन्तु पूर्वीय पाकिस्तान में चावल की बहुत कमी है, जो उससे पूरी नहीं हो सकती।

भारत में चावल की पैदावार के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है—चावल की फसल उत्पन्न करने वाली भूमि का क्षेत्रफल १९१३ में ६ करोड़ ६४ लाख एकड़ था, और उपज २ करोड़ ४८ लाख टन थी, किन्तु १९४२-४३ में चावल ७ करोड़ ४ लाख एकड़ पर पैदा किया गया, किन्तु उत्पत्ति २ करोड़ ३० लाख टन ही हुई। इसका अर्थ यह हुआ कि पैदावार कम हो गई। विभाजन के उपरान्त भारत संघ में ५ करोड़ अस्सी लाख एकड़ भूमि पर १ करोड़ ८५ लाख टन चावल उत्पन्न होता है।

यद्यपि भारतवर्ष संसार में सबसे अधिक चावल उत्पन्न करता है, परन्तु फिर भी उसको विदेशों, विशेषकर बर्मा, से २५ लाख टन से अधिक चावल प्रतिवर्ष मँगाना पड़ता है क्योंकि चावल की खपत देश में बहुत अधिक है। आज देश में चावल तथा अन्य अनाज की कमी है, और देश के सामने खाद्य-समस्या भयंकर रूप से उठ खड़ी हुई है, अतएव आवश्यकता इस बात की है कि प्रति एकड़ चावल की उपज को बढ़ाने का प्रयत्न किया जावे। चावल उत्पन्न करने वाली भूमि की तीन चौथाई भूमि हिन्दुस्तान में और एक चौथाई भूमि पाकिस्तान में है। पाकिस्तान अविभाजित भारत का २७ प्रतिशत चावल उत्पन्न करता है। पाकिस्तान में जितना चावल उत्पन्न होता है, उसका ९०% पूर्वी पाकिस्तान में उत्पन्न होता है। पूर्वीय पाकिस्तान में ७६५,००० टन चावल की कमी है।

भारतवर्ष में प्रति एकड़ चावल की पैदावार अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। जहाँ विदेशों में प्रति एकड़ १५०० और २९४० पौंड चावल पैदा होता है वहाँ हमारे देश में प्रति एकड़ चावल की पैदावार केवल ८९२ पौंड होती है। दामोदर घाटी योजना, कोसी और हीराकुंड बांध की योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने पर भारत में चावल की उत्पत्ति में वृद्धि हो जावेगी। आशा की जाती है कि इन योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने पर भारत में ५० प्रतिशत चावल की उत्पत्ति बढ़ेगी।

गेहूं : गेहूँ, चावल के उपरान्त देश की दूसरी सबसे अधिक महत्वपूर्ण फसल है। यह देश की जोती जाने वाली भूमि के १० प्रतिशत से अधिक पर उत्पन्न किया जाता है। विभाजन के पूर्व भारत में ३ करोड़ ६० लाख एकड़ भूमि पर १ करोड़ २४ लाख टन गेहूं उत्पन्न होता था। विभाजन के उपरान्त भारत सङ्घ में दो करोड़ एकड़ भूमि पर गेहूं की खेती होती है और ५४ लाख टन गेहूं उत्पन्न होता है। गेहूं के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि गेहूं के क्षेत्रफल के बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन भी बढ़ गया है। अविभाजित भारतवर्ष गेहूँ उत्पन्न करने वाले देशों में

चौथा स्थान रखता था, और संसार की कुल उत्पत्ति का आठवाँ भाग उत्पन्न करता था।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, भारत सङ्घ में ५४ लाख टन के लगभग गेहूं उत्पन्न होता है। पंजाब और उत्तर प्रदेश सम्पूर्ण देश का ५५ प्रतिशत के लगभग गेहूं उत्पन्न करते हैं और गेहूं उत्पन्न करने वाले क्षेत्रफल का आधे के लगभग इन प्रान्तों में है। अविभाजित पंजाब सबसे अधिक गेहूं उत्पन्न करता था। उत्तर प्रदेश का दूसरा स्थान था। इन प्रान्तों के अतिरिक्त मध्यप्रदेश, बिहार, मध्यभारत, राजपूताना, ग्वालियर तथा हैदराबाद में भी गेहूँ उत्पन्न होता है।

विभाजन के फलस्वरूप हिन्द यूनियन के प्रान्तों में २ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि पर गेहूँ उत्पन्न होता है और पाकिस्तान में १ करोड़ एकड़ भूमि पर गेहूं की पैदावार होती है। अस्तु; हिन्द यूनियन में दो तिहाई तथा पाकिस्तान में एक तिहाई गेहूँ की भूमि है। हिन्दुस्तान सम्पूर्ण भारत का ६५% गेहूं उत्पन्न करता है और पाकिस्तान ३५% गेहूँ उत्पन्न करता है। पाकिस्तान में गेहूं पश्चिमीय पाकिस्तान में उत्पन्न होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय बात है कि पाकिस्तान में गेहूँ उसकी आवश्यकता से अधिक है। खाद्य विभाग का अनुमान है कि पश्चिमीय पाकिस्तान में ६२०,००० टन की बहुलता है और पूर्वीय पाकिस्तान में १७७,००० टन की कमी है।

भारतवर्ष में प्रति एकड़ गेहूं की पैदावार बहुत कम है। इसका कारण यह है कि खेती का ढंग पुराना है। १९२० तक भारत गेहूं बाहर भेजता था किन्तु क्रमशः गेहूं का निर्यात कम हो गया। अब तो भारतवर्ष में गेहूँ की कमी है और भारतवर्ष विदेशों से गेहूँ मँगाता है। यदि गहरी खेती के द्वारा गेहूं की पैदावार को बढ़ाया जा सके तो भारतवर्ष में गेहूँ की कमी को पूरा किया जा सकता है।

भारत में गेहूँ की पैदावार प्रति एकड़ ६३६ पौंड है जबकि अन्य देशों में इससे तिगुनी और चार गुनी तक पैदावार होती है। साधारण तौर पर फसल को पानी मिलने के परिमाण के अनुसार प्रति एकड़ पैदावार में अन्तर पाया जाता है। जहाँ सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं—जैसे उत्तर प्रदेश और पूर्वीय—पञ्जाब वहाँ प्रति एकड़ पैदावार अधिक होती है।

गेहूं की दृष्टि से भारत स्वावलम्बी नहीं है, पश्चिमीय पाकिस्तान जो गेहूँ बहुत उत्पन्न करता था पाकिस्तान में चला गया। इस कारण यहाँ गेहूँ की कमी हो गई। आजकल प्रतिवर्ष लाखों टन गेहूँ विदेशों, विशेषकर आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पाकिस्तान, से मँगवाना पड़ता है। भारत सरकार के "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन के फलस्वरूप १९५२ तक भारत गेहूँ आदि खाद्यान्नों की दृष्टि से स्वावलम्बी होने की आशा है। भविष्य में कभी भारत गेहूँ निर्यात करने लगेगा इसकी कोई सम्भावना नहीं है।

बाजरा तथा ज्वार : दक्षिण की ग्रामीण जनता का बाजरा और ज्वार मुख्य भोजन है। बाजरा और ज्वार गरम प्रदेशों में खूब होता है, उसको अधिक जल की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। जहाँ वर्षा बिलकुल ही कम होती है वहाँ सिंचाई की सहायता से इसकी खेती होती है।

ज्वार की दक्षिण में विस्तृत खेती होती है, यद्यपि भारत के अन्य सूखे प्रदेशों में भी इसकी खेती होती है। विभाजन के बाद भारत में इसकी खेती लगभग ३ करोड़ ६० लाख एकड़ पर होती है। ज्वार दो करोड़ बीस लाख एकड़ पर और बाजरा एक करोड़ ४० लाख एकड़ पर। ज्वार की वार्षिक उत्पत्ति ४० लाख से ६० लाख टन और बाजरे की पैदावार २० लाख से २८ लाख टन तक होती है। बम्बई, हैदराबाद, मद्रास और मध्य-प्रदेश में भारत का ७० प्रतिशत ज्वार-बाजरा उत्पन्न होता है। बम्बई सबसे अधिक ज्वार उत्पन्न करता है। हैदराबाद और मद्रास की उसके बाद गणना होती है। ज्वार उत्तर प्रदेश, पंजाब, ग्वालियर, राजपूताना, मध्य-भारत और मैसूर में भी उत्पन्न होती है। बाजरा भारत में विस्तृत भू-भाग पर उत्पन्न होता है और गाँवों का मुख्य भोजन है। बम्बई, मदरास, पंजाब, हैदराबाद, राजपूताना तथा उत्तर प्रदेश में इसकी उत्पत्ति मुख्यतः होती है। मध्य-प्रदेश में भी इसकी थोड़ी-सी पैदावार होती है। ज्वार-बाजरा चारे की फसलें भी हैं जो भोजन के साथ-साथ चारा भी उत्पन्न करती हैं। ऊपर दिए आँकड़े सम्मिलित भारत के हैं। पाकिस्तान में ज्वार-बाजरे की उत्पत्ति बहुत कम होती है।

जौ : विभाजन के बाद भारतवर्ष में जौ की पैदावार ६१ लाख एकड़ से अधिक पर होती है। पहले जौ लगभग ६७ लाख एकड़ पर पैदा किया जाता था। जौ मुख्यतः उत्तर भारत में उत्पन्न होता है और उत्तर प्रदेश तथा बिहार में इसकी पैदावार अधिक होती है। इनके अतिरिक्त पंजाब, राजपूताना तथा काश्मीर में थोड़ा जौ उत्पन्न होता है। जौ की वार्षिक उत्पत्ति सम्मिलित भारत में २५ लाख से ३६ लाख टन के बीच में होती थी। जौ की मांग देश में ही इतनी अधिक है कि वह विदेशों को नहीं भेजा जाता। ज्वार, बाजरा, जौ और मक्का भारत के निर्धन व्यक्तियों का मुख्य भोजन है।

मक्का : मक्का थोड़ी-बहुत सभी प्रान्तों में उत्पन्न की जाती है, किंतु उत्तर भारत में मुख्यतः उत्पन्न होती है। विभाजन के बाद लगभग ६५ लाख एकड़ पर मक्का उत्पन्न की जाती है और २० से २५ लाख टन तक मक्का उत्पन्न होती है। उत्तर प्रदेश और बिहार में मक्का यथेष्ट उत्पन्न की जाती है। पंजाब भी मक्का की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त हैदराबाद दक्षिण, राजपूताना तथा काश्मीर में भी मक्का उत्पन्न होती है। मक्का विदेशों को नहीं भेजी जाती। उसकी देश में ही

खपत हो जाती है। भारत में मक्का मनुष्यों का भोजन है। संयुक्त राज्य अमेरिका में वह पशुओं को खिलाने के लिए उत्पन्न की जाती है।

दालें : भारत में दालों का भोजन में मुख्य स्थान है। दालों में पौष्टिक तत्व अधिक हैं। चावल में जो प्रोटीन की कमी है दालें उसे पूरा करती हैं। यही नहीं कि दालों में पौष्टिक तत्व अधिक हैं इस कारण वे खाद्य पदार्थों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं; वे भूमि को उर्वरा भी बनातीं हैं, क्योंकि उनके पैदावार करने से भूमि में नत्रजन की वृद्धि होती हैं। यही कारण है कि दालों का फसलों के हेर-फेर में मुख्य स्थान है। वे हवा में से नत्रजन (Nitrogen) को खींच लेती है, और भूमि को दे देती हैं। दालें मनुष्य का भोजन तो हैं ही, चारे का काम भी देती हैं। उनकी पत्तियाँ तथा डंठल पशु खाते हैं। विभाजन के उपरान्त भारत संघ में लगभग पाँच करोड़ एकड़ भूमि पर दालें उत्पन्न की जातीं हैं।

चना : चना सबसे अधिक महत्वपूर्ण दाल है और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में बहुतायत से उत्पन्न किया जाता है। इनके अतिरिक्त बिहार, मध्य प्रदेश, हैदराबाद तथा बम्बई में भी इसकी अच्छी पैदावार होती है। भारत संघ में चने की पैदावार लगभग १ करोड़ ७० लाख एकड़ पर होती है और उसकी उत्पत्ति ४० लाख टन के लगभग है। चना अधिकतर गेहूँ के साथ-साथ उत्पन्न होता है। वह अधिकतर देश में ही खा लिया जाता है, बाहर नहीं भेजा जाता।

मसूर की दाल मुख्यत: मध्यप्रदेश, मदरास और उत्तर प्रदेश में उत्पन्न होती हैं; यद्यपि अन्य प्रान्तो में भी कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत मसूर उत्पन्न होती है। अरहर भी ग्रामीण भारत का मुख्य भोज्य पदार्थ है और अनाज के साथ मिला कर उत्पन्न की जाती है। उर्द और मूंग उत्तर भारत में महत्वपूर्ण दालें हैं और उत्तर के प्रान्तों में मुख्यत: उत्पन्न की जाती हैं।

भारत संघ में दालें लगभग ५ करोड़ एकड़ पर उत्पन्न की जाती हैं। वे भोजन का मुख्य अंग हैं। मसूर और अरहर विदेशों को भेजी जाती हैं।

चाय : संसार में भारत सबसे अधिक चाय उत्पन्न करता है। चाय के पौधे के लिए उर्वरा गहरी भूमि चाहिए जिस पर पानी न ठहर सके। इस प्रकार यह बहुधा पहाड़ों की ढालों पर उत्पन्न की जाती है। चाय की पैदावार के लिए यथेष्ट गरमी की भी आवश्यकता है। चाय की खेती के लिए कम से कम ४५° फै० और अधिक से अधिक ८०° फै० गरमी की आवश्यकता है। अच्छी पैदावार के लिए ६० इंच वर्षा ठीक है परन्तु यदि ढाल अच्छा हो तो अधिक वर्षा भी लाभदायक हो सकती है। चाय की खेती के लिए केवल भूमि और जलवायु ही महत्वपूर्ण नहीं है, कुलियों की समस्या इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि चाय की पत्तियां केवल

वर्ष	चाय निर्यात लाख पौंडों में	लाख रुपयों में मूल्य
१९२७-३१	३६१०	२७५४
१९३२-३६	३३५०	१९२६
१९३७-४०	३२८०	२३४५
१९४०-४१	३४९०	३७७५

भारतवर्ष लगभग ७६ प्रतिशत चाय विदेशों को भेजता है। युनाइटेड किंगडम, फ्रांस, कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, न्यूजीलैंड तथा आस्ट्रेलिया उसके मुख्य ग्राहक हैं। पिछले दिनों इन बाजारों में जावा, लङ्का, तथा चीन की चाय की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा है। किन्तु युद्ध के कारण जावा तथा चीन का निर्यात कम हो गया। भारतवर्ष संसार में सबसे अधिक चाय उत्पन्न करता है। संसार की लगभग ५० प्रतिशत चाय भारत में उत्पन्न होती है और यही सबसे अधिक चाय विदेशों को भेजता है। अविभाजित भारत अपनी पैदावार का ५५ प्रतिशत विदेशों को भेजता था।

विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान में जो चाय उत्पन्न करने वाली भूमि चली गई है उस पर प्रतिवर्ष ६ करोड़ पौंड चाय उत्पन्न होती है और हिन्द यूनियन में ४० करोड़ ५० लाख पौंड चाय उत्पन्न होती है।

कहवा : कहवा के पौधों को उर्वरा और ऐसी भूमि चाहिये कि जहां पानी न ठहरता हो। कहवा गरम जलवायु में खूब पनपता है। वर्षा साधारण आवश्यक होती है। लगभग २००,००० एकड़ भूमि पर कहवा उत्पन्न होता है और लगभग ४ करोड़ पौंड कहवा पैदा होता है। कहवा केवल दक्षिण भारत में ही उत्पन्न होता है। भारतवर्ष में जो भी कहवा उत्पन्न होता है उसका ५३ प्रतिशत केवल मैसूर में होता है। मैसूर के अतिरिक्त ट्रावनकोर, कोचीन, कुर्ग और मदरास कहवा उत्पन्न करने वाले प्रान्तों में मुख्य हैं। पिछले बीस वर्षों में भारत में कहवे की उत्पत्ति १,२५,००० एकड़ से २ लाख एकड़ और दो करोड़ पौंड से ४ करोड़ पौंड के लगभग हो गई है। फिर भी भारत संसार में कहवा उत्पन्न करने वालों में प्रमुख स्थान नहीं रखता। ब्राजील अथवा जावा की तुलना में भारतवर्ष का हिस्सा नगण्य है। १९३५ के इंडियन काफी सेल्स एक्ट के अनुसार प्रति हंडरवेट आठ आना निर्यात-कर लगा दिया गया है। इस कारण से जो आय होती है वह कहवे की खेती की उन्नति के काम में लाई जाती है। भारतवर्ष में जितना कहवा उत्पन्न होता है उसका आधा विदेशों को भेज दिया जाता है। उसका मूल्य लगभग एक करोड़ रुपये होता है। पाकिस्तान कहवा बिलकुल भी उत्पन्न नहीं करता। भारत में संसार की उत्पत्ति का केवल दो प्रतिशत कहवा उत्पन्न होता है परन्तु भारत का कहवा अच्छी जाति का होता है इस कारण उसकी

माँग अधिक है।

गन्ना : भारतवर्ष संसार में सबसे अधिक गन्ना उत्पन्न करता है। इसकी पैदावार के लिए अधिक गरमी और वर्षा की आवश्यकता होती है। इसके लिए उर्वरा भूमि, जिसमें चूना अधिक हो, की आवश्यकता होती है। पिछले वर्षों में गन्ने की उत्पत्ति और भी अधिक बढ़ गई है। शक्कर आदि के धन्धे को संरक्षण प्रदान करने के फलस्वरूप गन्ने की खेती को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला है। उत्तर प्रदेश भारत में सब से अधिक गन्ना उत्पन्न करता है। देश की कुल उत्पत्ति का लगभग ५३ या ५४ प्रतिशत गन्ना उत्तर प्रदेश में उत्पन्न होता है। उत्तर प्रदेश के उपरान्त बिहार, और पंजाब गन्ना उत्पन्न करने वाले प्रान्तों में प्रमुख हैं। इन प्रान्तों के अतिरिक्त बंगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रान्त भी गन्ना उत्पन्न करते हैं। देश में इस समय लगभग ३६ लाख एकड़ भूमि पर गन्ना उत्पन्न होता है और लगभग ५४ लाख टन गन्ने की उत्पत्ति होती है।

विभाजन के उपरान्त २६ लाख एकड़ भूमि जिस पर गन्ना उत्पन्न होना था हिन्दुस्तान में चली गई और ६ लाख एकड़ भूमि पाकिस्तान में चली गई। सम्पूर्ण भारत में लगभग १२½ लाख टन शक्कर उत्पन्न होती थी। विभाजन के उपरान्त भारत ११⁷⁄₁₀ लाख टन शक्कर उत्पन्न करता है। इस प्रकार पाकिस्तान में यद्यपि गन्ना उत्पन्न करने वाली भूमि की १४ प्रतिशत भूमि चली गई, किन्तु वहाँ पर केवल २ प्रतिशत शक्कर उत्पन्न होती है।

पिछले वर्षों में इम्पीरियल कौंसिल आव ऐग्रीकल्चरल रिसर्च के प्रयत्नों से गन्ने की खेती में बहुत उन्नति हुई है। उत्तम जाति के गन्ने बोये जाने लगे हैं और गन्ने की उत्पत्ति पहले से बहुत बढ़ी है। जहां जावा तथा क्यूबा आदि देशों में शक्कर के कारखानों के आसपास गन्ने के बड़े बड़े खेत होते हैं जहां से उन्हें गन्ना मिलता है, वहां भारतीय मिलें दूर-दूर बिखरे हुए बहुत से किसानों से गन्ने खरीदती हैं।

गन्ने का जन्म स्थान भारत है। भारत से ही गन्ना अन्य देशों को गया। आज भी संसार में जितनी भूमि पर गन्ना उत्पन्न होता है उसकी आधी भूमि भारत में है और भारत संसार में सबसे अधिक गन्ना (५४ लाख टन) उत्पन्न करता है। परन्तु प्रति एकड़ यहाँ गन्ने की उत्पत्ति सबसे कम होती है। भारत में प्रति एकड़ गन्ने की पैदावार क्यूबा देश की चौथियाई, जावा की छटवाँ भाग और हवाई द्वीप की सातवाँ भाग होती है। भारत में भी उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में गन्ने की उत्पत्ति प्रति एकड़ बहुत अधिक है।

फल और सब्जी : भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न प्रकार का जलवायु होने के

कारण वह आसानी से बहुत प्रकार के फल और सब्जी उत्पन्न कर सकता है। किन्तु अभी तक फलों तथा सब्जी की पैदावार की उन्नति करने के लिए बहुत कम प्रयत्न किया गया है। डाक्टर वर्न के अनुसार देश में लगभग २५ लाख एकड़ भूमि पर फल तथा ७ लाख एकड़ भूमि पर सब्जी उत्पन्न होती हैं। फलों की पैदावार के मुख्यतः पंजाब की काँगड़ा तथा कुलू की घाटियाँ, दक्षिण काश्मीर, आसाम, कोनकण तथा नीलगिरी के पहाड़ी प्रदेश हैं। उत्तर भारत के पहाड़ी प्रदेशों में योरोप के सभी फल उत्पन्न हो सकते हैं। उत्तर के मैदानों तथा दक्षिण भारत में उष्ण कटिबन्ध के फल उत्पन्न हो सकते हैं। कुलू और काँगड़ा की घाटियों में नासपाती, आडू तथा सेव खूब उत्पन्न होता है। संतरा आसाम, नागपुर, पूना और पंजाब में बहुत उत्पन्न होता है। आम तो उन सभी प्रान्तों में बहुतायत से उत्पन्न होता है जहाँ का जलवायु नम है। भारत में फलों की पैदावार की वृद्धि में एक सबसे बड़ी रुकावट फलों को सुरक्षित रखने की सुविधाओं का अभाव तथा गमनागमन के साधनों का अभाव है। जब तक शीत भंडार रीति (Cold Storage System) का देश में अधिक प्रचलन नहीं होता तथा पहाड़ी प्रदेशों में तेज़ी से गमनागमन की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होतीं तब तक फलों की पैदावार में अधिक वृद्धि नहीं हो सकती। क्वेटा, पेशावर, बलूचिस्तान और चमन इत्यादि, जहाँ भूमध्यसागर जैसी जलवायु के सभी फल, अंगूर इत्यादि उत्पन्न होते हैं, विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान में चले गए।

तम्बाकू : संसार में तम्बाकू उत्पन्न करने वाले देशों में भारतवर्ष का दूसरा स्थान है। अविभाजित भारत में लगभग १३ लाख एकड़ भूमि पर लगभग ६ लाख टन तम्बाकू उत्पन्न होती थी। विभाजन के उपरान्त भारत संघ में १० लाख एकड़ भूमि पर लगभग ४ लाख टन तम्बाकू उत्पन्न होती है। उत्पादन की दृष्टि से क्रमशः बंगाल, मदरास, बिहार, बम्बई (गुजरात), पंजाब, हैदराबाद और उत्तर प्रदेश महत्वपूर्ण प्रान्त है। थोड़ी सी तम्बाकू पूर्वी राजस्थान तथा उदयपुर डिविजन में भी होती है।

भारतीय तम्बाकू की पत्ती भारी और मोटी होती है। उसका रंग गहरा और उसमें तेजी अधिक होती है। इस कारण सिगरेट के लिए वह अधिक उपयुक्त नहीं है। अब देश में वरजिनिया तम्बाकू की पैदावार बढ़ाई जा रही है।

विभाजन के उपरान्त पाकिस्तान में तम्बाकू उत्पन्न करने वाली ३८०,७०० एकड़ भूमि चली गई, और उस पर लगभग १५६,३०० टन तम्बाकू उत्पन्न होती है। भूमि तथा तम्बाकू की उत्पत्ति की दृष्टि से पाकिस्तान में भारत की एक तिहाई तम्बाकू चली गई।

व्यापारिक फसलें अथवा अखाद्य फसलें : जूट भारत की मुख्य रेशेदार

फसल है। संसार में जूट एकमात्र अविभाजित भारत ही उत्पन्न करता था। संसार में जूट की माँग इस कारण होती है, क्योंकि खेती की पैदावार को भरने के लिए, बोरे बनाने के लिए और कोई सस्ता रेशेदार पदार्थ नहीं मिलता। जूट की पैदावार मुख्यतः बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा आसाम में होती है। जितना जूट भारतवर्ष में उत्पन्न होता है, उसका ५० प्रतिशत पश्चिमी बंगाल में तथा शेष अन्य प्रान्तों में उत्पन्न होता है। जूट का महत्व तो हमें इसी से ज्ञात हो जाता है कि बंगाल से जितने मूल्य का कच्चा या पक्का माल विदेशों को निर्यात किया जाता है, उसका आधा कच्चा या पक्का जूट का सामान होता है, और भारतवर्ष से जितने मूल्य का माल निर्यात किया जाता है, उसका २० से २५ प्रतिशत तक होता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, जूट की पैदावार मुख्यतः गंगा तथा ब्रह्मपुत्र के डेल्टा में होती है, क्योंकि इस क्षेत्र में नदियाँ बाढ़ में ला कर उपजाऊ मिट्टी भूमि पर बिछा देती हैं। जूट मार्च से मई तक बोया जाता है और जुलाई से सितम्बर तक काटा जाता है। जूट के लिए गरम और नम जलवायु की आवश्यकता होती है। जब जूट काट लिया जाता है तो उसको गट्ठर बाँध कर तालाबों के पानी में डुबा देते हैं। जूट के सड़ जाने पर उसके रेशे को जूट के डण्ठल से छुटा लिया जाता है।

जूट की पैदावार घटती बढ़ती रहती है। विभाजन के पूर्व जिस भूमि पर जूट उत्पन्न किया जाता था उसका क्षेत्रफल २० लाख एकड़ से ३५ लाख एकड़ के बीच में रहता था। १९४०–४१ में तो वह ४३ लाख एकड़ तक हो गया था। जूट की उत्पत्ति लगभग १५ लाख टन होती थी। १९३० के उपरान्त जूट की माँग बहुत गिर गई। जूट की फसल का मूल्य भी बहुत अधिक गिर गया। जहाँ १९२९ से पूर्व प्रति वर्ष ४८ करोड़ रुपये का जूट उत्पन्न होता था, वहाँ १९३० के उपरान्त केवल १५ करोड़ रुपये का जूट उत्पन्न किया जाने लगा। अतएव बंगाल सरकार ने एक जूट जाँच कमेटी बिठाई, जिसने इस बात का आन्दोलन किया कि किसान जूट की पैदावार कम करें। किन्तु १९३९ में जब दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ, तो जूट की फिर बेहद माँग हुई, परन्तु बाद में फिर जूट की फसल को कम करने का प्रयत्न किया गया। १९३६ में केन्द्रीय जूट कमेटी नियुक्त की गई, जिसका कार्य जूट की खेती के सम्बन्ध में खोज तथा अनुसन्धान करना और आँकड़े तैयार करना है।

भारत के विभाजन के फलस्वरूप अधिकांश जूट पाकिस्तान में चला गया। अनुमानतः ७३ प्रतिशत जूट पूर्वीय पाकिस्तान उत्पन्न करता है और २७ प्रतिशत जूट हिन्दुस्तान उत्पन्न करता है।

विभाजन के फलस्वरूप जहाँ जूट उत्पन्न करने वाली अधिकांश भूमि (७३ प्रतिशत) पाकिस्तान में चली गई वहाँ सारे जूट के कारखाने (९७) भारत संघ में

रह गए। पाकिस्तान में एक भी जूट का कारखाना नहीं गया किन्तु अधिकांश कच्चा जूट पूर्वी पाकिस्तान में चला गया। इस विभाजन से एक बहुत बड़ी कठिनाई यह उपस्थित हो गई है कि भारतीय मिलों को कच्चा जूट कैसे मिले। भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध खराब होने से स्थिति और भी बिगड़ गई। अस्तु भारत सरकार इसका प्रयत्न कर रही है कि शीघ्रातिशीघ्र भारत में ही जूट को अधिक उत्पन्न किया जाय जिससे कि भारत को पाकिस्तान पर निर्भर न रहना पड़े। पश्चिमीय बंगाल के अतिरिक्त उड़ीसा, उत्तर प्रदेश में तराई, बिहार, मालाबार, मदरास तथा दक्षिण के अन्य स्थानों पर जूट की खेती को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इसी उद्देश्य से एक जूट रिसर्च बोर्ड स्थापित किया गया है। यही नहीं जूट के अतिरिक्त अन्य रेशेदार पदार्थों को भी काम में लाया जा रहा है। इस प्रयत्न में आशाजनक सफलता मिली है और जूट की पैदावार विभाजन के समय से बहुत बढ़ गई है। विभाजित भारत में ५८०,००० एकड़ भूमि पर जूट की खेती होती है और १,६५८,००० गाँठें जूट उत्पन्न होता है। निकट भविष्य में दक्षिण में जूट की खेती बढ़ जावेगी ऐसी आशा है।

कपास : विभाजन के पूर्व संसार में कपास उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का दूसरा स्थान था। सबसे अधिक कपास संयुक्त राज्य अमेरिका उत्पन्न करता है। अविभाजित भारतवर्ष संसार की एक चौथाई कपास उत्पन्न करता था। किन्तु भारतीय कपास छोटे फूल वाली और घटिया होती है। उससे बहुत बढ़िया कपड़ा नहीं बनाया जा सकता, केवल मोटा कपड़ा ही तैयार किया जा सकता है। व्यापारिक फसलों में कपास का भारत में प्रमुख स्थान है। महायुद्ध के पूर्व आधे से अधिक कपास विदेशों को भेजी जाती थी, जिसमें से अधिकांश जापान खरीदता था। लगभग ४० प्रतिशत कपास देश के सूती वस्त्र के कारखानों में खप जाती थी और शेष १० प्रतिशत गृह-उद्योग-धन्धे में सूत कातने तथा कपड़ा बनाने के काम में आती थी। जापान के अतिरिक्त अन्य देशों में भारतीय कपास की अधिक माँग नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारी कपास घटिया है, और एक दूसरा कारण यह है कि भारतीय कपास की पैदावार का व्यय अन्य देशों की तुलना से अधिक है, इस कारण हमारी कपास अन्य देशों की प्रतिस्पर्द्धा में नहीं टिकती।

पिछले वर्षों में इम्पीरियल कौंसिल आव ऐग्रीकल्चरल रिसर्च तथा केन्द्रीय कॉटन कमेटी कपास की उत्पत्ति को बढ़ाने तथा बढ़िया जाति की कपास को देश में उत्पन्न करने का प्रयत्न करती रही है।

कपास मुख्यतः बम्बई, मध्यप्रान्त, बरार, पंजाब, मदरास, उत्तर प्रदेश, मध्यभारत, राजपूताना, हैदराबाद, मैसूर और बड़ौदा में उत्पन्न होती है। बम्बई तथा बरार में देश की कपास की भूमि का आधा क्षेत्रफल है।

जापान की माँग युद्धकाल में बन्द होने के कारण (क्योंकि जापान शत्रु-देश था) और देश में अनाज की कमी के कारण, पिछले वर्षों में कपास की खेती पहले से बहुत कम हो गई। १६३६ में २ करोड़ १५ लाख ८० हजार एकड़ पर कपास उत्पन्न की गई और ४०० पौंड वाली ४६ लाख गाँठें उत्पन्न हुईं, किन्तु १६४५-४६ में कुल १ करोड़ ४४ लाख ८० हजार एकड़ पर कपास उत्पन्न हुई एवं ३४ लाख ४२ हजार गाँठें उत्पन्न हुईं।

विभाजन के फलस्वरूप पाकिस्तान में युद्ध के पूर्व के क्षेत्रफल में से ४१ लाख एकड़ और युद्ध के बाद के क्षेत्रफल में से ३७ लाख एकड़ कपास की भूमि पाकिस्तान में चली गई। पाकिस्तान का क्षेत्र युद्ध के पूर्व १५ लाख ४४ हजार गाँठें उत्पन्न करता था। युद्ध-काल तथा उसके उपरान्त उसकी उत्पत्ति १३ लाख २८ हजार गाँठ है।

कपास की दृष्टि से पाकिस्तान की स्थिति बहुत अच्छी है। इसका कारण यह है कि युद्ध के फलस्वरूप कपास की खेती में जो कमी हुई, वह पाकिस्तान की अपेक्षा हिन्दुस्तान में अधिक हुई है। दूसरे, सिंध और पंजाब में सिंचाई के साधनों की बहुलता के कारण पाकिस्तान में प्रति एकड़ कपास की उत्पत्ति अधिक है। यही नहीं, पश्चिमीय पंजाब तथा सिंध बढ़िया कपास और लम्बे फूलवाली कपास अधिक उत्पन्न करते हैं। वहाँ अमेरिकन जाति की लम्बे फूलवाली कपास अधिक उत्पन्न होती है। भारतीय मिलें बढ़िया कपड़ा तैयार करने के लिए उसका उपयोग करती हैं।

यद्यपि भारत कपास उत्पन्न करने वाले देशों में प्रमुख है किंतु यहाँ प्रति एकड़ पैदावार केवल ७५ पौंड ही होती है जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति एकड़ पीछे २६१ पौंड, रूस में २७१ पौंड, मिस्र में ५०७ पौंड, सूडान में ३०७ पौंड, तथा अर्जेन्टाइना में १७८ पौंड कपास उत्पन्न होती है।

यही नहीं कि भारत में प्रति एकड़ कपास बहुत कम उत्पन्न होती है वरन् भारत की कपास बहुत घटिया छोटे फूल वाली होती है। बढ़िया बारीक कपड़ा तैयार करने के लिये मुलायम और लम्बे फूल वाली कपास की आवश्यकता होती है। केन्द्रीय कपास कमेटी अब लम्बे फूल वाली कपास उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रही है।

विभाजन के फलस्वरूप भारत संघ की स्थिति कपास की दृष्टि से खराब हो गई। भारत की मिलों के लिए कपास की कमी पड़ गई। भारत संघ को आज कपास बाहर से मँगवानी पड़ती है। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि भारत कपास की दृष्टि से भी स्वावलम्बी हो।

सन : सन भारत में कई तरह का होता है। यह बम्बई, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा मदरास प्रान्त में अधिक उत्पन्न होता है और अधिकतर विदेशों को भेज दिया जाता है।

इण्डियन हैम्प की पैदावार, भाँग, गाँजा, चरस इत्यादि नशीली पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए की जाती है, न कि उसका रेशा उत्पन्न करने के लिए। यह अधिकतर उत्तर-पश्चिमीय हिमालय-प्रदेश में उत्पन्न होता है। व्यापारिक दृष्टि से सीसल हैम्प कम महत्वपूर्ण है। इसकी पैदावार मुख्यतः सिलहट, तिरहुत, बम्बई तथा दक्षिण भारत में होती है।

तिलहन : भारत में सरसों, मूँगफली, बिनौला, लही, तिल, सन का बीज, अंडी, नारियल, महुआ इत्यादि मुख्य हैं। विभाजन के बाद भारत संघ में लगभग ७० लाख टन तिलहन उत्पन्न होता है। दो करोड़ एकड़ भूमि पर तिलहन उत्पन्न किया जाता है। तिलहन उत्पन्न करने वाले देशों में भारत एक प्रमुख देश है।

अलसी (Linseed) : भारत के निर्यात व्यापार में लिनसीड का मुख्य स्थान है। यह उनमें से एक फसल है, जिसकी पैदावार विदेशी व्यापार पर निर्भर रहती है, यद्यपि इसकी देश में भी बहुत अधिक खपत होती है। संसार में सबसे अधिक Linseed अर्जेण्टाइना में उत्पन्न होता है। अर्जेण्टाइना संसार का आधा लिनसीड पैदा करता है। भारत का स्थान चौथा है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत का क्रमशः दूसरा और तीसरा स्थान है। मध्य प्रान्त तथा बरार का, देश में इसको उत्पन्न करने वाले प्रान्तों में पहला स्थान है। मध्यप्रान्त तथा बरार के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, बिहार, हैदराबाद, बंगाल, बम्बई, पंजाब और राजपूताने में भी इसकी अच्छी पैदावार होती है।

मूँगफली : भारतवर्ष में विभाजन के बाद ३० लाख एकड़ भूमि पर मूँगफली उत्पन्न की जाती है। भारतवर्ष संसार की ५० प्रतिशत मूँगफली उत्पन्न करता है। मूँगफली की खपत देश के अन्दर भी बहुत है। केवल २५ प्रतिशत मूँगफली विदेशों को, मुख्यतः फ्रांस को, भेजी जाती है। इसकी पैदावार मुख्यतः मदरास, बम्बई, हैदराबाद, मध्यप्रान्त और मैसूर में होती है। दक्षिण भारत में ही अधिकतर इसकी पैदावार होती है। पश्चिमीय भारत में भी इसकी पैदावार बढ़ती जा रही है। पिछले दिनों मूँगफली की पैदावार बहुत बढ़ गई है।

तिल : तिल प्रायः सभी प्रान्तों थोड़ा-बहुत उत्पन्न होता है, परन्तु बम्बई, मदरास और मध्यप्रांत में इसकी पैदावार बहुतायत से होती है। तिल ४० लाख एकड़ भूमि पर उत्पन्न किया जाता है। पहले तो ५० लाख एकड़ पर तिल उत्पन्न होता था, किंतु इस समय 'अधिक अनाज उत्पन्न करो' आन्दोलन के कारण उसका क्षेत्रफल कुछ कम हो गया है। देश में तिल की उत्पत्ति ३ लाख ६५ हजार टन के लगभग है।

सरसों : यह मुख्य तिलहन है। इसकी पैदावार लगभग ३५ लाख एकड़ भूमि पर होती है। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में यह २५ लाख एकड़ पर मिली-जुली

फसल की भांति गेहूँ के साथ बोई जाती है। यह उत्तर प्रदेश, पंजाब, बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा और आसाम में मुख्यतः उत्पन्न होती है। इसकी पैदावार १० या ११ लाख टन के लगभग होती है। उसमें से आधी से अधिक उत्तर प्रदेश में उत्पन्न होती है।

विनौला : भारत कपास बहुत बड़ी राशि में उत्पन्न करता है अतएव उसका बीज अर्थात् विनौला स्वभावतः ही अधिक राशि में उत्पन्न होता है। बिनौले का देश में दूध के पशुओं को खिलाने में बहुत उपयोग होता है।

नारियल : नारियल की पैदावार पूर्वीय तथा पश्चिमीय समुद्रतट पर तथा बङ्गाल और आसाम में बहुतायत से होती है। भारतवर्ष २० लाख गैलन नारियल का तेल विदेशों को, मुख्यतः इंगलैंड को, भेजता है। नारियल की जटाओं के रस्से बनते हैं जो कि विदेशों को भेजे जाते हैं। नारियल भी बहुत बड़ी संख्या में विदेशों को भेजे जाते हैं। भारत में लगभग २५ लाख एकड़ भूमि पर नारियल उत्पन्न होता है।

महुआ : महुआ का पेड़ तराई के प्रदेश, सारे मध्यभारत और बङ्गाल के उस भाग में जहां वर्षा कम होती है पैदा होता है।

तिलहन का उपयोग केवल खाद्य पदार्थों के लिए ही नहीं किया जाता वरन तेल, सुगन्धि, औषधियाँ, पेन्ट, वार्निश तथा अन्य चिकनाहट के पदार्थ तैयार करने में भी होता है। इसके अतिरिक्त साबुन, पैमोनेड इत्यादि को बनाने के लिए भी तिलहन का बहुत अधिक उपयोग होता है। भारत तिलहन विदेशों को भेजने वाले देशों में मुख्य देश है। आवश्यकता इस बात की है कि तेल पेरने का धन्धा तथा उस पर आश्रित साबुन, पेंट, वार्निश बनाने के धन्धे को देश में उन्नत किया जावे। महायुद्ध के फलस्वरूप तिलहन की खेती कुछ कम होने लगी है।

अंडी : अंडी के पेड़ पर अंडी (रेशम) के कीड़े पाले जाते है और अंडी के तेल से साबुन तथा अन्य प्रकार के मशीनों को चिकना करने वाले तेल तैयार किए जाते हैं। अंडी के लिए गरमी की आवश्यता होती है और साधारण वर्षा अभीष्ट होती है। अंडी मदरास, हैदराबाद, बम्बई, मध्य प्रदेश में बहुत उत्पन्न होती है। भारत संघ में दस लाख एकड़ पर अंडी उत्पन्न की जाती है। संसार में भारत ही अंडी उत्पन्न करता है।

अफीम : अफीम की खेती के लिए उपजाऊ भूमि की आवश्यकता होती है। अक्टूबर के महीने में बीज बोया जाता है और मार्च में अफीम इकट्ठी की जाती है। आरम्भ से अन्त तक फसल को सींचना पड़ता है। किसानों को सारी अफीम सरकार को बेचनी पड़ती है। पहले भारत में अफीम की पैदावार बहुत अधिक होती थी। भारत चीन को सात करोड़ रुपए की अफीम भेजता था किन्तु चीन से समझौता हो

जाने के कारण भारत ने वहाँ अफीम भेजना बन्द कर दिया इस कारण अफीम की खेती भी बहुत कम होगई। अब थोड़ी सी अफीम उत्तर प्रदेश के बनारस और गाजीपुर जिलों में, ग्वालियर तथा मालवा में, राजस्थान के मेवाड़ प्रदेश में तथा पश्चिमीय बंगाल और बिहार में उत्पन्न होती है।

सिनकोना : सिनकोना के पौधे से कुनैन तैयार की जाती है। इसके लिए ५० से १०० इंच तक वर्षा तथा तापक्रम ६० से ६५ डिगरी तक अपेक्षित होता है। गरम प्रदेशों में सिनकोना ३००० से ६००० फीट की ऊँचाई पर होता है। भारत में यह दार्जिलिंग तथा नीलगिरी की पहाड़ियों पर उत्पन्न होता है।

खजूर : खजूर से शक्कर तैयार होती है। बङ्गाल, मदरास, मध्य प्रदेश, तथा मध्यभारत में खजूर बहुत पाया जाता है। जसौर में खजूर की शक्कर तैयार करने का एक बड़ा कारखाना स्थापित किया गया है।

मसाले : भारत में मसाले भी उत्पन्न होते हैं। अधिकतर मसालों की उत्पत्ति दक्षिण भारत में होती है। नीचे लिखे मसाले भारत में उत्पन्न होते हैं :—

दारचीनी : यह दक्षिण भारत में उत्पन्न होती है। यह पतली डालों की छाल से संग्रह की जाती है। यह खाना सुगंधित करने, दवा और इत्र बनाने के काम में आती है।

काली मिर्च : एक लता का बीज है। यह लता उपजाऊ तथा खूब पानी प्राप्त भूमि में होती है। इसे गर्म जलवायु चाहिए। इसके लाल बीज इकट्ठे करके घास में सुखा लिए जाते हैं, सूख कर वे काले हो जाते हैं। यह मदरास, बम्बई और बङ्गाल में उत्पन्न होती है। मालाबार की काली मिर्च बहुत प्रसिद्ध है।

अदरक : यह पौधे की जड़ है। इसे गर्म जलवायु, अच्छी मिट्टी और अधिक नमी की जरूरत होती है। यह भारत भर में उत्पन्न होती है।

जावित्री, जायफल : यह एक पेड़ का फल है। छिलके से जावित्री और बीज से जायफल पैदा होता है। यह वृक्ष सौ वर्ष तक फल देता है।

लौंग : भारत में लौंग मदरास के पश्चिमीय घाट के निचले भाग में होती है।

सुपारी : सुपारी पान के साथ खाई जाती है। यह समुद्र के समीपवर्ती प्रदेश में उत्पन्न होती है।

रबर : रबर के बागों की स्थापना हुए भारतवर्ष में अधिक दिन नहीं हुए। १६०४ में भारतवर्ष की कुल उत्पत्ति ५० टन थी किन्तु आज वह देश की मुख्य व्यापारिक फसल है जिसकी बाहर बहुत माँग है। इस समय भारत १६ हजार टन रबर उत्पन्न करता है। रबर मुख्यतः मदरास, कुर्ग, मैसूर और ट्रावंकोर में उत्पन्न

होती है। ट्रावंकोर में देश की उत्पत्ति की ६० प्रतिशत रबर उत्पन्न होती है। भारत संसार की कुल उत्पत्ति की दो प्रतिशत रबर उत्पन्न करता है।

ढोर (पशु) : यद्यपि भारत का पशु कमजोर और घटिया होता है, परन्तु जहां तक पशुओं की संख्या का प्रश्न है, भारतवर्ष में पशुओं की संख्या बहुत अधिक है। आगे लिखी तालिका से पशुओं की संख्या का अनुमान हो जावेगा। विभाजन के उपरान्त भारत में भिन्न-भिन्न पशुओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी :—

गाय और बैल	१७ करोड़
भैंस	५ करोड़
भेड़	४ करोड़ ५० लाख
बकरी	५ करोड़ ८० लाख
घोड़ा	१½ करोड़
खच्चर	१½ करोड़
ऊँट	६० लाख

संसार में भारत में सबसे अधिक (लगभग ३० प्रतिशत) गाय-बैल हैं। विभाजन हो जाने के उपरान्त लगभग २० प्रतिशत गाय-बैल पाकिस्तान में चले गए। गाय, बैल और भैंस का उपयोग खेती के लिए तथा दूध के लिए होता है। बैलों के बिना तो देश में खेती होना ही असम्भव थी। गाय-बैलों की नस्ल उत्पन्न करने वाले मुख्य प्रान्त उत्तरी गुजरात, मध्यभारत, नेलौर, सिंध, मांटगोमरी (पंजाब में) हैं। इनके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, मैसूर तथा बम्बई में भी अच्छी नस्ल के गाय-बैल होते हैं।

विभाजन का भारत के पशुधन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। यों ही भारत में पशुओं की नस्ल बहुत खराब थी किन्तु जो भी गाय बैलों की अच्छी नस्लें थीं वे पश्चिमीय पंजाब और सिंध में होने के कारण पाकिस्तान में चली गईं।

शाहीवाल, सिंधी, थारपारकर जो भारत की अत्यन्त दुधारू नस्लें थी वे पाकिस्तान में रह गईं। इसके अतिरिक्त थारी, मगनारी तथा धन्नी नस्लें जो बहुत अच्छे बैल उत्पन्न करती थीं वे भी पाकिस्तान में रह गईं। गाय के अतिरिक्त भैंस की रावी और नीली नामक बढ़िया नस्लें भी पाकिस्तान में चली गईं। इस दृष्टि से भारत को बहुत हानि हुई। यही कारण है कि भारत सरकार ढोरों की नस्ल का सुधार करने में विशेष रूप से प्रयत्नशील है।

भारत में भेड़ मुख्यतः पंजाब के हिसार जिले, गढ़वाल, अल्मोड़ा, नैनीताल (यू० पी०), काठियावाड़, गुजरात, मैसूर और मदरास के कुछ जिलों में पाली जाती है। भारत का ऊन बहुत घटिया और छोटा होता है। फिर भी उत्तरी भारत की भेड़ों का ऊन दक्षिणी भारत की भेड़ों की अपेक्षा बढ़िया होता है। भेड़ की उन्नति करने

की यहां अभी तक कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ ।

रेशम : भारत में कच्चा रेशम यथेष्ट मात्रा में उत्पन्न होता है। भारत में बहुत प्रकार के रेशमी कीड़े पाये जाते हैं। रेशम का कीड़ा, टसर का कीड़ा, अरंडी का कीड़ा और मूंगा मुख्य हैं।

भारत में रेशम मुख्यतः नीचे लिखे तीन क्षेत्रों में उत्पन्न होता है :— (१) दक्षिणी क्षेत्र जिसमें मैसूर, तथा मदरास का कोयम्बटूर जिला है, (२) बंगाल का क्षेत्र, (३) काश्मीर का क्षेत्र। टसर मुख्यतः छोटा नागपुर, उड़ीसा तथा मध्य-प्रान्त के कुछ जिलों में उत्पन्न होती है। आसाम में अरण्डी तथा मूंगा रेशम उत्पन्न होता है। उत्तर बिहार में भी रेशम के कीड़े पाले जाते हैं। काश्मीर राज्य तथा मैसूर राज्य ने अपने राज्यों में रेशम के कीड़े पालने के धन्धों को वैज्ञानिक ढङ्ग से उन्नत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने विदेशों से विशेषज्ञों को बुलाकर इस धन्धे की उन्नति की है। काश्मीर में एक बड़ा कारखाना भी है। काश्मीर में रेशम का धंधा उन्नत दशा में है। वहाँ शहतूत के पेड़ों पर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं।

आजकल देश में रेशम का धंधा अत्यन्त पतित अवस्था में है। विदेशों में भारतीय रेशम की बहुत कम पूंछ होती हैं। विदेशी व्यापारी भारत से रेशम मंगाने के बजाय ककून मंगाना अधिक पसंद करते हैं क्योंकि भारत में रीलिंग बहुत खराब होता है। यहां तक कि भारत के रेशम बुनने वाले भी चीन और जापान के रेशम को काम में लाते हैं। प्रतिवर्ष चीन, जापान और इटली से भारत में रेशम आता हैं। यदि भारत में वैज्ञानिक ढंग से रेशम के कीड़े पालने का प्रयत्न किया जावे और धंधे की उन्नति की जावे तो चीन और जापान की भांति ही भारत में भी रेशम उत्पन्न करने का धंधा तेजी से उन्नति कर सकता है।

परिच्छेद ७

कृषि : उत्पादन

(भूमि की समस्याएँ)

हमारे राष्ट्रीय आर्थिक पुनःनिर्माण के कार्यक्रम में खेती के धन्धे की स्थिति को सुधारना अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक है। भारतीय कोटि-कोटि जनता की निर्धनता का मुख्य कारण इस राष्ट्रीय धंधे की गिरी हुई दशा है। जब तक कि हम खेती का नवीन संस्करण नहीं करते, उसका नये रूप से संगठन नहीं करते और खेती को एक अत्यन्त पिछड़े धधे के स्थान पर समृद्धिशाली धंधा नहीं बना देते, तब तक भारत की कोटि-कोटि निर्धन जनता की निर्धनता को दूर करने की आशा, दुराशा मात्र है।

जनसंख्या का भूमि पर भार

इससे पहले कि हम खेती के सुधार के लिए जिन समस्याओं को हल करना आवश्यक होगा, उनका अध्ययन करें, यह आवश्यक और लाभदायक होगा कि हम खेती के सम्बन्ध में एक साधारण किन्तु गम्भीर समस्या का अध्ययन करलें जोकि खेती की भावी उन्नति पर गहरा प्रभाव डालती है। स्पष्ट ही हमारा तात्पर्य जनसंख्या के भूमि पर भार से है। अर्थशास्त्र के विद्वान इस संबन्ध मे एकमत हैं कि भारत में भूमि पर जनसंख्या का भार अत्यधिक है जिसे भूमि सहन नहीं कर सकती। जैसा कि हमने आर्थिक परिवर्तन के परिच्छेद मे देखा था, पिछले कई दशाब्दों से भारत में तेजी से जनसंख्या खेती पर अधिकाधिक निर्भर होती गई और आज भी यह प्रवृत्ति घट नहीं रही है। बहुत से कारणों से यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई है। जनसंख्या का बढ़ना, पुराने गृह-उद्योग-धन्धों की अवनति, जिसके कारणों का उल्लेख हम पिछले परिच्छेद में कर चुके हैं, देश में अन्य पेशों और धन्धों का अभाव, भूमि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए भार का मुख्य कारण हैं। अतः खेती के सुधार के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य शर्त यह है कि भूमि पर जनसंख्या के इस अत्यधिक भार को हलका किया जावे और भविष्य में इस भार को बढ़ने न देने के तरीकों को ढूंढ निकाला जावे। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आज जो जनसंख्या भूमि पर निर्भर है

और भूमि के द्वारा जिसका भरण-पोषण होता है, उसमें से कुछ अंश को भूमि पर से हटाया जावे और उसके लिए नवीन धंधों और पेशों की व्यवस्था की जावे। यही वास्तव में सारी समस्या का मूल आधार है। बहुत से विद्वान लेखकों ने इस बात पर जोर दिया है कि बड़ी मात्रा के धंधों, मध्यम श्रेणी के धंधों, और छोटे गृह-उद्योग-धंधों की स्थापना और उसके साथ-साथ व्यापार-वाणिज्य और बैंकिंग व्यवस्था का विस्तार ही भूमि पर जनसंख्या के भार को हटाने का एकमात्र उपाय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ तक यह सुझाव व्यावहारिक है, यह बहुत ही अच्छा और ठीक है। यह सुझाव इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि यह, भारतीय कृषि की समस्याएँ अकेले हल नहीं हो सकतीं, इस तथ्य की ओर संकेत करता है। देश की आर्थिक समस्या एक सम्पूर्ण समस्या है; उसको बाँटा नहीं जा सकता। उसके अन्तर्गत जितनी भी समस्याएँ होंगी उनका इसी आधार पर अध्ययन किया जा सकता है कि वे एक संपूर्ण समस्या की पूरक मात्र हैं। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आर्थिक समस्या भी उस बड़ी समस्या का, अर्थात् भारतवासियों के जीवन के नव-निर्माण का, एक अङ्ग मात्र है, फिर चाहे वह अङ्ग कितना ही बड़ा क्यों न हो। इन समस्याओं के हमारे हल भी तभी प्रभावकारी सिद्ध होंगे जबकि हम पूरे चित्र को दृष्टि में रखकर उन हलों को निकालेंगे, केवल किसी एक अंश को ध्यान में रखकर हल निकालने की चेष्टा नहीं करेंगे। अस्तु; यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि खेती की उन्नति तथा औद्योगिक उन्नति सर्वाङ्गीण उन्नति के अंश मात्र हैं, अतएव उनको एक साथ ही करने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु हमारी कठिनाई व्यावहारिक है। क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि काम कर सकने योग्य जनसंख्या को जोकि आज कृषि में आवश्यकता से अधिक है, बड़ी मात्रा के कारखानों, मध्यम श्रेणी के धधों तथा छोटी मात्रा के धंधों तथा अन्य पेशों के उत्पन्न हो जाने से एक उचित समय में जिसके लिए कि राष्ट्रीय आर्थिक योजना बनाई जावे, काम दे सकेंगे। यदि इस प्रश्न का उत्तर यह हो कि इन धंधों की स्थापना से एक निश्चित समय में खेती में लगे हुए अनावश्यक लोग इनमें काम पा जावेंगे तब तो हमारी समस्या सचमुच ही हल होगई। किन्तु यदि इसका उत्तर ना में हो तो समस्या और भी उलझ जावेगी। इस सम्बन्ध में बहुत से विद्वानों को संदेह है कि यदि देश के औद्योगिक सङ्गठन में क्रान्तिकारी उन्नति हो तब भी धंधे देश की जनसंख्या के नगण्य प्रतिशत को ही उसमें काम दे पावेंगे। इन धंधों के तेजी से उदय हो जाने पर भी भारत में यह होने वाला नहीं है कि उद्योग-धन्धों में काम करने वालों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो और भूमि पर से बहुत अधिक लोग हट जावें जिससे भूमि का भार हलका हो सके। आज हमारे पास पेशों के अनुसार जनसंख्या के आँकड़े सही-सही नहीं हैं, अतएव आँकड़ों के आधार पर बात करना

व्यर्थ है। परन्तु साधारणतया मोटे रूप से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं—जिसका विरोध होने की कोई सम्भावना नहीं है कि धन्धों की तेजी से उन्नति होने पर भी भूमि पर जो जनसंख्या का अत्यधिक भार है, वह पूरी तरह से हलका हो जावेगा। एक यथार्थवादी दृष्टिकोण से यदि इस समस्या का अध्ययन करें तो हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे। अतएव कुछ हद तक खेती का सुधार करने के हमारे सभी प्रयत्न इस सीमा के अन्तर्गत ही होंगे। एक दूसरा उपाय भूमि के भार को हलका करने का यह है कि हम अधिकाधिक भूमि को खेती के योग्य बना सकें। किन्तु इसके लिये अधिक सम्भावनाएँ नहीं हैं, क्योंकि देश में अधिक भूमि ऐसी नहीं है कि जिसको जोता जा सके। जो भी भूमि जोती जा सकने वाली परती भूमि के नाम से दर्ज है, उसको खेती के योग्य बनाने के लिए बहुत अधिक साधनों की आवश्यकता होगी, जोकि साधारण किसान की सामर्थ्य के बाहर है। शाही-कृषि-कमीशन तथा श्री बोले और श्री राबर्टसन, जिनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे भारतीय राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित थे, उनका भी यही मत था। वे दोनों विशेषज्ञ जिन्हें भारत सरकार ने 'भारत की आर्थिक स्थिति' की जाँच करने को आमन्त्रित किया था, इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं, "अन्त में हमारा यह विचार है कि भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि, जिस पर खेती नहीं होती, उसके वर्गीकरण के प्रयत्न को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि भूमि का इस प्रकार वर्गीकरण करना एक प्रकार की काल्पनिक समस्या को जन्म देता है। क्योंकि ऐसा प्रकाशित करने से कि इतनी भूमि जोती जा सकने वाली परती भूमि है, हम एक काल्पनिक समस्या को उत्पन्न कर देते हैं, अर्थात् उस भूमि पर खेती करने की समस्या को जन्म देते हैं।" इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि खेती की भूमि को अब बढ़ाया ही नहीं जा सकता। आसाम, मध्य-प्रदेश, मध्य-भारत, राजस्थान, पंजाब में खेती की भूमि को बढ़ाने की कुछ गुन्जाइश अवश्य है। पंजाब और मध्य-प्रदेश, मध्य-भारत तथा राजपूताने में यह तभी संभव है जब सिंचाई के साधनों का विस्तार हो और सिंचाई की सुविधा उपलब्ध हो। आसाम और तराई (हिमालय) के प्रदेश में अस्वास्थ्यकर जलवायु मुख्य बाधा है। इसके अतिरिक्त आसाम में मजदूरों की भी एक विकट समस्या है। यह सब होते हुए भी यदि समस्त देश की दृष्टि से हम देखें तो हमें कहना होगा कि नई परती भूमि को तोड़कर उस पर खेती करने से जनसंख्या का भूमि पर अधिक भार हलका न हो सकेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उद्योग-धन्धों की तेजी से स्थापना होने पर और नई बंजर भूमि को खेती योग्य बनाने से भूमि पर जो जनसंख्या का अत्यधिक भार है, वह कुछ तो हलका होगा परन्तु इतने से यह समस्या हल नहीं हो सकेगी। अस्तु; खेती की उन्नति के लिए हमें अधिकाधिक गहरी तथा वैज्ञानिक ढंग की खेती पर ही निर्भर रहना होगा। अब हम आगे इस दृष्टि से खेती सम्बन्धी

समस्याओं का अध्ययन करेंगे। पहली समस्या, जिसकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये, वह है भूमि की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने की समस्या। अब हम इस समस्या का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

खेती योग्य वंजर भूमि पर खेती की सम्भावना : अविभाजित भारत में १० करोड़ ६० लाख एकड़ खेती योग्य वंजर भूमि थी। विभाजन के उपरान्त खेती योग्य वंजर भूमि ८ करोड़ ९० लाख एकड़ रह गई है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसमें से ढाई करोड़ एकड़ भूमि को तोड़कर उस पर खेती करना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हो सकता है। "अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन" को सफल बनाने के उद्देश्य से सरकार अगले पाँच वर्षों में ६२ लाख एकड़ भूमि को तोड़ कर खेनी योग्य बनावेगी। इसमें से चालीस लाख एकड़ भूमि ऐसी है जो कांस या हरियाली के उत्पन्न होने के कारण खेती के लिए बेकार है। इस प्रकार की भूमि बम्बई, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्य भारत तथा भूपाल में पाई जाती है।

उत्तर प्रदेश के मेरठ ज़िले में गंगा खादर की ५०,००० एकड़ भूमि को जिस पर जंगल खड़ा था तथा लम्बी घास उत्पन्न हो गई थी, कृषि यंत्रों द्वारा खेती के योग्य बना दिया गया और उस पर खेती होती रही है। उत्तर प्रदेश में दो दूसरी योजनाएँ हाथ में ली गई हैं। उसी प्रकार मध्य प्रदेश तथा भरतपुर और अलवर में नई भूमि को तोड़ा जा रहा है। सभी प्रान्तों में उस कार्य को करने के लिए ३००० बड़े ट्रैक्टरों की आवश्यकता होगी। भारत सरकार ने उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, भूपाल, विंध्य प्रदेश तथा राजस्थान में घासों से भरी हुई भूमि को खेती योग्य बनाने के लिए एक करोड़ डालर का ऋण अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से लिया है, जिससे कि विदेश से कृषि यंत्र मँगाये जा सकें।

इसमें तो तनिक भी सन्देह कि नहीं खेती योग्य बजर भूमि को खेती योग्य बनाना किसान की शक्ति और साधनों के बाहर की बात है। सरकार ही यह कार्य कर सकती है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि सरकार के प्रयत्न से कुछ भूमि खेती के योग्य बना दी जावेगी और जहाँ तक खाद्यान्न की कमी का प्रश्न है उसको हल करने में कुछ सहायता अवश्य मिलेगी। परन्तु भूमि पर जनसंख्या का भार इसके अधिक हलका हो सकेगा इसमें सन्देह है।

यह तो दुहराना अब व्यर्थ है कि भारत में भूमि की उत्पत्ति अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। यदि हम देश की गिरी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारना चाहते हैं तो हमें इस महत्वपूर्ण राष्ट्रीय धन्धे को सुदृढ़ आधार पर संगठित करना होगा। खेती के धन्धे को सुदृढ़ आधार पर संगठित करने और उसको एक अत्यन्त लाभदायक तथा समृद्धिशाली धंधा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जो बहुत सी कठिनाइयाँ

उपस्थित होती हैं उनका अध्ययन करें और उनको दूर करने के उपाय ढूंढ़ निकालें। अब हम उन कठिनाइयों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

आर्थिक जोत (Economic Holding) : पहली समस्या आर्थिक जोत की है। अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि उत्पत्ति के चारों साधनों का एक उचित और सही मात्रा में इकट्ठा होना आवश्यक है, तभी लाभदायक उत्पादन सम्भव हो सकता है। खेती भी इस नियम का अपवाद नहीं है। भारतीय किसान की एक सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसके पास जितनी भूमि है वह उस की थोड़ी-सी पूंजी और श्रम—जो कि उसके पास है—उसके लिए भी यथेष्ट नहीं है। भारतीय किसान के पास पूंजी बहुत कम है और वह तथा उसके परिवार के लोग ही श्रम करते हैं, परन्तु भूमि उसके पास इतनी कम होती है कि उतनी पूंजी और श्रम की दृष्टि से भी वह बहुत कम होती है। दूसरे शब्दों में उसकी जोत अनार्थिक (Un-economic Holding) है। यहाँ आर्थिक जोत (Economic Holding) से हमारा क्या तात्पर्य है इसको विवेचना करेंगे। यहाँ हमें यह न भूल जाना चाहिए कि आर्थिक जोत से हमारा तात्पर्य किसी निश्चित क्षेत्रफल से नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में आर्थिक जोत भिन्न भिन्न होगी। यह एक सापेक्षिक शब्द है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में आर्थिक जोत भिन्न-भिन्न होती है। यह आवश्यक नहीं है कि जो क्षेत्रफल एक स्थान पर आर्थिक जोत समझा जावे वह दूसरे स्थान पर भी आर्थिक जोत (Economic Holding) समझा जावे। किसी प्रदेश में आर्थिक जोत क्या होगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि पूंजी (Capital) कितनी है अर्थात पशु-धन, औज़ार तथा अन्य खेती के साधन कितने हैं; श्रम (Labour) कितना है; किस प्रकार की फ़सल उत्पन्न की जाती है; खेती का ढङ्ग क्या है और भूमि किस प्रकार की है। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर आर्थिक जोत निर्धारित की जा सकती है। परन्तु साधारण रूप में हम कह सकते हैं कि आर्थिक जोत वह है कि जिस पर निश्चित परिस्थितियों में सबसे अधिक लाभदायक खेती होती है। जब हम आर्थिक जोत की बात करते हैं तब हमारा तात्पर्य खेती की इकाई से होता है न कि किसी किसान के पास कुल भूमि कितनी है, उससे होता है। किसी किसान के पास कुल भूमि कितनी है, यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि एक खेत कितना बड़ा है। यदि किसी किसान के पास बहुत से छोटे-छोटे टुकड़े भिन्न-भिन्न स्थानों पर हों तो उसके पास खेती के लिए भूमि बहुत अधिक हो सकती है किन्तु आर्थिक जोत (Economic Holding) नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि किसी किसान के पास भूमि बहुत कम हो परन्तु वह अपनी भूमि के समीपवर्ती कुछ भूमि को लगान (Rent) पर लेकर खेती करने लगे तो वह आर्थिक जोत (Economic Holding) हो सकती है। आर्थिक

जोत की एक कम वैज्ञानिक परिभाषा यह भी हो सकती है कि वह भूमि जो कि किसान के परिवार के श्रम (Labour) तथा बैलों की जोड़ी अर्थात् पूँजी (Capital) को पूरा काम दे सके—वे बेकार न रहें—आर्थिक जोत कही जावेगी। अब स्पष्ट हो गया होगा कि आर्थिक जोत से हमारा तात्पर्य क्या है। भारतवर्ष की खेती की उन्नति में एक भारी अड़चन यह है कि भारतीय किसानों के पास अनार्थिक जोत है। उसके पास जो थोड़ी सी पूंजी तथा अन्य साधन और श्रम (Labour) हैं उसके लिए भी पर्याप्त भूमि उसके पास नहीं होती। साधारणत: भारतीय किसान के पास तीन एकड़ तक की जोत होती है। अधिकांश किसानों के पास तो एक एकड़ से भी कम की जोत है। कम से कम प्रत्येक किसान के पास तीस बीघा जोत हो तब वैज्ञानिक ढंग से खेती हो सकती है, और उसको आर्थिक जोत कहा जा सकता है। १६२१ की जन गणना के अनुसार भारत की औसत जोत २·७ एकड़ थी। तब से अब तक वह घटी ही है, और आज औसत जोत ढाई एकड़ के लगभग होगी। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हमारे देश में जोत अनार्थिक (Un-economic) हैं। भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बटे होना और बिखरे होना इसका मूल कारण है। अतएव अब हम इस समस्या का अध्ययन करेंगे।

भूमि का छोटे छोटे टुकड़ों में बँटे होना और बिखरे होना

इससे पहले कि हम इस समस्या का अध्ययन करें, इन दोनों के भेद को जान लेना आवश्यक है। भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होने (Sub-division) का अर्थ यह है कि भूमि एक ही पूर्वज के बहुत से उत्तराधिकारियों में बँट जावे। भूमि के बिखरे होने (Fragmentation) का दूसरा ही अर्थ है। भूमि का बिखरा होना यह बतलाता है कि जो भी कुल भूमि है वह किस प्रकार जोती जाती है। जितनी भूमि किसी किसान के पास है वह एक चक में है अथवा बहुत से छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हुई दूर-दूर बिखरी हुई है। यह तनिक ध्यान देने से स्पष्ट हो जावेगा कि भूमि का बिखरा होना (Fragmentation) बँटे होने से अधिक बड़ी बुराई है। इससे पहले कि हम उसके दोष-गुणों की विवेचना करें, यह आवश्यक है कि हम उसका अध्ययन करें।

सबसे पहले हम भूमि के बँटवारे (Sub-division) को लेंगे। भूमि के बँटवारे के सम्बन्ध में साधारणतया लोगों के मन में कुछ भ्रम है। यह सोचना भूल है कि उत्तराधिकार के नियम इसका मुख्य कारण हैं। यह कहना अधिक सही होगा कि उत्तराधिकार के नियम, जिनके अनुसार पिता की जायदाद सब भाइयों में बराबर बाँटी जा सकती हैं, (यदि भाई चाहे) एक ऐसा साधन उपलब्ध करता है जिसका उपयोग भूमि का बँटवारा करने में किया जा सकता है। भूमि के बँटवारे के मुख्य कारण दूसरे ही हैं जो कि इस साधन के द्वारा कार्य करते हैं। जब तक कि वे कारण

कार्य नहीं करते थे तब तक उत्तराधिकार के इन नियमों के होते हुए भी भूमि के बँटवारे की समस्या खड़ी नहीं हुई। उत्तराधिकार के नियम आज के नहीं हैं, हजारों वर्ष पुराने हैं, किंतु भूमि के बँटवारे की समस्या पहले कभी खड़ी नहीं हुई। कारण यह था कि उस समय वे कारण सक्रिय नहीं थे। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि भूमि का बँटवारा एक नवीन समस्या है। योरोप के कुछ देशों का उदाहरण भी हमारे मत की पुष्टि करता है। बैलजियम में भारत जैसे ही उत्तराधिकार के नियम हैं, किन्तु वहाँ भूमि के विभाजन की समस्या नहीं खड़ी हुई। वहाँ भाई भूमि पर सम्मिलित स्वामित्व रखते हैं। उनमें से केवल एक उस भूमि को जोतता है और दूसरे भाइयों को उनकी लगान देता रहता है। अस्तु; भारत में भूमि के विभाजन का वास्तविक कारण उत्तराधिकार के नियम नहीं हैं वरन् और ही कुछ हैं। भारत में जनसंख्या तेजी से बढ़ती गई और उद्योग-धंधों की मृत्यु हो जाने के कारण, अन्य धन्धों या पेशों का अभाव था इस कारण भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता गया। क्रमशः अधिकाधिक लोग खेतिहर होते गए। यदि सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली का विनाश न होता तो यह सम्भव था कि सब भाई मिलकर सम्मिलित खेती करते रहते। किंतु व्यक्तिवाद का उदय होने के कारण तथा अंग्रेज न्यायाधीशों के द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत अधिकारों पर बल देने के कारण सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली प्रायः नष्ट होने लगी, अतएव भूमि के हिस्सेदारों में बँटवारा होने लगा और सम्मिलित खेती की प्रथा भी लुप्त हो गई। यह-उद्योग-धन्धों की अवनति होने के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार और भी अधिक बढ़ गया, इस कारण यह समस्या और भी कठिन हो गई। अतः भूमि के बँटवारे के ऊपर लिखे मुख्य कारण हैं। उत्तराधिकार सम्बन्धी नियमों ने इस बँटवारे में सुविधा अवश्य प्रदान कर दी है। इसके अतिरिक्त बिना बाढ़ के खुले खेतों का होना भी बँटवारे के लिए सहायक सिद्ध हुआ है।

जहाँ तक भूमि के बिखरे होने का प्रश्न है, यह उत्तराधिकारियों की इस इच्छा का परिणाम है कि वे अपने पूर्वज की भूमि के प्रत्येक टुकड़े में एक हिस्सा लेना चाहते हैं। कुछ हद तक जलवायु की अनिश्चितता के कारण भी यह आवश्यक हो जाता है। कुछ भूमि को विश्राम देने के लिए परती छोड़ देने तथा फसलों के हेर-फेर की पद्धति के कारण भी यह आवश्यक हो जाता है कि किसान के पास सारी भूमि एक टुकड़े में न हो वरन् कुछ टुकड़ों में हो। जहाँ कि चावल की खेती अधिक होती है, वहाँ भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरा होना अच्छा समझा जाता है, क्योंकि भूमि के छोटे टुकड़ों में बिखरे होने से पानी को खेतों में पहुँचाने की सुविधा होती है। एक और भी कारण है जिससे भूमि के बिखरे होने में प्रोत्साहन मिलता है। वह कारण यह है कि अधिकतर कुँए गाँव के समीप ही होते हैं। इस कारण प्रत्येक किसान यह चाहता

है कि एक भूमि का टुकड़ा या खेत गाँव के समीप हो, दूसरा कुछ थोड़ी दूर पर हो जिसकी गाँव के कुओं से सिंचाई हो सकती हो, तीसरा गाँव की सुदूर सीमा पर हो जिस पर केवल खरीफ अर्थात् वर्षा ऋतु की फसलें ही उत्पन्न की जावें। भूमि के बँटवारे की ही भांति भूमि का बिखरा होना भी एक आधुनिक काल की समस्या है और यह तेजी से बढ़ती जा रही है। इससे पहले कि हम इस बात का अध्ययन करें कि भूमि के बँटवारे तथा बिखरे होने को किस प्रकार रोका जावे, हमें उनके गुण दोषों की विवेचना कर लेनी चाहिए।

आरम्भ में ही हमें यह जान लेना चाहिए कि भूमि के विभाजन तथा बिखरे होने में केवल दोष ही दोष नहीं हैं, कुछ गुण भी हैं। भूमि के विभाजन से भूमि केवल कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में ही जमा नहीं हो जाती और उसके कारण स्वतन्त्र किसान स्वामी-वर्ग (Peasant Proprietors) का उदय होता है, और उनमें समान रूप से भूमि बँट जाती है। बिखरे हुए खेतों की भारत जैसे देश में, जहाँ कि बहुत से प्रदेशों में वर्षा अत्यन्त अनिश्चित और कम होती है, वहाँ खेती का आदर्श समृद्धिशाली खेती न होकर सुरक्षित खेती होता है। भूमि का विभाजन और उसका बिखरा होना उस समय एक बुराई का रूप धारण कर लेता है, जबकि वह साधारण सीमा को पार कर जाता है, अर्थात् जब भूमि का विभाजन और टुकड़ों का दूर-दूर बिखरे होना बहुत अधिक हो जाता है। जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है, दुर्भाग्यवश भूमि का विभाजन और छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरे होना चरम सीमा को पहुँच गया है। जब किसान की भूमि बँटते-बँटते बहुत कम रह जाती है और वह भी छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखरी होती है तब खेती एक अलाभकारी धन्धा बन जाती है। जो कुछ भी थोड़ी-बहुत पूँजी, श्रम और साधन किसान के पास होते हैं, उनका पूरा उपयोग उस थोड़ी भूमि पर नहीं हो पाता और किसान का बहुत सा समय गप्प लड़ाने तथा आलस्य में व्यतीत हो जाता है; विशेषकर जबकि देश में खेती के सहायक धन्धे नहीं हैं। इसका परिणाम यह होता है कि खेती अलाभकारी धन्धा बन जाता है और किसान की स्थिति दयनीय बन जाती है। वह अपनी भूमि पर कोई स्थायी सुधार नहीं कर सकता और न वह वैज्ञानिक ढङ्ग से गहरी खेती (Intensive Cultivation) ही कर सकता है। न तो उसके पास वैज्ञानिक तथा गहरी खेती के लिए उचित साधन ही होते हैं और न उसके पास इतनी भूमि ही होती है कि जिस पर उत्तम खेती के औजारों का उपयोग हो सके। अतः अवैज्ञानिक खेती तथा किसान की निर्धनता एक दूसरे की चिर-संगनी हैं और एक दूसरे का कारण हैं। फल यह होता है कि किसान गाँव के बनिये के चुङ्गल में फँस जाता है और उस पर ऋण का भारी बोझ बढ़ जाता है। ऋण के बढ़ जाने का परिणाम यह होता है कि भूमि की और अधिक

विभाजन होता है, क्योंकि कुछ भूमि ऋण के बदले महाजन के हाथ में चली जाती है। जो भी इस प्रकार के कानून बनाये गए कि जिनसे भूमि को खेतिहर जातियों के हाथ से गैर-खेतिहर जातियों के हाथ में जाने से रोका जा सके, वे सफल नहीं हुए। जब भूमि विभाजित और छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी होती है तो कुओं का खोदना आर्थिक दृष्टि से असम्भव हो जाता है। खेतों की बाढ़ नहीं बनाई जा सकती। इसका कारण यह है कि छोटे से टुकड़े का स्वामी इतना खर्चा नहीं कर सकता। यदि किसी किसान की सब भूमि एक चक में हो तो वह एक कुआँ बनाकर उसकी सिंचाई कर सकता है और उसकी बाढ़ बना सकता है। परन्तु यदि उतनी ही भूमि दस-बीस छोटे-छोटे टुकड़ों में भिन्न स्थानों पर बिखरी हो तो किसान न तो कुआँ ही बना सकता है और न उन टुकड़ों को बाढ़ से घेर ही सकता है। ऐसा करना उसके लिए अत्यन्त खर्चीला साबित होगा। खेतों में बाढ़ न होने का एक दुष्परिणाम यह होता है कि फसलों को पशु खराब करते हैं। जब कि खेतों में कोई बाढ़ नहीं होती तो नये तरीके से खेती करना असम्भव हो जाता है, क्योंकि यदि किसान कोई नया और बढ़िया बीज बोता है, जो तनिक देर से पकता है, तो अन्य किसान तो अपनी फसल काट लेंगे और उसकी फसल खड़ी रहेगी और समीपवर्ती खेतों में चरने वाले पशु उसकी फसल को नष्ट करेंगे। इन दोषों के अतिरिक्त बिखरे हुए खेतों का एक बड़ा दोष यह है कि बहुत-सी भूमि मेंड़ों और रास्तों में व्यर्थ नष्ट हो जाती है। जब कि जोत बहुत छोटी होती है तो उसका परिणाम यह होता है कि उस पर लगातार खेती की जाती है। भूमि को विश्राम देने के लिए उसे कभी-कभी बिना जुती छोड़ देने की जो स्वास्थ्यकर पद्धति है, किसान उसको छोड़ देता है और भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि भूमि पर वर्ष में दो फसलें उत्पन्न नहीं की जा सकतीं। ऊपर लिखे दोष भूमि के बँटे होने तथा बिखरे होने के हैं, परन्तु कुछ दोष केवल भूमि के बिखरे होने के ही हैं। अब हम उनके बारे में अध्ययन करेंगे। जब किसान की भूमि एक चक में न होकर छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी होती हैं तो उसका बहुत-सा समय एक खेत से दूसरे खेत तक जाने में व्यर्थ नष्ट हो जाता है। यही नहीं हल और बैलों को एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े पर, जो कि काफी दूरी पर होता हैं, लेजाने में बहुत सी कार्यक्षमता तथा समय व्यर्थ में नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार खाद को खेतों तक लेजाने में तथा फसल को खेतों से लाने में भी बहुत-सा व्यर्थ परिश्रम होता है और समय नष्ट हो जाता है। इससे खेती का व्यय तो बहुत बढ़ जाता है किन्तु लाभ बहुत कम होता है। गाँव से भिन्न-भिन्न बिखरे हुए खेतों पर खाद लेजाने में बहुत-सा समय और किसान तथा पशु का श्रम व्यर्थ नष्ट हो जाता है। यदि सारी भूमि एक चक में होती तो किसान खेतों पर ही पशुओं को रखकर वहीं खाद

ऊपरी सतह बहुत धीरे-धीरे जमती है। विशेषज्ञों का कथन है कि ४०० वर्षों में एक इंच मिट्टी जम पाती है और यही वह मिट्टी होती है जिस पर भूमि की वास्तविक उपजाऊ शक्ति निर्भर करती है। यदि किसी कारणवश यह मिट्टी बह जावे तो भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जावेगी।

सतह का कटाव मिट्टी के ऊपरी भाग को बहा ले जाता है और इस प्रकार भूमि की उर्वरा शक्ति को नष्ट कर देता है। किन्तु सतह के कटाव से भूमि जल्दी बेकार या खेती के लिए निकम्मी नहीं हो जाती। शताब्दियों तक यदि सतह का कटाव होता रहे तो खेती चौपट हो जाती है, किन्तु उसका बुरा प्रभाव तुरन्त ही प्रकट नहीं होता। परन्तु फिर भी यह तो मानना ही होगा कि यह बड़ी राष्ट्रीय विपत्ति है।

गहरे कटाव से भूमि बहुत जल्दी बेकार हो जाती है। कुछ ही वर्षों में बहुत बड़ा क्षेत्र गलियों, नालों तथा खाइयों से भर जाता है। एक बार जहाँ गहरा कटाव आरम्भ हो जाता है वह बढ़ता ही जाता है और अधिकाधिक क्षेत्र नष्ट हो जाता है। वह कहीं रुकता नहीं है और क्रमशः बढ़ता ही जाता है।

भूमि के कटाव का एक दुष्परिणाम यह होता है कि पृथ्वी के अन्दर जलस्रोत अधिक गहराई पर चला जाता है और सिंचाई अधिक कष्टसाध्य तथा खर्चीली हो जाती है। वर्षा का जल भयानक तेजी से बहता है इस कारण पृथ्वी बहुत कम जल को सोख पाती है। इसका परिणाम यह होता है कि पृथ्वी के अन्दर बहुत कम पानी पहुँचता है और सिंचाई में कठिनाई होती है। जब पृथ्वी का जलस्रोत नीचा हो जाता है तो बहुत से कुए बेकार हो जाते हैं।

भारतवर्ष में सतह के कटाव से जो हानि होती है वह इतनी प्रत्यक्ष नहीं है, परन्तु गहरे कटाव के कारण बहुत सी भूमि बेकार हो गई है। जमुना के बायें किनारे पर हजारों एकड़ मूल्यवान् उपजाऊ भूमि कटाव के कारण बेकार हो गई। उसमें कोई पैदावार नहीं हो सकती। इस क्षेत्रफल पर वनों को लगाने का प्रयत्न किया गया है और इस प्रकार उसको खेती के योग्य बनाया जा रहा है। परन्तु इतनी अधिक भूमि बेकार हो गई है कि उसको आसानी से काम में नहीं लाया जा सकता। यही नहीं कि कटाव से नष्ट हुई भूमि को उपजाऊ तथा खेती के योग्य बनाने में बहुत समय लगेगा, परन्तु उसमें व्यय भी बहुत होगा। इसका वास्तविक इलाज यह है कि पानी के बहाव को नियंत्रित किया जावे।

जमुना की खादर भूमि के अतिरिक्त दक्षिण के विशाल क्षेत्र में भी भूमि का कटाव बहुत होता है। प्रतिवर्ष वर्षा के दिनों में अत्यन्त उपजाऊ मिट्टी को वर्षा का पानी तेजी से बहा ले जाता है। यदि किसी प्रकार पानी के बहाव का नियन्त्रण किया जा सके तो यह हानि रोकी जा सकती है और पृथ्वी को वर्षा के जल को सोखने का

समय मिल जाता है। जब पृथ्वी में वर्षा का अधिक जल सोख लिया जावेगा तो उसका परिणाम यह होगा कि भूमि का कटाव रुक जावेगा, फसलें अच्छी होंगी और भूमि का जलस्रोत ऊँचा हो जावेगा तथा कुओं से सिंचाई भली प्रकार हो सकेगी। दक्षिण के उन क्षेत्रों में जहाँ चाय के बाग हैं, भूमि का विलयन अथवा सतह की मिट्टी का कटाव बहुत अधिक दृष्टिगोचर होता है।

भूमि के कटाव को रोकने के मुख्य उपाय नीचे लिखे हैं : वर्षा के जल के बहाव को नियन्त्रित किया जावे। कहीं-कहीं बाँध बनाकर, कहीं-कहीं नालियां बनाकर वर्षा के जल का बहाव नियन्त्रित किया जा सकता है। जहां पहाड़ियों का ढाल हो वहां सीढ़ी के आकार की खेती (वेवल खेती Terracing) करके तथा सतह पर नालियां बनाकर भूमि के कटाव को रोका जा सकता है। जहां गहरा कटाव हो गया है उस भूमि पर केवल वन लगाकर ही उसको खेती के योग्य बनाया जा सकता है। जहां गहरा कटाव हो वहाँ बाँध बनाकर भी कटाव को रोका जा सकता है।

भूमि सुधार : भारतवर्ष में भूमि पर किसान ने स्थायी सुधार बिलकुल नहीं किए। स्थायी सुधारों के अभाव में खेती की उन्नति होना असम्भव है। भारतवर्ष में किसान ने प्रकृति को उत्पादन-कार्य करने में तनिक भी सहायता नहीं दी। अन्य उन्नत देशों में किसान ने भूमि पर बहुत कुछ श्रम करके स्थायी सुधार किये हैं। उदाहरण के लिये हमारे खेतों के चारों ओर बाढ़ नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि फसलों को बहुत हानि होती है। फसलों को जङ्गली जानवर नुकसान पहुंचाते हैं, गांव के पशु उनको खाते हैं और बाढ़ न होने के कारण किसान खेती के ढंग में कोई सुधार नहीं कर सकता। किसान को विवश होकर अपने पड़ोसियों के समान ही खेती करनी पड़ती है। बाढ़ न होने के कारण बहुत-से मेंड़ सम्बन्धी झगड़े खड़े हो जाते हैं, और फसल की रखवाली के लिए बहुत-सा श्रम और धन व्यय करना पड़ता है। इसी प्रकार खेतों पर पानी के बहाव के नियंत्रण के लिए कोई बांध न होने के कारण बहुत-सी उपजाऊ मिट्टी बह जाती है। पानी के बहाव का उचित प्रबंध न होने के कारण या तो दलदल बन जाता है अथवा उपजाऊ भूमि बह जाती है। भूमि को एक समान भी नहीं किया जाता और न मिट्टी को ही ठीक किया जाता है। खेत कहीं ऊँचा होता है तो कहीं नीचा, इसका परिणाम यह होता है कि भूमि पानी को एक समान नहीं सोख सकती। खेतों पर फार्म हाऊस अर्थात मकान बना कर रहने की भारतवर्ष में प्रथा नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत-सी खाद व्यर्थ में नष्ट हो जाती है, क्योंकि खाद तो गांव में बनाई जाती है और उसको खेतों में लाया जाता है। इस कारण सब खाद उपयोग में नहीं आ पाती। खेती की रखवाली उस दशा में असम्भव हो जाती है और किसान

का बहुत-सा समय तो केवल गांव से खेत पर आने तथा वापस जाने में नष्ट हो जाता है। किसान गांव में रहता है और दूर-दूर खेतों पर खेती करता है इस कारण किसान तथा बैलों का समय और श्रम व्यर्थ में नष्ट हो जाता है। इसका एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि पशुओं और मनुष्य को एक ही साथ एक मकान में गांव में रहना पड़ता है। यहाँ यह बात भी हमें न भूलनी चाहिए कि भारत की विशेष परिस्थितियों में फार्म हाऊस बनाने में कुछ असुविधायें तथा कठिनाइयाँ भी हैं। पहली कठिनाई यह है कि किसान गांव से दूर खेत पर मकान बनाकर रहे तो उसे भय रहता है। वह अपने को सुरक्षित अनुभव नहीं करता; चोरी-डाके का सदैव भय बना रहता है। भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटे रहने के कारण वह अपना मकान यदि चाहे तो भी बना नहीं सकता। आखिर वह किस खेत पर अपना मकान बनाये, क्योंकि एक खेत पर मकान बना लेने से तो काम नहीं चल सकता। अपने पैतृक मकान का मोह तथा अपने पुराने साथियों के बीच में रहने की सुविधा तथा भावना भी उसे गांव में रहने पर विवश करती है। फिर खेतों पर कुएँ नहीं होते अतः पानी की भी असुविधा हो सकती है। सबसे बड़ी समस्या रुपये की होती है, क्योंकि मकान बनाने में व्यय होता है और किसान निर्धन होता है। ऊपर लिखे कारणों से यह तो स्पष्ट हो गया कि भारतवर्ष में भूमि पर स्थायी सुधार क्यों नहीं किये जाते। बिना इन स्थायी सुधारों के किए गहरी खेती नहीं की जा सकती और न भूमि की उपजाऊ शक्ति ही बढ़ाई जा सकती है। सच तो यह है कि आज की स्थिति में किसान भूमि पर स्थायी सुधार कर ही नहीं सकता। किसान अत्यन्त निर्धन है, उसकी थोड़ी सी भूमि दूर-दूर छोटे छोटे टुकड़ों में बिखरी हुई है, वह उन पर स्थायी सुधार करने में असमर्थ है। हाँ इस समय जबकि खेती की पैदावार का मूल्य बढ़ा हुआ है और किसान की आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी है, यदि राज्य उसकी सहायता करे तो वह भूमि में कुछ स्थायी सुधार कर सकता है। राज्य को स्थायी सुधारों के लिए किसान को ऋण देने की तथा विशेषज्ञों की सलाह तथा सहायता उसे मिल सके इसकी व्यवस्था करनी होगी। यही नहीं, राज्य को इस बात का किसानों में प्रचार भी करना होगा कि इन स्थायी सुधारों से उसे अन्त में बहुत लाभ पहुँचेगा। यदि सहकारिता के आधार पर भूमि पर स्थायी सुधार किए जावें तो और भी अधिक सफलता मिल सकती है। परन्तु यह सब कहने के बाद भी हम इस बात को अवश्य दोहरा देना चाहते हैं कि जब तक खेती लाभदायक धन्धा नहीं बन जाता है और किसान की आर्थिक स्थिति में संतोषजनक सुधार नहीं होजाता तब तक आज की स्थिति बदल नहीं सकती। खेती के सुधार के लिए यह आवश्यक है।

खेती की उन्नति के लिए एक और भी आवश्यक साधन सिंचाई का है। जब तक पानी का पूरा प्रबन्ध नहीं हो जाता तब तक खेती की उन्नति नहीं हो सकती।

अतएव हम अब सिंचाई के उपलब्ध साधनों का अध्ययन करेंगे।

सिंचाई : यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि भारतीय खेती को जल की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत में वर्षा साल के तीन महीनों में ही होती है, शेष महीने सूखे होते हैं। भारत में वर्षा केवल मौसमी ही नहीं है वरन अधिकांश क्षेत्रों में अनिश्चित भी है, खेती के लिए यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वर्षा ठीक समय पर हो। किन्तु यहां प्रायः ऐसा होता है कि वर्षा कभी १५ दिन बाद आरम्भ होती है, तो कभी १५ दिन पहले आरम्भ हो जाती है। कभी वर्षा जल्दी ही समाप्त हो जाती है और कभी देर तक होती रहती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वर्षा के दिनों में दो-तीन सप्ताह तक लगातार बिलकुल पानी नहीं बरसता, सूखा पड़ जाता है। वर्षा की अनिश्चितता यहीं तक सीमित नहीं है वरन् किसी वर्ष पानी बहुत अधिक होता है तो किसी वर्ष सूखा भी पड़ जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी स्थान की औसत जल वृष्टि ४० इंच है तो किसी वर्ष ६५ और ७० इंच पानी भी बरस सकता है और किसी वर्ष केवल बीस इंच ही वर्षा हो सकती है। देश के कुछ विभाग ऐसे हैं जहाँ वर्षा बहुत कम होती है। उदाहरण के लिए सिंध, राजपूताना, पश्चिमीय पंजाब तथा सीमाप्रान्त में वर्षा बहुत कम होती है। इस देश में जहाँ वर्षा मौसमी और अनिश्चित है वहां दूसरी ओर खेती के लिए वर्षा की बहुत अधिक आवश्यकता है। गन्ना और चावल इत्यादि की फसलों के लिए यथेष्ट तथा समयानुसार नियमित जल की आवश्यकता होती है। इन सब बातों का केवल एक ही निष्कर्ष निकलता है कि भारतवर्ष में खेती के लिए जल एक मुख्य साधन है, और यदि हमें खेती को अधिक निश्चित और सफल बनाना है तथा गहरी खेती के द्वारा पैदावार को बढ़ाना है तो सिंचाई की सबसे अधिक आवश्यकता होगी।

भारतवर्ष में सिंचाई अत्यन्त प्राचीन काल से होती आई है। अत्यन्त प्राचीन काल में भी तालाबों तथा कुओं की इस देश में व्यवस्था थी। प्राचीन काल तथा मध्य युग में नहरें भी बनाई गईं। परन्तु नहरों का प्राचीन काल में इतना अधिक उपयोग नहीं किया जाता था। नहरों के द्वारा सिंचाई की व्यवस्था बीसवीं शताब्दी से आरम्भ में ही हुई और तब से भारत में सिंचाई के साधनों में नहरों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान बन गया। अब हम सिंचाई के साधनों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

भारत में सिंचाई के तीन मुख्य साधन हैं—(१) कुओं से सिंचाई, (२) तालाबों से सिंचाई, (३) नहरों द्वारा सिंचाई। इन तीन साधनों के अतिरिक्त जहाँ वर्षा का पानी इकट्ठा हो जाता है उसका अथवा नदियों के जल का भी सिंचाई के लिए उपयोग किया जाता है।

परिच्छेद ९

ग्राम्य अर्थ प्रबंधन (Rural Finance) तथा ग्रामीण ऋण

खेती के लिए साख की आवश्यकता : यह तो अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि उद्योग धन्धे, वाणिज्य और खेती में साख (Credit) की आवश्यकता पड़ती है। खेती में साख की आवश्यकता और भी अधिक होती है क्योंकि किसान प्रायः साधनहीन होता है, उसके पास पूंजी का अभाव होता है। अस्तु खेती के धंधे के लिए किसान को साख की और भी अधिक आवश्यकता है। परन्तु खेती के लिए साख का प्रबंध उतना सरल नहीं होता जितना कि उद्योग धन्धों या व्यापार के लिए होता है। इससे पहले कि हम खेती की साख के सम्बंध में अध्ययन करें हमें यह जान लेना चाहिए कि खेती और उद्योग धन्धों में बहुत भेद है। इसी कारण खेती के लिए आर्थिक प्रबंध करने में कुछ कठिनाइयां उपस्थित होती हैं।

(१) जहां अन्य धन्धों में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है और बड़े बड़े कारखाने या बड़े बड़े स्टोर होते हैं वहाँ खेती में बहुधा छोटे छोटे खेत होते हैं। यह छोटे छोटे खेत बिखरे हुए और असंगठित होते हैं। फिर खेती का कार्य एक समान नहीं होता। खेती का धन्धा अनिश्चित धन्धा है, वह प्रकृति पर इतना अधिक निर्भर है कि किसान के सब कुछ करने पर भी फसल नष्ट हो सकती है। अतएव खेती में जो जोखिम है उसका अनुमान लगाना कठिन है। अस्तु फसल को ऋण की जमानत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत यदि कारखानों या बड़ी दूकानों की व्यवस्था ठीक हो तो उनके माल की उत्पत्ति और दूकानों की बिक्री निश्चित होती है। यही कारण है कि कारखानों या व्यापारिक कम्पनियां को हिस्से या डिबेंचर बेचकर यथेष्ट पूंजी मिल जाती है और यदि उन्हें अन्य कार्यों के लिए साख की आवश्यकता होती है तो वह अपने माल की जमानत पर बैंकों से साख पा जाते हैं। किन्तु किसान को साख इतनी आसानी से नहीं मिलती, व्यापारिक बैंक उसे साख नहीं देते क्योंकि उसकी फसल अनिश्चित होती है और वह जितना ऋण लेना चाहता है वह बहुत थोड़ा होता है। इस कारण किसान की फसल की जमानत स्वीकार योग्य नहीं होती।

(२) यदि खेती की पैदावार का मूल्य गिर जाता है तो भी किसान खेती को छोड़ नहीं सकता। उसे खेतों पर फसल उत्पन्न करना ही होगा, नहीं तो भूमि बेकार

(२) माध्यमिक काल अथवा साधारण समय के लिए साख की आवश्यकता को खरीदने, मूल्यवान औज़ारों को मोल लेने, बाढ़ बनाने, भूमि में अन्य सुधार ; लिए आवश्यक होती है। साधारण समय के लिए साख का अर्थ है डेढ़ पाँच या सात वर्ष तक।

(३) लम्बे समय के लिए साख की आवश्यकता भूमि में स्थायी सुधार—जैसे तालाबों को खोदने के लिए, बाँध बनाने के लिए, पानी को दूर तक ले जाने के पक्की नाली बनाने के लिए, पहाड़ी ढाल को खेती के लिए ठीक करने के लिए, ों को साफ करने, बीहड़ और बंजर भूमि को तोड़ कर खेती योग्य बनाने के लिए, के बहाव को ठीक करने, मूल्यवान यंत्र लेने के लिए, इमारतें बनाने के लिए, नई भूमि खरीदने के लिए लम्बे समय के लिए साख की आवश्यकता होती है। ी साख का अर्थ है पाँच वर्ष से बीस वर्ष तक के लिए।

ग्राम्य साख के स्रोत : आजकल भारत में किसानों को नीचे लिखी संस्थाओं साख मिलती है :—

(१) गांव का महाजन या साहूकार (पेशेवर और गैर पेशेवर)।

(२) देशी बैंकर—देशी बैंकर अधिकतर अपने एजेंटों के द्वारा गांव वालों को ाख देते हैं।

(३) व्यापारिक या मिश्रित पूँजी वाले बैंक—यह भी अन्य बहुत से मध्यस्थों के द्वारा साख देते हैं।

(४) सरकार।

(५) सहकारी साख समितियाँ और सहकारी बैंक।

(६) भूमि बंधक बैंक।

(७) रिजर्व बैंक।

इनमें से महाजन या साहूकार और सरकार के सम्बन्ध में हम यहाँ अध्ययन करेंगे। सहकारी साख समितियों, सहकारी बैंक और भूमि बंधक बैंकों का अध्ययन अगले परिच्छेद में विस्तार पूर्वक किया गया है। शेष संस्थाएँ किसान को प्रत्यक्ष रूप से साख नहीं देतीं वरन् वे उन संस्थाओं को साख देती हैं जो किसान को प्रत्यक्ष रूप से साख देते हैं अस्तु उनके अध्ययन की इस स्थान पर कोई आवश्यकता नहीं है।

महाजन या साहूकार : भारतवर्ष में प्रत्येक गांव में महाजन या साहूकार होता है जो लेन देन का काम करता है। इन पेशेवर महाजनों तथा साहूकारों के अतिरिक्त और बहुत से गैर पेशेवर लोग—जैसे जमींदार, नौकरी करने वाले, वकील व्यापारी इत्यादि—जिसके पास भी कुछ रुपया इकट्ठा हो जाता है वही लेन देन करने लगता है।

पड़ी रहेगी और उस पर जंगली पौधे उग आवेंगे। इस कारण यदि खेती अधिक लाभदायक न भी हो तो भी किसान को फसल पैदा करनी ही पड़ती है। अतएव उसकी साख की आवश्यकता एकसी बनी रहती है और उसका ऋण बढ़ जाता है। इसके विपरीत यदि मूल्य गिरता है तो अन्य धन्धों में उत्पादन को कम किया जा सकता है अथवा कुछ समय के लिए रोका जा सकता है।

(३) यदि किसी समय उत्पत्ति आवश्यकता से अधिक हो गई तो कारखाने अपने माल की जमानत पर बैंकों से ऋण लेकर उसको अपने गोदामों में रोक रख सकते हैं और पूर्ति (Supply) को कम करके उसके मूल्य को अधिक गिरने से बचा सकते हैं। किन्तु खेती में लगा हुआ किसान ऐसा नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि उसका धंधा असंगठित है और उसकी फसल अनिश्चित है।

(४) खेती तथा द्रव्य बाज़ार (Money-market) में सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है क्योंकि व्यापारिक बैंक किसान को ऋण देने को तैयार नहीं होते। इसका मुख्य कारण यह है कि किसान अपनी फसल या भूमि को जमानत के रूप में दे सकता है। व्यापारिक बैंकों के लिए दोनों प्रकार की जमानतें अनुपयुक्त हैं। फसल अनिश्चित होती है और भूमि लम्बे समय के लिए लिये हुए ऋण के लिए उपयुक्त जमानत हो सकती है किन्तु व्यापारिक बैंकों के लिए उपयुक्त जमानत नहीं है क्योंकि वह शीघ्र ही जरूरत पड़ने पर बेची नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त फसल अनिश्चित होने के कारण किसान समय पर ऋण नहीं चुका पाता इस कारण व्यापारिक बैंक उसे ऋण नहीं देते क्योंकि उनकी डिपाज़िट थोड़े समय के लिए होती है। वे अनिश्चित काल के लिए अपने रुपए को अटका नहीं सकते।

(५) खेती के सम्बन्ध में जो उपर लिखी कठिनाइयां हैं वे भारतवर्ष में और भी अधिक भयंकर रूप में उपस्थित हैं क्योंकि यहाँ का किसान अशिक्षित और निर्धन है तथा भयंकर ऋण के बोझ से दबा हुआ है और उसके पास आर्थिक जोत न होने के कारण खेती लाभदायक धंधा नहीं है। यही कारण है कि खेती के लिए विशेष प्रकार की सहकारी साख समितियों का आयोजन करना पड़ता है।

किसान को तीन प्रकार की साख चाहिए : किसान को खेती के धंधे को सफलतापूर्वक करने के लिए तीन प्रकार की साख चाहिए : (१) थोड़े समय के लिए (२) माध्यमिक काल के लिए या साधारण समय के लिए (३) लम्बे समय के लिए।

(१) थोड़े समय के लिए साख की आवश्यकता बीज, खाद, हल तथा अन्य औजारों को खरीदने तथा खेती की पैदावार को मंडी तक ले जाने तथा खाद्य पदार्थ खरीदने तथा खेती की अन्य क्रियाओं के करने के लिए होती है। किसान को खेती के कार्यों के लिए ६ महीने से डेढ़ वर्ष तक के लिए साख की आवश्यकता होती है।

(२) माध्यमिक काल अथवा साधारण समय के लिए साख की आवश्यकता पशुओं को खरीदने, मूल्यवान औज़ारों को मोल लेने, वाढ़ वनाने, भूमि में अन्य सुधार करने के लिए आवश्यक होती है। साधारण समय के लिए साख का अर्थ है डेढ़ वर्ष से पाँच या सात वर्ष तक।

(३) लम्बे समय के लिए साख की आवश्यकता भूमि में स्थायी सुधार—जैसे कुओं, तालावों को खोदने के लिए, बाँध बनाने के लिए, पानी को दूर तक ले जाने के लिए पक्की नाली बनाने के लिए, पहाड़ी ढाल को खेती के लिए ठीक करने के लिए, जंगलों को साफ करने, बीहड़ और बंजर भूमि को तोड़ कर खेती योग्य बनाने के लिए, पानी के बहाव को ठीक करने, मूल्यवान यंत्र लेने के लिए, इमारतें बनाने के लिए, तथा नई भूमि खरीदने के लिए लम्बे समय के लिए साख की आवश्यकता होती है। लम्बी साख का अर्थ है पाँच वर्ष से बीस वर्ष तक के लिए।

ग्राम्य साख के स्रोत : आजकल भारत में किसानों को नीचे लिखी संस्थाओं से साख मिलती है :—

(१) गांव का महाजन या साहूकार (पेशेवर और गैर पेशेवर)।

(२) देशी बैंकर—देशी बैंकर अधिकतर अपने एजेंटों के द्वारा गांव वालों को साख देते हैं।

(३) व्यापारिक या मिश्रित पूँजी वाले बैंक—यह भी अन्य बहुत से मध्यस्थों के द्वारा साख देते हैं।

(४) सरकार।

(५) सहकारी साख समितियाँ और सहकारी बैंक।

(६) भूमि बंधक बैंक।

(७) रिजर्व बैंक।

इनमें से महाजन या साहूकार और सरकार के सम्बन्ध में हम यहाँ अध्ययन करेंगे। सहकारी साख समितियाँ, सहकारी बैंक और भूमि बंधक बैंकों का अध्ययन अगले परिच्छेद में विस्तार पूर्वक किया गया है। शेष संस्थाएँ किसान को प्रत्यक्ष रूप से साख नहीं देतीं वरन् वे उन संस्थाओं को साख देती हैं जो किसान को प्रत्यक्ष रूप से साख देते हैं अस्तु उनके अध्ययन की इस स्थान पर कोई आवश्यकता नहीं है।

महाजन या साहूकार : भारतवर्ष में प्रत्येक गांव में महाजन या साहूकार होता है जो लेन देन का काम करता है। इन पेशेवर महाजनों तथा साहूकारों के अतिरिक्त और बहुत से गैर पेशेवर लोग—जैसे जमींदार, नौकरी करने वाले, वकील व्यापारी इत्यादि—जिसके पास भी कुछ रुपया इकट्ठा हो जाता है वही लेन देन करने लगता है।

गाँवो का पेशेवर महाजन या साहूकार छोटी रकम का ऋण केवल अपनी वही में लिख कर दे देता है और न उसकी कोई गवाही होती है। किन्तु जब रकम अधिक होती है तो प्रॉमिज़री नोट लिखा लिया जाता है। महाजन किसान को बिना जमानत के इस आधार पर ऋण दे देता है कि कर्जदार किसान अपनी फसल को महाजन को वेच देगा अथवा महाजन के द्वारा वेचेगा। एक प्रकार से महाजन फसल को गिरवी रख लेता है किन्तु जब रकम अधिक होती है और लम्बे समय के लिए होती है तो भूमि, जेवर, या मकान वंधक रख दिया जाता है। महाजन को इस बात की कोई चिन्ता नहीं होती कि किसान किस कार्य के लिए ऋण ले रहा है। वह खेती के लिए ऋण लेरहा है अथवा विवाह शादी या अन्य अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेता है, इससे महाजन को कोई मतलब नहीं होता। महाजन सूद दर सूद लगाता है और शीघ्र ही वह रकम बढ़ कर बहुत बड़ी रकम हो जाती है।

इन महाजनों के अतिरिक्त ऐसे भी महाजन इस देश में उत्पन्न हो गए हैं जो एक स्थान में लेन-देन न करके एक विस्तृत क्षेत्र में लेन-देन करते हैं। वे या उनके मुनीम समय-समय पर गाँवो में आते रहते हैं और किसानों से लेन-देन करते हैं। उदाहरण के लिए पठान या काबुली सर्वत्र यह कार्य करते हैं। किश्तवाले उत्तर प्रदेश में, रोहिला मध्यप्रदेश में, गुसांई और नागा विहार और उड़ीसा में लेन-देन का कार्य करते हैं। यह लोग ऋण देकर कर्ज लेने वाले के अंगूठे का निशान अपनी वही पर ले लेते हैं। वे एक किसान को दस रुपये देते हैं और प्रति मास एक रुपया वसूल करते रहते हैं। इस प्रकार वे वर्ष में १२ रुपये वसूल कर लेते हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सूद की दर भिन्न है। सुरक्षित ऋण पर १२ प्रतिशत से ३७½ प्रतिशत तक सूद लिया जाता है। काबुली तथा अन्य महाजन पिछड़े प्रदेशों में तथा निर्धन गाँव वालों से अरक्षित ऋण पर इससे भी अधिक, ७५ प्रतिशत तक, ऋण लेते हैं। कहीं-कहीं महाजन के अतिरिक्त साख देने वाली कोई दूसरी संस्था नहीं होती इस कारण वह मनमाना सूद लेता है। यही नहीं, कभी-कभी महाजन किसान को धोखा देकर मनमानी रकम लिख कर उस पर अंगूठा लगवा लेता है। जब किसान थोड़ा-थोड़ा करके रुपया चुकाता है तो उसको नहीं चढ़ाता, कर्जदार से बहुत सी वस्तुएँ मुफ्त लेता है। कहीं-कहीं कर्जदार की स्थिति दास की भांति हो जाती है। वह अपने महाजन का दास बन कर उसकी सेवा करता है। महाजनी लेन-देन के इन्हीं दोषों के कारण प्रान्तीय सरकारों को लेन-देन का नियन्त्रण करने के लिए कानून (मनीलैंडर लाइसैन्स एक्ट) बनाने पड़े।

पिछले दिनों महाजनी कारबार कुछ कम होता जा रहा है क्योंकि प्रत्येक प्रान्त में किसान की ऋण से रक्षा करने के लिए कानून बन गए हैं, महाजन को अपना रुपया वसूल करने में कठिनाई होने लगी है।

इतने दोष होते हुए भी गाँवों में महाजन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, वही मुख्यत: ग्रामीण को साख देता है। किसान उससे अपना सम्बन्ध रखना चाहता है। महाजन की इस सर्वप्रियता के नीचे लिखे कारण हैं :—(१) वह प्रत्येक समय ऋण देने के लिए तैयार रहता है; (२) उसका लेन-देन का कारबार जटिल नहीं है, बहुत सादा है, किसान को केवल अंगूठा लगा कर रुपया मिल जाता है; (३) महाजन का अपने कर्जदार तथा उसके घर से पैतृक सम्बन्ध होता है, वह उसको भली भांति जानता है; (४) स्थानीय व्यक्ति होने के कारण वह अपने अनुभव के आधार पर ग्रामीणों को बिना किसी जमानत के ऋण दे सकता है, फिर भी उसको अधिक हानि नहीं उठानी पड़ती; (५) वह केवल खेती के लिए ही नहीं घरेलू खर्चों के लिए भी ऋण देता है; (६) वह सब प्रकार की साख देता है—लम्बे समय के लिए तथा थोड़े समय के लिए; (७) वह कर्जदार की आर्थिक स्थिति को गुप्त रखता है। इन्हीं कारणों से वह आज भी गाँवों में प्रिय है।

महाजन का ग्रामीण पर इतना अधिक प्रभाव होता है कि वह बहुत प्रकार से उसका शोषण करता है। वह केवल अधिक सूद ही नहीं लेता वरन् किसान की पैदावार को भी बहुत सस्ते दामों पर हथिया लेता है।

सरकार द्वारा दिए गए तकावी ऋण : भारतवर्ष में प्रान्तीय सरकारें किसानों को लम्बे समय तथा थोड़े समय के लिए तकावी देती हैं। लम्बे समय के लिए तकावी ऋण १८८३ के भूमि सुधार कानून (Land Improvement Loans Act) के अन्तर्गत दिया जाता है और थोड़े समय के लिए तकावी ऋण किसान ऋण कानून (Agriculturists Loan Act) के अन्तर्गत दिया जाता है। पहले कानून के अन्तर्गत भूमि का सुधार करने, कुआं खोदने या बाँध बनाने के लिए लम्बे समय के लिए ऋण दिया जाता है और दूसरे कानून के अन्तर्गत खेती-बारी के लिए —जैसे बीज, खाद, हल, बैल इत्यादि खरीदने के लिए—ऋण दिया जाता है। पहले कानून के अनुसार ऋण अधिक से अधिक ३५ वर्षों के लिए दिया जा सकता है किन्तु व्यवहार में बीस वर्षों से अधिक के लिए ऋण नहीं दिया जाता। दूसरे कानून के अन्तर्गत ऋण एक वर्ष या दो वर्षों के लिए दिया जाता है और फसल तैयार होने के उपरान्त वसूल कर लिया जाता है। इन दोनों कानूनों के अन्तर्गत सब प्रान्तीय सरकारों द्वारा दिए गए ऋण की रकम क्रमश: ३५ लाख और ६० लाख रुपए होती है। भारत जैसे विशाल देश में इतना कम ऋण लिया गया यह इस बात को सिद्ध करता है कि यह ऋण अधिक आकर्षक नहीं है और किसान सरकार द्वारा दी गई इस सुविधा का उपयोग नहीं करते। इसके नीचे लिखे मुख्य कारण हैं:—

(१) किसानों की आवश्यकता को देखते हुए ऋण बहुत कम दिया

जाता है।

(२) जब किसान ऋण के लिए प्रार्थना पत्र देता है तो उसे महीनों प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

(३) यद्यपि सूद कम लिया जाता है परन्तु तहसील के कर्मचारी जो ऋण देने का काम करते हैं वे किसान से रिश्वत और नजराना लेकर ही उसके प्रार्थनापत्र पर सिफारिश लिखते हैं। अतएव किसान को सूद के अतिरिक्त कुछ और भी व्यय करना पड़ता है।

(४) ऋण को वसूल करने में बड़ी कठोरता का व्यवहार किया जाता है। कभी-कभी किसान को महाजन से ऋण लेकर तक़ावी का रुपया चुकाना पड़ता है।

(५) इसके अतिरिक्त यह जानकारी कि तक़ावी किस प्रकार ली जा सकती है, अधिकांश किसानों को नहीं है; इस कारण भी तक़ावी ऋण का भारतीय किसान उपयोग नहीं करते।

(६) ऋण केवल खेती के लिए दिया जाता है; अनुत्पादक कार्यों के लिए नहीं दिया जाता।

यदि ऋण का प्रबंध ठीक तरह से हो, ऋण लेने वालों को अधिक समय तक प्रतीक्षा न करनी पड़े, उसे तहसील के अधिकारियों को रिश्वत और नज़राना न देना पड़े, यदि फसल नष्ट हो जावे तो वसूली रोक दी जावे, तक़ावी की वसूली में कम कठोरता बरती जावे, तक़ावी किस प्रकार मिलती है इसकी जानकारी किसानों को करा दी जावे, तथा सरकार यथेष्ट रकम ऋणस्वरूप देने के लिए रक्खे तो तक़ावी का अधिक उपयोग हो सकता है, अन्यथा तक़ावी का ग्राम्य साख में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

अभी कुछ प्रान्तों ने इन तक़ावी कानूनों में संशोधन करके उनके क्षेत्र में वृद्धि की है। मदरास ने १६३५ में और उत्तर प्रदेश ने १६३४ में १८८३ के भूमि सुधार तक़ावी कानून में इस आशय का संशोधन कर दिया है कि सरकार पुराने ऋण को चुकाने के लिए भी तक़ावी ऋण दे सकती है।

कृषि सम्बंधी साख : कृषि सम्बन्धी साख का अध्ययन करने के लिए पिछले वर्षों में बहुत सी कमेटियाँ बिठाई गईं। अभी कुछ समय हुआ प्रोफेसर गैडगिल की अध्यक्षता में एक कमेटी कृषि सम्बन्धी साख का पुनः अध्ययन करने के लिए बिठाई गई। गैडगिल कमेटी ने ग्रामीण ऋण तथा कृषि सम्बन्धी साख का गहरा अध्ययन किया और इस सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें सरकार के सामने रक्खीं।

गैडगिल कमेटी का मत है कि भारत में कृषि साख के लिए तब तक कोई उचित और उपयोगी प्रणाली नहीं निकाली जा सकती जब तक कि कृषि के धन्धे की

सभी आर्थिक समस्याओं को हल न किया जावे। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि खेती और उद्योग-धन्धों में जनसंख्या का उचित विभाजन हो, आर्थिक जोतों पर खेती की जावे, सिंचाई और यातायात के साधन उपलब्ध किए जावें तथा खेती के साथ सहायक धन्धों का भी समावेश किया जावे। इसके अतिरिक्त इस बात की भी आवश्यकता है कि ग्रामीण ऋण को भी दूर किया जावे क्योंकि उसका भार खेती पर बहुत अधिक है और उससे किसान की उत्पादन शक्ति कम होती है।

गैडगिल कमेटी का मत है कि भारत के कुछ प्रदेशों में समय समय पर वर्षा की कमी अथवा बहुतायत से फसल नष्ट हो जाती है। ऐसे प्रदेश में फसलें नष्ट हो जाने पर खेती के धन्धे को पूंजी की आवश्यकता होगी। कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ फसलें एक नियमित समय के अन्तर पर लगातार नष्ट हो जाती हैं। ऐसे प्रदेश के लिए इस बात की आवश्यकता होगी कि उस प्रदेश के आर्थिक ढांचे में मूलभूत परिवर्तन किया जावे और वहाँ के आर्थिक ढाँचे का इस प्रकार नव निर्माण किया जावे कि वहाँ का किसान आर्थिक दृष्टि से दिवालिया न रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय ग्रामवासी का जो घाटे का अर्थशास्त्र है उसको संतुलित अर्थशास्त्र में बदलना होगा, तभी कृषि सम्बन्धी साख का स्थायी प्रबन्ध हो सकेगा। कृषि सम्बन्धी साख का उचित प्रबंध करने के लिए गैडगिल कमेटी ने नीचे लिखी सिफारिशें की हैं :—

(१) महाजनों और साहूकारों के लेन देन को नियंत्रित किया जावे। गैडगिल कमेटी का कहना है कि आज ग्रामीण साख का प्रबन्ध करने वाली संस्थाओं में महाजन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः उसको निकट भविष्य में हटाया नहीं जा सकता। परन्तु महाजन बहुत अधिक सूद लेता है तथा अन्य प्रकार से कर्जदार का शोषण करता है अतएव इस बात की आवश्यकता है कि उसका नियंत्रण किया जावे।

(२) देश की आवश्यकता को देखते हुए अधिकाधिक साख देने वाली संस्थाओं की स्थापना की आवश्यकता है। साख देने वाली संस्थाओं को पनपाने के लिए यह आवश्यक है कि खेती की पैदावार की बिक्री का कानून द्वारा नियंत्रण किया जाय और लाइसेंस प्राप्त गोदामों को स्थापित किया जावे जिनकी रसीद विनिमय-साध्य पुर्जे के रूप में साख देने वाली संस्थाएँ स्वीकार करें। यदि ऐसा होगा तो व्यापारिक बैंक भी खेती की पैदावार की बिक्री के लिए अधिकाधिक आर्थिक सहायता प्रदान कर सकेंगे। उदाहरण के लिए यदि एक किसान १०० मन गेहूं गोदाम में रखकर एक रसीद ले लेता है और उस रसीद को जिसके पक्ष में बेचान करदे वही उस गेहूँ का मालिक हो जावे तो उस रसीद को किसी भी बैंक के पास रखकर उसकी जमानत पर थोड़े समय के लिए ऋण भी ले सकता है।

(३) गैडगिल कमेटी का मत था कि सहकारी साख आन्दोलन को ४६ वर्ष

हो गए किन्तु अभी तक वह इस योग्य नहीं हुआ कि ग्रामीण साख का उचित प्रबन्ध कर सके। अतएव इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि एक नई साख संस्था को जन्म दिया जावे।

(४) गैडगिल कमेटी का मत था कि गाँवों में साख देने के लिए एक अखिल भारतीय कृषि साख कारपोरेशन स्थापित की जावे जो किसानों के लिए साख का प्रबन्ध करे। यह कारपोरेशन अपनी शाखायें स्थापित करे और उनके द्वारा साख देने का कार्य करे। सहकारिता योजना समिति (Cooperative Planning Committee) तथा अन्य सहकारिता कमेटियाँ और सहकारिता आन्दोलन में कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं ने गैडगिल कमेटी के इस मत का विरोध किया। उनका मत था कि यदि सहकारी साख समितियों, सेन्ट्रल बैंकों, तथा प्रान्तीय बैंकों को अधिक सबल बनाया जावे और उनको अधिक सहायता दी जावे तो सहकारी समितियाँ ही कृषि साख का उचित प्रबन्ध कर सकती हैं।

भारत सरकार ने गैंडगिल कमेटी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और ग्राम्य कारपोरेशन को स्थापित करने के लिए एक बिल उपस्थित किया है।

ग्राम्य अर्थ कारपोरेशन बिल (Rural Finance Corporation Bill): कारपोरेशन समस्त भारत में कृषि के धन्धे को आर्थिक सहायता प्रदान करेगी। वह भिन्न स्थानों पर अपनी शाखाएँ या एजेंसियाँ स्थापित करेगी। कारपोरेशन सहकारी समितियों को भी अपना एजेंट बनावेगी। आवश्यकता पड़ने पर प्रान्तीय कृषि साख कारपोरेशन भी स्थापित करेगी। कारपोरेशन सभी प्रान्तीय सहकारी बैंकों की केन्द्रीय संस्था का काम भी कर सकती है।

पूँजी : कारपोरेशन की पूंजी ५ करोड़ रुपए होगी। प्रत्येक हिस्से का मूल्य ५,००० रु० होगा। यदि कारपोरेशन दिवालिया हो जावे तो सरकार हिस्सा पूंजी की अदायगी की गारंटी देगी। सरकार एक न्यूनतम लाभ की दर निर्धारित करेगी और उतने लाभ की गारंटी हिस्सेदारों को देगी। इस कारपोरेशन के नीचे लिखे हिस्सेदार होंगे :—

(१) केन्द्रीय सरकार—एक करोड़ रुपए।
(२) रिजर्व बैंक—एक करोड़ रुपए।
(३) शिड्यूल बैंक—एक करोड़ रुपए।
(४) सहकारी बैंक—एक करोड़ रुपए।
(५) चैम्बर आव कामर्स, ईस्ट इण्डिया काटन एसोसियेशन तथा बीमा कम्पनी इत्यादि—एक करोड़ रुपए।

कार्यशील पूंजी (Working Capital) प्राप्त करने के लिए कारपोरेशन

ऋणपत्र (डिबेंचर) निकाल सकेगी जिनकी पूंजी और सूद की अदायगी की गारंटी सरकार देगी। सूद की दर सरकार कारपोरेशन के संचालक बोर्ड की सलाह से निश्चित करेगी।

कारपोरेशन अपने हिस्सा पूंजी के अधिक से अधिक आठ गुने ऋणपत्र निकाल सकेगी अर्थात् ४० करोड़ रुपए से अधिक के वह ऋणपत्र नहीं निकाल सकेगी।

कारपोरेशन अपनी हिस्सा पूंजी की दुगनी रकम अर्थात् दस करोड़ रुपए तक डिपाजिट ले सकेगी। जमा पाँच वर्ष या उससे अधिक समय के ही लिए ली जा सकेंगी।

साख : कारपोरेशन मध्य काल तथा लम्बे काल के लिए अचल सम्पत्ति, जैसे इमारत, भूमि तथा यन्त्रों की जमानत पर उसके ५० प्रतिशत मूल्य तक ऋण दे सकेगी। कारपोरेशन फसलों, गोदाम की रसीद पर तथा अन्य चल जायदाद की जमानत पर ऋण दे सकेगी। अल्पकालीन साख खेती के कार्यों, दूध तथा अण्डे के धन्धों को करने के लिए अथवा खेती की पैदावार की बिक्री के लिए दी जावेगी।

अल्पकालीन साख अधिक से अधिक १८ महीने के लिए दी जावेगी। मध्यकालीन साख १८ महीने से ७ वर्ष तक के लिए होगी। मध्यकालीन साख मशीनें खरीदने के लिए, खेती के लिए औजार तथा पशुओं को खरीदने के लिए, भूमि का सुधार करने, इमारत बनाने, खेती के लिए मशीन तथा यन्त्र खरीदने या किसी खेती से सम्बन्धित धन्धे को स्थापित करने के लिए दी जावेगी। मध्यकालीन साख की कम से कम रकम दस हजार रुपये और अधिक से अधिक रकम ५०,००० रु० होगी अर्थात् किसी एक व्यक्ति को कम से कम दस हजार और अधिक से अधिक पचास हजार रुपये का ऋण दिया जा सकेगा।

लम्बे समय के लिए ऋण नीचे लिखे उद्देश्यों के लिए दिया जावेगा :—

भूमि को खरीदने के लिए, भूमि में स्थायी सुधार करने के लिए, फार्म गृह बनाने के लिए और खेती से सम्बन्धित किसी धंधे को स्थापित करने के लिए।

दीर्घकालीन साख ७ वर्षों से ३० वर्षों तक के लिए दी जावेगी। किसी एक व्यक्ति को लम्बे समय के लिए कम से कम २५ हजार रुपये और अधिक से अधिक एक लाख रुपये दिए जावेंगे। यह न्यूनतम और अधिकतम ऋण देने की सीमा "सहकारी समितियों" तथा "ऋण लेने वाले समूहों" के बारे में लागू नहीं होगी। बहुत कम कर्ज़ लेने वाले सहकारी साख समितियों से ही कर्ज लेते रहेंगे क्योंकि वे सम्भवतः २५ हज़ार रुपये कभी भी कर्ज नहीं ले सकते।

जब तक कि नीचे लिखी शर्तें पूरी न हो जावें ऋण नहीं दिया जावेगा :—

[१] अचल सम्पत्ति को बन्धक रख दिया जावे, अथवा
[२] चल सम्पत्ति को बन्धक रख दिया जावे, अथवा
[३] फसल या पशु इत्यादि को बन्धक रख दिया जावे।

कारपोरेशन केवल सहकारी समितियों, ऋण लेने वाले समूहों तथा व्यक्तिगत किसानों तथा खेती के धन्धे को साख देने वाली संस्थाओं से ही कारबार करेगी।

सहकारिता आन्दोलन को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से सहकारी समितियों तथा "ऋण लेने वाले समूहों" के सदस्यों से दीर्घकालीन ऋण पर एक प्रतिशत तथा थोड़े समय और मध्यकालीन ऋण पर डेढ़ प्रतिशत सूद कम लिया जावेगा।

इस विधान में एक कमी है। सहकारी साख समिति तथा ऋण लेने वाले समूहों के सदस्यों को एक सी सुविधा दी गई है। इसका परिणाम यह होगा कि कुछ व्यक्ति मिल कर एक समूह बनाकर वही सुविधा प्राप्त कर लेंगे जो सहकारी समिति को प्राप्त है।

कारपोरेशन सहकारी समितियों तथा अन्य कृषि सम्बन्धी संस्थाओं के हिस्सों तथा ऋणपत्रों को अभिगोपन (Underwrite) करेगी।

प्रबंध : कारपोरेशन का प्रबंध एक बोर्ड आव डायरैक्टर्स करेगा। बोर्ड एक कार्यकारिणी समिति तथा एक मैनेजिंग डायरैक्टर चुनेगा जो कि कारपोरेशन का संचालन करेंगे।

बोर्ड में ११ डायरैक्टर होंगे। उनकी नियुक्ति इस प्रकार होगी :—

(अ) दो डायरैक्टर केन्द्रीय सरकार मनोनीत करेगी।
(क) दो डायरैक्टर रिजर्व बैंक मनोनीत करेगा।
(ख) दो डायरैक्टर कारपोरेशन के हिस्सेदार शिड्यूल बैंक चुनेंगे।
(ग) दो डायरैक्टर सहकारी संस्थाओं द्वारा चुने जावेंगे।
(घ) दो डायरैक्टर अन्य हिस्सेदारों द्वारा चुने जावेंगे।
(ङ) एक मैनेजिंग डायरैक्टर केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी। पहली बार मैनेजिंग डायरैक्टर नियुक्त करने में केन्द्रीय सरकार रिजर्व बैंक आव इंडिया से राय लेगी और बाद को कारपोरेशन के बोर्ड आव डायरैक्टर्स से राय लिया करेगी।

ग्रामीण ऋण

भारतवर्ष में ग्रामीण ऋण ग्राम्य अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है। अधिकांश ग्रामीण आज ऋणी हैं। भारतीय ग्रामीण के सम्बन्ध में यह कहावत बिलकुल सच है कि वह ऋणी जन्म लेता है, जीवन भर ऋणी रहता है, ऋणी मरता है और अपने पुत्र-पौत्रों के लिए ऋण छोड़ जाता है। बहुतेरे तो गले तक कर्ज में डूब गए हैं। कर्ज इतना अधिक हो गया है कि वह उनकी

परिच्छेद १०

सहकारिता आन्दोलन

(Cooperative Movement)

सहकारी साख समितियाँ

(Cooperative Credit Societies)

आधुनिक आर्थिक संगठन में साख (Credit) का अत्यन्त महत्व है। बड़े से बड़ा व्यवसायी और छोटे से छोटा कारीगर भी बिना साख के अपना कार्य नहीं चला सकता। बड़े-बड़े व्यवसायी आरम्भ में लाखों रुपये लगाकर मिल खड़ी करते हैं। जब मिल चलने लगती है और तैयार माल बिकने लगता है तब कहीं मिल-मालिक को रुपया मिलता है। व्यवसायियो को औद्योगिक बैंकों से आरम्भ में पूँजी मिल जाती है और मजदूरां के वेतन इत्यादि के लिए वे व्यापारिक बैंको से पूँजी उधार ले लेते हैं। व्यापारी तथा दलालों को, जो तैयार माल का अथवा खेती-बारी की पैदावार का व्यापार करते हैं, माल लेते समय तो उन्हें उसका मूल्य देना पड़ता है परन्तु वह माल बहुत दिनों के बाद बिकता है। यदि उन्हें कहीं से साख न मिले तो उनका धन्धा चौपट हो जावे। अस्तु, व्यापारिक बैंक उन्हें साख देने का प्रबन्ध करते हैं। जो व्यापारी विदेशों से व्यापार करते हैं उन्हें एक्सचेंज बैंकों (विनिमय बैंकों) से साख मिलती है। साख के साथ जोखिम भी है। जो बैंक या व्यक्ति किसी को ऋण देता है वह पूँजी के मारे जाने की जोखिम भी उठाता है। अस्तु; बिना जमानत के साख नहीं दी जाती, साख और जमानत का साथ है। एक निर्धन किसान अथवा छोटा कारीगर जिसके पास अपनी निजी पूँजी नहीं होती, इन बैंको से ऋण नहीं पा सकता, क्योंकि उसके पास अच्छी जमानत नहीं होती। बड़े-बड़े व्यापारियों और व्यवसायियो के पास निजी पूँजी यथेष्ट होती है। इस कारण वे बैंकों को उचित जमानत दे सकते हैं।

निर्धन किसानो के पास इतनी पूँजी नहीं होती कि उससे उनकी साख हो। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई और भी उपस्थित होती है। उनकी पूँजी की माँग इतनी थोड़ी होती है कि बड़े व्यापारिक बैंक ऐसा काम लेना पसन्द ही नहीं करते। मान लीजिये कि एक हजार किसान जो कि भिन्न-भिन्न गाँवों में रहते हैं, बैंक से फसल बोने

के समय कुल पचास हजार रुपया उधार लेना चाहते हैं। यदि बैंक इन किसानों को ऋण देना स्वीकार करे तो कई कर्मचारी उनकी हैसियत जाँच करने के लिए नियुक्त करने होंगे कि जिससे उन किसानों की हैसियत, ईमानदारी और साख की योग्यता मालूम हो सके। प्रत्येक बैंक कर्ज देने से पूर्व कर्ज लेने वाले की आर्थिक स्थिति, वह ईमानदार है या नहीं, उसका कारबार कैसा चल रहा है इत्यादि बातों की पूरी जाँच करता है, तब कहीं कर्ज देता है। बड़े-बड़े व्यापारियों की आर्थिक स्थिति की जाँच सरलता से हो सकती है। किन्तु भिन्न-भिन्न गाँवों में बिखरे हुए किसानों की आर्थिक स्थिति की जांच करना कठिन ही नहीं व्यय-साध्य भी है। इसके अतिरिक्त एक हजार किसानों का हिसाब रखना तथा उनसे समय पर रुपया वसूल करना भी कठिन और व्यय-साध्य होता है। यदि एक व्यापारी पचास हजार रुपये उधार लेता है तो बैंक उसकी स्थिति की जांच भी कर लेता है और उसके हिसाब के रखने तथा उससे रुपया वसूल करने में न तो अधिक कठिनाई है, और न अधिक व्यय ही करना पड़ता है। इन्हीं कारणों से किसान, छोटे कारीगर, तथा अन्य निर्धन लोग इन बड़े बैंकों से कर्ज नहीं पा सकते। किन्तु पूंजी की आवश्यकता तो किसान और कारीगर को भी होती है। उनकी आवश्यकता को महाजन और साहूकार पूरा करते हैं।

महाजन किस प्रकार किसान और कारीगर का दोहन करते हैं, महाजन का कर्जदार बन कर किस प्रकार किसान और कारीगर उनका चिर-दास बन जाता है, यह तो पहले ही लिखा जा चुका है। यह स्थिति केवल भारतवर्ष में ही नहीं है, जहां-जहां किसानों और छोटे कारीगरों के लिए विशेष साख का प्रबन्ध नहीं किया गया, वहां-वहां किसान और कारीगर साहूकार का क्रीत दास बन गया। किसान और कारीगर को इस आर्थिक दासता से मुक्त करने के लिए और उसे उचित मूल्य पर पूंजी देने का प्रबन्ध करने के लिए सर्व प्रथम जर्मनी में सहकारी साख आन्दोलन का जन्म हुआ। जर्मनी में रैफीसन और शुल्ज नामक दो सज्जनों को निर्धन किसान और कारीगरों की अत्यन्त शोचनीय आर्थिक स्थिति ने आकर्षित किया और दोनों ने ही लगभग एक ही समय देश के भिन्न-भिन्न भागों में दो प्रकार की सहकारी साख समितियाँ स्थापित कीं।

भारत में सहकारिता आन्दोलन का आरम्भ : ग्रामीण ऋण के परिच्छेद में हम यह बतला चुके हैं कि ऋण की समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से सरकार ने सहकारी साख समितियों को स्थापित करने का निश्चय किया था। जर्मनी में साख समितियों की सफलता से आकर्षित होकर मदरास सरकार ने श्री फ्रेडरिक निकलसन को जर्मनी में सहकारिता आन्दोलन का अध्ययन करने के लिए भेजा। निकलसन ने जर्मनी के आन्दोलन का अध्ययन करने के उपरान्त एक रिपोर्ट लिखी और उसमें यह बतलाया कि यदि भारतीय किसान की आर्थिक दशा को सुधारना हो तो देश में

"रैफीसन को ढूँढ़ निकालो।" इसके उपरान्त उत्तर प्रदेश के श्री ड्यूपरने को जर्मनी और इटली के सहकारिता आन्दोलन का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। सरकार ने एक कमेटी इस विषय पर विचार करने के लिए बैठाई। इस कमेटी की सम्मति के अनुसार १९०४ में प्रथम सहकारिता ऐक्ट पास हो गया।

१९०४ का कानून : २५ मार्च सन् १९०४ को भारतवर्ष में सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस कानून के अनुसार किसानों, गृह-उद्योग-धन्धों में लगे कारीगरों तथा नीची श्रेणी के लोगों के लिए साख समितियों के खोलने का आयोजन किया गया। ऐक्ट संक्षेप में इस प्रकार था :—

"अठारह वर्ष के प्रायः दस मनुष्य सहकारी साख-समिति स्थापित कर सकते हैं। सदस्यों का एक गाँव या स्थान का होना आवश्यक है, जिससे वे एक दूसरे के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकें।

समितियाँ दो प्रकार की होंगी : ग्राम समितियाँ और नगर समितियाँ। ग्राम समिति में ८० प्रतिशत सदस्यों का किसान होना और नगर समितियों में ८० प्रतिशत कारीगरों तथा अन्य पेशे वालों का होना आवश्यक है। ग्राम समितियों के सदस्यों का दायित्व अपरिमित होगा, किन्तु नगर समितियों का दायित्व यदि वे निश्चित कर लें तो परिमित भी हो सकता है। ग्राम समिति का सारा लाभ सुरक्षित कोष (Reserve Fund) में जमा करना आवश्यक है। हाँ, जब सुरक्षित कोष एक निश्चित रकम से ऊपर पहुँच जावे तो तीन चौथाई लाभ सदस्यों में बाँटा जा सकता है। किन्तु उसके लिए प्रान्तीय सरकार से आज्ञा लेनी होगी। नगर समितियों में लाभ बांटने पर कोई भी रुकावट नहीं लगाई गई। हाँ, यह नियम अवश्य बनाया गया कि २५ प्रतिशत लाभ सुरक्षित कोष में जमा किया जावे। समितियाँ व्यक्तिगत जमानत पर रुपया दे सकती हैं परन्तु चल सम्पत्ति पर रुपया नहीं दे सकतीं। समितियों के आय-व्यय की जाँच रजिस्ट्रार द्वारा भेजे हुए आय-व्यय परीक्षकों के द्वारा होगी। ऐक्ट ने समितियों को कुछ सुविधाएँ भी प्रदान कीं। समितियों के लाभ पर आय-कर नहीं लिया जाता; समितियों को स्टाम्प फीस नहीं देनी पड़ती और किसी भी सदस्य के व्यक्तिगत ऋण के लिए उसका (समिति में) हिस्सा कुर्क नहीं कराया जा सकता।"

प्रथम सहकारिता कानून पास होते ही सब प्रांतों में प्रान्तीय सरकारों ने रजिस्ट्रार नियुक्त कर दिये, जिन्होंने प्रान्तों में सहकारिता आन्दोलन की देखभाल आरम्भ कर दी। रजिस्ट्रार आरम्भ में समितियों का संगठन, उनकी देखभाल तथा उनको रजिस्टर करता था। किन्तु थोड़े ही समय के उपरान्त रजिस्ट्रार तथा अन्य कार्यकर्ताओं को ऐक्ट के दोषों का अनुभव होने लगा। कई बार सब प्रान्तों के सह-

कारिता विभागों के सम्मेलन हुए और उन्होंने ऐक्ट के संशोधन की आवश्यकता बतलाई। १९०४ के ऐक्ट के अनुसार साख समितियों (Credit Societies) के रजिस्टर करने की तो व्यवस्था हो गई, किन्तु ग़ैर साख समितियों, सेंट्रल सहकारी बैंक, बैंकिंग यूनियन तथा सुपरवाइजिंग यूनियन के रजिस्टर करने की व्यवस्था नहीं हुई। १९०४ के उपरान्त जब देश में साख समितियों की स्थापना होने लगी, उसी समय यह आवश्यक समझा गया कि साख समितियों का निरीक्षण करने के लिए तथा उनको पूंजी देने के लिए सेन्ट्रल बैंक तथा बैंकिंग यूनियन की स्थापना की जावे, क्योंकि साख समितियों के पास सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यथेष्ट पूँजी नहीं थी। सेन्ट्रल बैंकों की स्थापना कम्पनी ऐक्ट के अनुसार ही हो सकती थी न कि सहकारिता ऐक्ट के अनुसार। साथ ही, इस बात का भी अनुभव हुआ कि देश को ग़ैर-साख समितियों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए, खेती की पैदावार को उचित मूल्य पर बेचने के लिए, तथा उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर वस्तुएँ देने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना आवश्यक प्रतीत हुई। किन्तु १९०४ के कानून में गैर-साख समितियों के संगठन के लिए कोई भी सुविधा न थी। इन सब दोषों को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि एक नया कानून बनाया जावे। अस्तु, सन् १९१२ में दूसरा ऐक्ट बनाया गया जो भारतवर्ष में अब तक प्रचलित है।

यद्यपि अब लगभग सभी प्रान्तों ने अपने पृथक सहकारिता कानून बना लिए हैं, किन्तु वे मूलतः १९१२ के भारतीय कानून पर ही आश्रित हैं। केवल अपनी सुविधा के लिए प्रान्तों ने कहीं-कहीं थोड़ी हेर-फेर करली है। अस्तु; उनमें और १९१२ के भारतीय सहकारिता कानून में कोई विशेष भेद नहीं है।

१९१२ का सहकारिता कानून : १९१२ के ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक प्रान्त सहकारिता आन्दोलन की देखभाल कर सकता है। रजिस्ट्रार का कार्य केवल समितियों की देखभाल करना ही नहीं है, वरन् उनका निरीक्षण तथा उनके आय-व्यय की जाँच करना भी है। यदि वास्तव में देखा जावे तो सहकारिता आन्दोलन का सर्वेसर्वा रजिस्ट्रार ही होता है। सहकारिता आन्दोलन के एक प्रसिद्ध विद्वान् के शब्दों में वह आन्दोलन का मित्र, पथ-प्रदर्शक तथा उपदेशक है। वास्तव में रजिस्ट्रार सहकारी समितियों को जन्म देने वाला, उनका पालन-पोषण करने वाला और उनको नष्ट करने वाला है। रजिस्ट्रार की अधीनता में डिप्टी रजिस्ट्रार से लेकर आय-व्यय निरीक्षकों (आडिटरों) तक बहुत से कर्मचारी हैं, जो आन्दोलन की देखभाल करते रहते हैं। (धारा ३)

रजिस्ट्रार को पंचायत के भी अधिकार प्राप्त हैं। समितियों के झगड़ों को या तो

वह स्वयं सुन कर निर्णय दे देता है या और किसी को नियुक्त कर देता है। जब कोई समिति टूट जाती है तो रजिस्ट्रार लिक्वीडेटर (Liquidato1), हिसाब पटाने वाला, नियुक्त कर देता हैं।

ऐक्ट के अनुसार कोई भी समिति जो अपने सदस्यों की आर्थिक उन्नति का प्रयत्न सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार करने के लिए स्थापित की गई हो रजिस्टर की जा सकती है। बड़े-बड़े व्यवसायी और पूंजीपति इस ऐक्ट की आड़ में अपने धन्धों का संगठन सहकारी समितियों के रूप में न कर लें इसलिए वही सहकारी समितियाँ रजिस्टर की जा सकती हैं जिनके सदस्य किसान, कारीगर अथवा छोटी हैसियत के आदमी हों। (धारा ४)

समितियों के सदस्यों का दायित्व परिमित (Limited Liability) भी हो सकता है तथा अपरिमित (Unlimited Liability) भी। यदि समिति साख (Credit) का काम करती है और उसके सदस्य समितियाँ न होकर व्यक्ति हैं और अधिकांश सदस्य किसान हैं तो ऐसी साख समिति के सदस्यों का दायित्व अपरिमित होगा। अपरिमित दायित्व का अर्थ यह है कि प्रत्येक सदस्य केवल अपना कर्ज ही चुकाने का जिम्मेवार नहीं है, वरन् उसको समिति का सारा कर्ज चुकाना होगा। उदाहरण के लिए मान लिया जावे कि अनन्तपुर नामक ग्राम में एक सहकारी साख समिति स्थापित की गई जिसमें सदस्यों का दायित्व अपरिमित है। कालान्तर में यदि वह साख समिति दिवालिया हो जाती है और उसकी लेनी (Assets) से देनी (Liabilities) अधिक हो जाती हैं तो उस समय समिति का कोई भी लेनदार (Creditor) समिति के किसी एक सदस्य से अपना सारा ऋण वसूल कर सकता है। मान लीजिए कि अनन्तपुर साख समिति के और सब सदस्य अत्यन्त निर्धन हैं, केवल दो या तीन सदस्य धनी हैं, तो समिति के सारे लेनदार उन सदस्यों से अपना सारा रुपया वसूल कर सकते हैं और उन सदस्यों को अपनी सारी सम्पत्ति देकर भी समिति का ऋण चुकाना होगा।

यदि सहकारी समिति ऐसी है कि उनके सदस्य व्यक्ति भी है और समितियाँ भी हैं, या फिर समिति के सदस्य अधिकतर किसान नहीं हैं, तो उस समिति के सदस्यों का दायित्व उनके हिस्सों के मूल्य से अधिक नहीं होगा। यदि किसी सदस्य ने किसी परिमित दायित्व वाली समिति में दस रुपये का हिस्सा लिया है और उसने अपने हिस्से का पूरा मूल्य चुका दिया है तो उसको किसी दशा में भी अधिक कुछ नहीं देना होगा। (धारा ४)

इस आशंका को दूर करने के लिए कि कहीं कोई व्यक्ति समिति पर अपना एकाधिपत्य न जमा ले, यह नियम बना दिया गया है कि परिमित दायित्व वाली

ामितियों में कोई भी एक सदस्य समिति की कुल पूंजी की २० प्रतिशत पूंजी के हिस्से यदि कोई समिति चाहे तो उपनियम बनाकर इससे भी कम रकम नियत कर सकती है) या एक हजार रुपये के हिस्से (इनमें जो रकम भी कम हो) खरीद सकता है। बम्बई प्रान्तीय सहकारिता कानून के अनुसार यह रकम ३ हजार रुपये तथा गृह निर्माण समितियों के लिए दस हजार रुपये निश्चित की गई हैं। किन्तु यह पाबन्दी केवल व्यक्तियों के लिए है। समितियों के लिए कोई भी पाबन्दी नहीं है। सदस्य समितियाँ चाहे जितने मूल्य के हिस्से खरीद सकती हैं। (धारा ५)

जिन समितियों के सदस्य व्यक्ति हैं, वे तभी रजिस्टर की जा सकती हैं; जब कि नीचे लिखी बातें पूरी हों। (धारा ६)

(क) समिति के कम से कम दस सदस्य हों और उनकी आयु १८ वर्ष से कम न हो।

(ख) यदि समिति साख का काम करना चाहती हो तो सदस्यों का एक ही गांव, समीपवर्ती गांवों के समूह, अथवा एक कस्बे का होना आवश्यक है। यदि सदस्य एक ही स्थान के निवासी नहीं हैं तो उनका एक ही जाति, पेशे अथवा कौम का होना आवश्यक है। किन्तु रजिस्ट्रार को यह अधिकार है कि यदि वह चाहे तो ऐसी समिति भी रजिस्टर कर ले जिनमें भिन्न-भिन्न जातियों के सदस्य हों।

(ग) समिति का ध्येय अपने सदस्यों की आर्थिक स्थिति को सहकारिता के द्वारा सुधारना होना चाहिए।

जिन समितियों के सदस्य और समितियां भी हैं, और व्यक्ति भी हैं उनके लिए यह शर्तें लागू नहीं हैं।

जिन समितियों के केवल व्यक्ति ही सदस्य हों उनकी रजिस्ट्री के लिए कम से कम दस व्यक्तियों को अपने हस्ताक्षर करके रजिस्ट्रार को प्रार्थना-पत्र देना चाहिए। जिन समितियों में व्यक्ति तथा समितियाँ दोनों ही हो उनकी रजिस्टरी के लिए समितियों के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होना आवश्यक हैं। प्रार्थना-पत्र के साथ ही समिति के उपनियमों को भी भेजना चाहिए। (धारा ८)। जब रजिस्ट्रार को यह निश्चय हो जाता है कि सब कार्य नियमपूर्वक हुआ है तो वह समिति को रजिस्टर कर लेता है और रजिस्ट्री का प्रमाण-पत्र दे देता है। (धारा ६ और १०)। यदि रजिस्ट्रार किसी कारण वश समिति को रजिस्टर करने से इनकार करता है तो समिति के सदस्य दो मास के अन्दर प्रान्तीय सरकार से इस सम्बन्ध में अपील कर सकते हैं। (धारा ६)

जो समितियां परिमित दायित्व वाली होंगी, उनके नाम के आगे लिमिटेड लिखा रहेगा। और रजिस्ट्रार किन्हीं दो समितियों को एक ही नाम न रखने देगा। समिति का सदस्य वही व्यक्ति होगा जो या तो समिति के रजिस्टर किये जाने के समय

हस्ताक्षर करने वालों में से हो अथवा उपनियमों के द्वारा बनाया गया हो। भारतवर्ष के कुछ प्रान्तों में ऐसी समितियाँ हैं जिनमें हिस्से हैं। कहीं-कहीं हिस्से नहीं भी होते केवल प्रवेश फीस होती है।

सब प्रकार की सहकारी समितियों में एक व्यक्ति का एक ही वोट होता है। सहकारी समितियों में हिस्सों के मूल्य के अनुपात में वोट देने का अधिकार नहीं होता। जब कोई समिति किसी दूसरी समिति की सदस्य होती है तो वह अपने किसी प्रतिनिधि को उस समिति के कार्य में भाग लेने भेजती है। (धारा १३)

भूतपूर्व सदस्य, सदस्य न रहने के दो वर्ष उपरान्त तक अपरिमित दायित्व वाली साख समिति के ऋण के लिए ही उत्तरदायी होता है। वह केवल उस समय तक के लिये हुए ऋण के लिए ही उत्तरदायी होता हैं जब तक कि वह सदस्य था। (धारा २३)

स्वर्गीय सदस्य की सम्पत्ति अथवा उसके उत्तराधिकारी एक वर्ष तक मृत सदस्य के व्यक्तिगत ऋण को चुकाने के लिए उत्तरदायी हैं। (धारा २४)

समिति के हिस्से स्वतन्त्रतापूर्वक बेचे नहीं जा सकते। समिति के हिस्सों को बेचने के विषय में कुछ प्रतिबन्ध लगाये गए हैं। अपरिमित दायित्व वाली समितियों का कोई सदस्य तब तक अपना हिस्सा दूसरे को नहीं दे सकता जब तक उसको हिस्सा लिये एक वर्ष न हो गया हो। फिर भी उसे हिस्सा समिति को अथवा समिति के किसी सदस्य को देना होगा। किसी बाहरी आदमी को वह हिस्सा नहीं बेच सकता। (धारा १४)

रजिस्टर्ड समितियों को अपना आय-व्यय रजिस्ट्रार द्वारा निश्चित किये हुये ढंग पर रखना होता है और रजिस्ट्रार द्वारा मनोनीत किया हुआ आय-व्यय निरीक्षक (आडिटर) हिसाब की जांच करता है। (धारा १८)

सहकारी समितियों को कानून से निम्नलिखित सुविधाए प्राप्त हैं :—

यदि समिति ने किसी वर्तमान सदस्य अथवा भूतपूर्व सदस्य को बीज अथवा खाद उधार दी है, अथवा बीज और खाद मोल लेने के लिए रुपया उधार दिया है तो समिति को उस रुपये अथवा खाद और बीज के द्वारा उत्पन्न की हुई फसल से अपना रुपया वसूल करने का प्रथम अधिकार होगा। यदि वह सदस्य और किसी का भी कर्जदार है तो वह लेनदार उस फसल को, जो समिति के बीज या खाद से पैदा की गई है, कुर्क नहीं करवा सकता। इसी प्रकार यदि समिति ने सदस्यों को बैल, चारा, खेती-बारी तथा उद्योग-धन्धों में काम आने वाले यन्त्र और उद्योग-धन्धों के लिए कच्चा माल उधार दिया है, अथवा इन वस्तुओं को खरीदने के लिए रुपया उधार दिया है तो इन वस्तुओं पर तथा उस कच्चे माल से तैयार कि हुए माल पर समिति का प्रथम अधिकार होगा। बम्बई प्रान्त में समिति को केवल ऊपर लिखी हुई वस्तुओं

के लिए दिये हुए ऋण पर ही प्रथम अधिकार नहीं होता वरन् सब प्रकार की चीजों के वास्ते दिए हुए ऋण पर अधिकार होता है। (धारा १६)

समिति के सदस्य का हिस्सा कोई भी लेनदार अपने ऋण के लिए कुर्क नहीं करवा सकता। किसी भी वर्तमान अथवा भूतपूर्व सदस्य के जमा किए हुए रुपये तथा लाभ के हिस्से को ऋण के बदले में ले लेने का समिति को अधिकार है। बाहरी लेनदार कुर्की कराकर उस रुपये को नहीं ले सकता। (धारा २० और २१)

सहकारी समिति के लाभ पर आय-कर (Income tax) तथा सुपरटैक्स नहीं लिया जाता और न सदस्यों के लाभ पर कर लिया जाता है।

सहकारी साख समिति केवल अपने सदस्यों को ही कर्ज दे सकती है। रजिस्ट्रार की आज्ञा लेकर समिति दूसरी समितियों को कर्ज दे सकती है। (धारा २६)

सहकारी साख समितियां अपने उपनियमों के द्वारा निश्चित रकम से अधिक ऋण और डिपाजिट नहीं ले सकतीं। इसी कारण प्रत्येक समिति प्रतिवर्ष अपनी साख निर्धारित करती है। सहकारी साख समितियां उन व्यक्तियों का रुपया जमा कर सकती हैं जो सदस्य नहीं हैं। (धारा ३०)

समितियां निम्नलिखित स्थानों में अपना रुपया जमा कर सकती हैं:--

(१) पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में, (२) ट्रस्टी सिक्यूरिटियों में, (३) किसी अन्य सहकारी समिति के हिस्सों में, (४) किसी बैंक में जिसमें रुपया जमा करने की आज्ञा रजिस्ट्रार ने दे दी हो। (धारा ३२)

साधारणतया समिति का लाभ तथा उसका जमा किया हुआ कोष बांटा नहीं जा सकता। केवल निम्नलिखित दशाओं में वह बांटा जा सकता है :—

परिमित दायित्व वाली समितियों में एक चौथाई लाभ रक्षित कोष (रिजर्व फंड) में जमा करने के उपरान्त सदस्यों में बांटा जा सकता है। किन्तु इसके लिए भी रजिस्ट्रार की अनुमति लेनी होती है। अपरिमित दायित्व वाली समितियों का लाभ प्रान्तीय सरकार की आज्ञा से ही बांटा जा सकता है। रक्षित कोष समिति के भङ्ग हो जाने पर भी, सदस्यों में बांटा नहीं जा सकता। रक्षित कोष या तो समिति के कारबार में लगाया जाता है, या रजिस्ट्रार के पास रहता है अथवा रजिस्ट्रार की आज्ञा से और कहीं जमा कर दिया जाता है। समिति के भङ्ग हो जाने पर समिति के ऋण को चुकाने पर जो रुपया बचे, उसका उपयोग समिति के निर्णय के अनुसार होगा। यदि समिति इसका निर्णय न कर सके तो रजिस्ट्रार जिस प्रकार उस धन का उपयोग करना चाहे कर सकता है। कुछ प्रान्तों में यह नियम है कि यदि समिति किसी अन्य संस्था की सदस्य हो तो रक्षित कोष उसे दे दिया जाता है।

ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक समिति चौथाई लाभ रक्षित कोष में रखने के उप-

रान्त लाभ का १० प्रतिशत दान तथा सार्वजनिक हित के कार्यों में व्यय कर सकती है। (धारा ३४)

यदि जिलाधीश जाँच करने के लिए प्रार्थना करे, पंचायत प्रार्थना-पत्र भेजकर जाच करवाना चाहे, अथवा समिति के एक तिहाई सदस्य जांच करवाना चाहें तो रजिस्ट्रार को उस समिति की अवश्य जांच करवानी होगी। वैसे रजिस्ट्रार को अधिकार है कि वह जब चाहे समिति की जाँच करा सकता है। (धारा ३५)

समिति का लेनदार भी जांच का खर्च पेशगी जमा करके समिति की जांच करवा सकता है। (धारा ३६)

निम्नलिखित दशाओं में समिति भङ्ग हो जाती है :—

(१) यदि किसी लेनदार की प्रार्थना पर जाँच कराने से यह प्रतीत हो कि समिति को भङ्ग कर देना चाहिए तो रजिस्ट्रार उसे भङ्ग कर सकता है। (२) यदि समिति के तीन चौथाई सदस्य समिति को भङ्ग कर देने की प्रार्थना करें तो वह समिति को भङ्ग कर सकता है। (३) यदि समिति के सदस्यों की संख्या १० से कम हो जावे तो समिति स्वतः ही भङ्ग हो जाती है। (धारा ३६ और ४०)

जब समिति भंग हो जाती है, तो रजिस्ट्रार एक लिक्विडेटर नियुक्त कर देता है, जो उस समिति का हिसाब पटाता है। (धारा ४१ और ४२)

रजिस्ट्रार को पंचायत के भी अधिकार प्राप्त हैं। वह नीचे लिखे झगड़ों का निबटारा स्वयं या पंच नियुक्त करके कर सकता है— (१) जिनसे समिति के कारबार का सम्बन्ध है; (२) जिनमें सदस्यों का आपस में किसी बात पर झगड़ा हो, भूतपूर्व सदस्यों में कोई झगड़ा हो या समिति के पंचों में कोई झगड़ा हो। अन्य झगड़ों के लिए साधारण अदालत में जाना होगा। (धारा ४३)

रजिस्ट्रार की आज्ञा के विरुद्ध दो अवस्थाओं में प्रान्तीय सरकार से अपील की जा सकती है—(१) जब किसी समिति को वह रजिस्टर करने से इन्कार कर दे, (२) जब वह किसी समिति को भंग कर दे। आज्ञा से दो महीने तक अपील हो सकती है।

मल्टी यूनिट कोआपरेटिव सोसायटीज़ ऐक्ट (१६४२)

भारत सरकार ने २ मार्च १६४२ को सहकारी समितियों के सम्बन्ध में एक ऐक्ट पास किया है, जिसका सम्बन्ध उन सहकारी समितियों से है, जिनका कार्य-क्षेत्र जिस प्रान्त में वे रजिस्टर की गई हैं, उनसे बाहर भी है। यदि कोई सहकारी समिति जिसके सम्बन्ध में यह एक्ट लागू होता है, किसी प्रान्त में रजिस्टर हो चुकी है और उसका कार्य-क्षेत्र दूसरे प्रान्त में भी है, तो वह उस प्रान्त में भी रजिस्टर्ड समझी जावेगी और उसके सम्बन्ध में वे ही सारे नियम लागू होंगे, जो उस प्रान्त में प्रचलित

हैं, जहाँ कि समिति रजिस्टर्ड हुई है। जो समितियाँ इस ऐक्ट के बनने के उपरान्त रजिस्टर हों, उनके सम्बन्ध में भी यही नियम लागू होगा कि जिस प्रान्त में वे रजिस्टर होंगी उस प्रान्त के ही सारे नियम लागू होंगे। लेकिन वह जिन दूसरे प्रान्तों में कार्य करेंगी, वहाँ भी रजिस्टर्ड समझी जावेंगी। इस एक्ट के अनुसार केन्द्रीय सरकार इस प्रकार की सहकारी समितियों का एक केन्द्रीय रजिस्ट्रार नियुक्त कर सकती है। यदि केन्द्रीय रजिस्ट्रार नियुक्त हो गया तो फिर उन समितियों का रजिस्ट्रेशन, नियंत्रण इत्यादि सब उसके अधिकार में होगा। प्रान्तीय रजिस्ट्रारों को इन समितियों से कोई वास्ता न होगा।

कृषि साख सहकारी समितियाँ (Primary Credit Co-operative Societies)

इन समितियों के सदस्य वे ही हो सकते हैं, जो खेती-बारी में लगे हों तथा एक ही गांव में रहते हों। प्रत्येक गांव के निवासी एक दूसरे की आर्थिक स्थिति से भली-भाँति परिचित होते हैं, तथा एक दूसरे के चरित्र के सम्बन्ध में भी जानकारी रखते हैं। इसी कारण वे अपरिमित दायित्व (Unlimited liability) स्वीकार कर सकते हैं। अपरिमित दायित्व के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सदस्य समिति के ऋण को व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से चुकाने के लिए बाध्य है। यही कारण है कि नवीन सदस्य तभी समिति में लिया जा सकता है, कि जब दूसरे सब सदस्य उसको सदस्य बनाने के पक्ष में हों। सहकारी साख समिति का सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों के कार्यों का उत्तरदायी बन जाता है, इस कारण किसी नवीन सदस्य को सर्वसम्मति से ही चुना जाता है।

प्रायः एक गांव में एक ही साख-समिति स्थापित की जाती है। समिति का प्रबन्ध करने का अधिकार साधारण सभा तथा प्रबन्धकारिणी सभा अर्थात् पंचायत को होता है। साधारण सभा सब महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अपना स्पष्ट मत देती है और पंचायत साधारण सभा की आज्ञाओं का पालन करती है। वस्तुतः साधारण सभा केवल नीति निर्धारित करती है और पंचायत सारा कार्य करती है।

प्रबन्धकारिणी समिति नीचे लिखे कार्य करती है :—

१—वह सदस्यों को हिस्से देती है तथा उनको समिति का सदस्य बनाती है।

२—वह गाँव में डिपाजिट लेने का प्रयत्न करती है, तथा सेंट्रल बैंक से ऋण लेने का प्रबन्ध करती है। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह सदस्यों तथा अन्य ग्रामनिवासियों को समिति में रुपया जमा करने के लिए उत्साहित करे।

३—जब कभी आवश्यकता होती है, वह साधारण सभा का आयोजन करती है।

४—वह यह भी निश्चय करती है कि किन सदस्यों को कितने समय के लिये रुपए

उधार दिया जावे। साथ ही, वह उस अवधि के अन्त में ऋण के रुपये को वसूल करती है।

५—वह समिति के आय-व्यय का हिसाब रखती है।

६—वह समिति सम्बन्धी कार्यों में रजिस्ट्रार से लिखा-पढ़ी करती है।

७—वह समिति के उन सदस्यों के लिए, जो सम्मिलित रूप से आवश्यक वस्तुओं को खरीदना चाहते हैं तथा खेती की पैदावार को वेचना चाहते हैं, दलाल का काम करती है।

वह सरपंच तथा मन्त्री का निर्वाचन करती है। सरपंच समिति के सारे कार्य की देखभाल रखता है तथा मन्त्री समिति का हिसाब रखता है।

समिति प्रवेश फीस, हिस्सो का मूल्य, जमा, तथा ऋण के द्वारा कार्यशील पूँजी (Working Capital) उगाहती है। समिति का रक्षित कोष (Reserve Fund) भी समिति की कार्यशील पूँजी को बढ़ाता है। प्रवेश फीस नाम मात्र की होती है और समिति की स्थापना के समय प्रारम्भिक व्यय के लिए ली जाती है। कुछ प्रान्तों में सदस्यों को हिस्से खरीदने पड़ते हैं और कुछ प्रान्तों में हिस्से नहीं होते। पंजाब, उत्तर प्रदेश, तथा मद्रास में समितियाँ हिस्से वाली होती हैं। अन्य प्रान्तो मे हिस्से और गैर हिस्से दोनो तरह की समितियाँ होती हैं।

साख-समिति का कोई सदस्य एक निश्चित रकम से अधिक के हिस्से नहीं खरीद सकता। प्रत्येक सदस्य को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है। प्रवेश-फीस तथा हिस्सों के मूल्य में समिति के पास नाम मात्र की पूंजी इकठी होती है। इस कारण समितियाँ अधिकतर ऋण तथा डिपाजिट से काम चलाती हैं। कोई समिति जितनी अधिक डिपाजिट आकर्षित करे उतनी ही उसकी सफलता समझी जानी चाहिये क्योंकि डिपाजिट तभी अधिक जमा होगी, जब कि जनता को समिति का भरोसा होगा, और उसकी आर्थिक स्थिति में विश्वास होगा। जब तक कि साख-समितियाँ डिपाजिट आकर्षित करके, अपनी आवश्यकता के अनुसार पूँजी जमा नही कर सकतीं, उनको निर्बल ही समझना चाहिये। रुपया जमा करने से ग्रामीण जनता तथा सदस्यों में मितव्ययिता का भाव उत्पन्न होता है।

भारतवर्ष में अभी तक बम्बई प्रान्त को छोड़ और किसी प्रान्त में समितियाँ डिपाजिट आकर्षित नहीं कर पाई हैं। जब तक समितियाँ यथेष्ट पूँजी डिपाजिट के रूप मे आकर्षित नहीं करतीं, तब तक वे निर्बल ही समझी जायेंगी। साख-समितियाँ गैर सदस्यों से भी ऋण लेती हैं। किन्तु सेन्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी का यह मत है कि सहकारी साख-समितियो को गैर सदस्यों से उस समय तक डिपाजिट न लेना चाहिये जब तक कि उनकी आर्थिक स्थिति दृढ़ न हो जावे।

समिति के पंचों को कोई वेतन नहीं मिलता। यदि सदस्य ही मन्त्री होता है, तो उसे भी वेतन नही मिलता। हाँ, यदि समिति का हिसाब रखने के लिए ऐसा व्यक्ति मन्त्री बनाया जावे कि जो समिति का सदस्य न हो तो उसे थोड़ा वेतन मिलता है। यदि मन्त्री उसी गाँव का रहने वाला हो तो अच्छा है, क्योकि वह सदस्यों से भली-भाँति परिचित होगा। परन्तु पटवारी को किसी भी अवस्था में मन्त्री न बनाना चाहिए क्योकि उसका गांव पर बहुत प्रभाव होता है। सम्भव है कि वह पंचायत के अनुशासन मे न रहे। यदि गांव की समिति में कोई शिक्षित सदस्य हो तो उसे मन्त्री बनाना चाहिए। यदि कोई सदस्य शिक्षित न हो तो गांव के शिक्षक को मन्त्री बनाना चाहिए।

सहकारी साख-समितियों का प्रबन्ध-व्यय बहुत कम होने के कारण तथा लाभ न बांटने के कारण रक्षित-कोष (Reserve Fund) यथेष्ट जमा हो जाता है। जब तक समिति के पास यथेष्ट रक्षित-कोष न हो जावे तब तक वह सबल नहीं बन सकती। रक्षित-कोष का उपयोग समिति के कार्य मे हानि होने पर उसे पूरा करने में होता है। यदि किसी देनदार (Debtor) से रुपया वसूल नहीं हुआ, अथवा अन्य कोई हानि हो गई तो रक्षित-कोष से उसे पूरा किया जाता है। यदि समिति भग हो जाती है, तो या तो रक्षित-कोष अन्य किसी सहकारी समिति को दे दिया जाता है या रजिस्ट्रार की अनुमति से अन्य किसी सार्वजनिक कार्य पर व्यय कर दिया जाता है। अपरिमित दायित्व वाली समितियां रक्षित-कोष के धन को अपने निजी कार्य में लगाती हैं, बाहर जमा नही करती।

साधारण सभा अपनी मीटिंग में समिति की साख निर्धारित करती है; पंचायत उससे अधिक ऋण नहीं ले सकती। सदस्यो की सम्पत्ति की एक चौथाई से आधी तव समिति की साख निर्धारित की जाती है। समिति एक हैसियत रजिस्टर रखती है जिसमें प्रत्येक सदस्य की हैसियत का लेखा रहता है। हैसियत रजिस्टर का प्रति व संशोधन होता है और प्रत्येक सदस्य की हैसियत का यथार्थ लेखा रखने का प्रय किया जाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित कर दिया जाता है कि प्रत्येक सदस्य अधिक अधिक कितना उधार ले सकता है। किसी भी अवस्था में सदस्य को सम्पत्ति का ५ प्रतिशत से अधिक ऋण नही दिया जा सकता। रुपया उधार देने के समय पंचाय कर्जा लेने का उद्देश्य तथा सदस्य की चुकाने की शक्ति का अनुमान लगा कर ही क देने का निश्चय करती है।

सहकारिता का सिद्धान्त है कि ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए न दिया जा किन्तु भारत में समितियां सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों के लिए भी ऋण दे देती हैं पंचायत का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह इस बात की जांच करे कि सदस्य कर्ज कि

कार्य के लिए ले रहा है। साथ ही पंचायत को इस बात का भी पता लगाना चाहिए कि सदस्य ने उसी कार्य में धन लगाया है, जिसके लिए कर्ज दिया गया था, अथवा अन्य किसी कार्य में। यदि सदस्य ने अन्य किसी कार्य में रुपया लगाया है तो पंचायत को रुपया वापस ले लेना चाहिए।

सहकारी समितियों के सदस्यों को एक दूसरे पर दृष्टि रखनी चाहिए कि वे धन का दुरुपयोग तो नहीं करते, समय पर कर्ज चुकाते हैं, अथवा किस्तों को टालने का प्रयत्न करते हैं। पंचायत ऋण देते समय ही सदस्यों की स्थिति को दृष्टि में रखते हुए किस्तें बांध देती है, क्योंकि सदस्यों को किस्तों के द्वारा ऋण चुकाने में सुविधा होती है। पंचायत का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह देखे कि सदस्य समय पर किस्तें चुकाता है या नहीं। किन्तु यदि किसी कारणवश (फसल के नष्ट हो जाने पर) किस्त न चुका सके तो उसकी मियाद बढ़ा देनी चाहिए।

समितियाँ अधिकतर नीचे लिखे कार्यों के लिए ऋण देती हैं :—(१) खेती-बारी के लिए तथा लगान के लिए। (२) भूमि का सुधार करने के लिए। (३) पुराने ऋण को चुकाने के लिए। (४) गृहस्थी के कार्यों के लिए। (५) व्यापार के लिए। (६) भूमि खरीदने के लिए। यह कहना बहुत कठिन है कि किन कार्यों के लिए कितना रुपया लिया जाता है। बहुधा सदस्य प्रार्थनापत्र में तो खेती-बारी के लिए रुपये लेने की बात लिखता है और रुपये का व्यय करता है किसी सामाजिक कार्य पर। समितियों ने अभी तक इस दोष की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों की सम्मति है कि कृषि-साख-समितियाँ अपने सदस्यों को तीन वर्षों से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकतीं। सहकारिता आन्दोलन में कार्य करने वालों की भी यही धारणा है। क्योंकि कृषि-साख-समितियाँ अधिकतर सैंट्रल बैंकों से ऋण लेती हैं और यह बैंक अधिकतर तीन वर्ष तक के ही लिए जमा लेते हैं। अस्तु; इससे अधिक समय के लिए सदस्यों को ऋण देना उचित नहीं समझा जाता। लम्बे समय के लिए ऋण देने का कार्य सहकारी भूमि बन्धक बैंक (Mortgage Banks) ही कर सकते हैं। यही कारण है कि कृषि-साख-समितियाँ अब लम्बे समय के लिए ऋण नहीं देतीं।

सहकारी साख-समितियों की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि सदस्य सहकारिता के सिद्धान्तों को समझें। इसलिए समिति का संगठन करते समय सहकारिता के सिद्धान्तों की शिक्षा देनी चाहिए। भारतवर्ष में अभी तक ग्रामीण सदस्य यह समझता है कि साख-समिति सरकारी बैंक है, जो उसे ऋण देते हैं। वह यह नहीं सोचता कि वह उसी की समिति है। जब तक सदस्यों में स्वावलम्बन की भावना जाग्रत नहीं होती, तब तक सहकारिता आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।

समितियों का आय-व्यय निरीक्षण रजिस्ट्रार की आधीनता में होता है। वह सहकारी विभाग के आय-व्यय निरीक्षकों से जाँच कराता है। आडिटर इस बात की भी जाँच करता है कि कितना रुपया सदस्यों पर उधार है, जिसके चुकाने की अवधि समाप्त हो गई। वह समिति की लेनी-देनी का हिसाब देखता है। वह यह भी देखता है कि समिति का कार्य सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार हो रहा है या नहीं। उसे देखना चाहिए कि ऋण उचित समय के लिए उचित कार्यों के लिए दिए गए हैं या नहीं तथा आवश्यक जमानत ली गई है या नहीं। उसे यह भी देखना चाहिए कि सदस्य ठीक समय पर ऋण चुकाते हैं या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं होता कि सदस्य ठीक समय पर ऋण न चुकाते हों किन्तु हिसाब में रुपया जमा कर लिया जाता हो और उतना ही ऋण फिर दे दिया जाता हो। कहने का तात्पर्य यह है कि निरीक्षक को पूरी जाँच करनी चाहिये। भारतवर्ष में आय-व्यय निरीक्षण का कार्य भली भांति नहीं हो रहा है।

यद्यपि प्रत्येक प्रान्त में आय-व्यय निरीक्षण का कार्य रजिस्ट्रार की देख-रेख में ही होता है परन्तु किन्हीं-किन्हीं प्रान्तों में प्रान्तीय सहकारी यूनियनों के आडिटर जिन्हें रजिस्ट्रार लाइसेन्स दे देता है इस कार्य को करते हैं, और कहीं कहीं सहकारी विभाग के आडिटर ही यह कार्य करते हैं।

अप्रैल १९३१ में आल इण्डिया कोआपरेटिव कानफ्रेंन्स ने समस्त भारत में आय-व्यय निरीक्षण की एक ही पद्धति चलाने का निश्चय किया। उस योजना के अनुसार समितियों का निरीक्षण-कार्य सेन्ट्रल बैंकों के हाथ में ही रहना चाहिए। आय-व्यय निरीक्षण प्रान्तीय संस्थाओं के हाथ में रहना चाहिए। प्रान्तीय संस्था प्रत्येक जिले में जिला आडिट यूनियन स्थापित करे। उस जिले की सारी सहकारी समितियाँ तथा सैंट्रल बैंक उस आडिट यूनियन से सम्बन्धित हों। प्रान्तीय इंस्टिट्यूट तथा जिला आडिट यूनियन के कर्मचारियों की नियुक्ति तथा देखभाल प्रान्तीय इंस्टिट्यूट करे। प्रारम्भिक सहकारी समितियों का आय-व्यय निरीक्षण जिला आडिट-यूनियन के आडिटर करें और सेन्ट्रल तथा प्रान्तीय सहकारी बैंक का आय-व्यय निरीक्षण प्रान्तीय इंस्टिट्यूट के आडिटर करें।

प्रान्तीय इंस्टिट्यूट तथा जिला आडिट यूनियन के आडिटर वही लोग नियत किये जावें जिन्होंने इस कार्य की शिक्षा पाई है और जिनको रजिस्ट्रार ने लायसेन्स दे दिया है। प्रान्तीय इंस्टिट्यूट नगर सहकारी बैंक तथा सैन्ट्रल बैंकों से आडिट-फीस वसूल करेगी किन्तु कृषि साख समितियों का आय-व्यय-निरीक्षण निःशुल्क होना चाहिए। इस कारण प्रान्तीय सरकार इंस्टिट्यूट को आर्थिक सहायता प्रदान करे। अभी तक प्रारम्भिक समितियों से थोड़ी आडिट फीस ली जाती है। समितियों की देख-

रेख तथा उनका नियन्त्रण रजिस्ट्रार तथा प्रान्तीय सहकारी संस्था दोनों करते हैं।

ब्रिटिश भारत में लगभग १,२०,००० कृषि सहकारी समितियाँ हैं, जिनमें लगभग ८५ प्रतिशत साख समितियाँ हैं। सब कृषि सहकारी समितियों के सदस्यों की संख्या ४१ लाख से ऊपर तथा कार्यशील पूँजी ३० करोड़ से अधिक है। इस पूँजी में लगभग ४० प्रतिशत समितियों की हिस्सा पूँजी और रक्षित कोष है, शेष ६० प्रतिशत उधार ली हुई पूँजी है, जिसमें ८ प्रतिशत के लगभग तो डिपाजिट और शेष ५२ प्रतिशत सेंट्रल बैंकों से लिया हुआ ऋण है। इन आँकड़ों से ऐसा प्रतीत होता है कि आन्दोलन की स्थिति सन्तोषजनक है, किन्तु असल में ऐसा नहीं है।

भारतवर्ष में साख समितियों का यह एक मुख्य दोष है कि वे अधिकतर बाहरी पूँजी पर अवलम्बित रहती हैं। सेन्ट्रल बैंक शहरों में डिपाजिट आकर्षित करते हैं और वह पूँजी समितियों को ऋण स्वरूप दी जाती है।

साख समितियों की आडिट रिपोर्ट से यह प्रतीत होता है कि ५० प्रतिशत से अधिक ऋण ऐसा होता है कि जिसकी अदायगी की तिथि कभी की निकल गई और सदस्यों ने उसको नहीं चुकाया। जब मूल ऋण की अदायगी की यह दशा है तब उस पर जो सूद इकट्ठा हो गया है उसका तो कहना ही क्या। बरार इत्यादि में जब सेन्ट्रल बैंकों ने कर्ज के बदले सदस्यों की भूमि ले ली तो उसका प्रबन्ध करना कठिन हो गया। अन्य प्रान्तों में ऋण वसूल करने में बहुत कठिनाई हुई। इन सब का परिणाम यह हुआ कि मध्य प्रान्त, बरार, उड़ीसा, बिहार और बंगाल में आन्दोलन नितान्त बलहीन और निष्प्राण हो गया। सन् १६४० में नया ऋण सात करोड़ रुपये से भी कम कर दिया गया। इसके बाद नया ऋण और भी कम कर दिया गया। निदान साख पहले से बहुत ही सीमित और मर्यादित कर दी गई। युद्ध के फलस्वरूप पिछला ऋण बहुत कुछ वसूल हो गया है।

भारतवर्ष में प्रतिवर्ष आय-व्यय निरीक्षण होता है। तब आय-व्यय निरीक्षक उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार समितियों का वर्गीकरण करता है। 'ए' वर्ग की समितियाँ बहुत अच्छी समझी जाती हैं। 'बी' वर्ग की अच्छी, 'सी' वर्ग की साधारण, 'डी' वर्ग की बुरी और 'ई' वर्ग की समितियाँ बहुत बुरी समझी जाती हैं। 'ई' वर्ग की समितियों को दिवालिया कर दिया जाता है। रिपोर्टों से ज्ञात होता है कि समितियों की एक बहुत बड़ी संख्या 'डी' और 'ई' वर्ग में हैं। 'ए' और 'बी' वर्ग में १० प्रतिशत से भी कम समितियाँ हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साख समितियों की दशा शोचनीय है। रिपोर्टों से यह भी ज्ञात होता है कि पिछले वर्षों में ६ प्रतिशत के लगभग समितियाँ प्रतिवर्ष दिवालिया होती रहीं। डार्लिंग महोदय के अनुसार सहकारिता आन्दोलन के आरम्भ से आज तक जितनी समितियाँ स्थापित हुईं उनकी २५ प्रति-

शत दिवालिया हो गईं।

सहकारी साख समितियों से जैसी आशा थी, वे सफल नहीं हुईं। यह तो इसी से विदित है कि पुरानी और सफल साख समितियों के सदस्यों की संख्या बढ़ नहीं रही है। गाँव के रहने वाले समिति के सदस्य बनने के लिए कोई विशेष उत्साह नहीं दिखलाते। चालीस वर्ष के उपरान्त भी आन्दोलन निर्जीव और निस्तेज क्यों है उसके कारण अन्त में लिखे जावेंगे।

सैंट्रल बैंक तथा बैंकिंग यूनियन

आरम्भ में यह आशा की जाती थी कि साख समितियां यथेष्ट डिपाजिट आकर्षित कर सकेंगी और इस प्रकार पूँजी की समस्या हल हो जावेगी। किन्तु यह आशा कि गांवों की जनता इन समितियों में रुपया जमा करेगी पूरी नहीं हुई, क्योंकि एक तो किसान ऋणी है दूसरे वह बैंक में रुपया रखने का अभ्यस्त नहीं है। अस्तु; इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि ऐसे सहकारी बैंक खोले जावें जो नगरों में प्रारम्भिक सहकारी समितियों के लिए धन इकट्ठा करें। अतएव १९१२ का सहकारिता कानून बनाया गया और सैंट्रल बैंक स्थापित करने की सुविधा हो गई। इस समय सेंट्रल बैंकों की संख्या ६०० है और उनसे सम्बन्धित १०४,००० समितियां हैं।

सेन्ट्रल बैंक दो प्रकार के होते हैं:—(१, ऐसे सेन्ट्रल बैंक जिनके सदस्य केवल समितियाँ ही हो सकती हैं, उन्हें बैंकिंग यूनियन भी कहते हैं। (२) ऐसे सेन्ट्रल बैंक जिनके सदस्य व्यक्ति तथा समितियाँ दोनों ही होते हैं। बैंकिंग यूनियन वास्तव में आदर्श सहकारी सेन्ट्रल बैंक हैं। समितियाँ ही इन बैंकों की नीति को निर्धारित करती हैं तथा बैंक का प्रबन्ध भी उन्हीं के हाथ में रहता है। इन बैंकिंग यूनियनों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि समितियों के सदस्य योग्य तथा प्रभावशाली व्यक्ति हों। यही कारण है कि बैंकिंग यूनियन संख्या में अधिक नहीं हैं। दूसरे प्रकार के सेन्ट्रल बैंक ही अधिक हैं। उस प्रकार के सेन्ट्रल बैंकों में योग्यता और व्यापारिक कुशलता की दृष्टि से कुछ योग्य व्यक्तियों को लेने की सुविधा रहती है।

सेन्ट्रल बैंक का क्षेत्र प्रत्येक प्रान्त में भिन्न होता है, उस क्षेत्र की सहकारी समितियाँ उसी बैंक से ऋण लेती हैं। दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में सेन्ट्रल बैंक का क्षेत्र एक जिला है, परन्तु उत्तर भारत में सेन्ट्रल बैंक का क्षेत्र अधिकतर एक तहसील होती है इस कारण इन प्रान्तों के सेन्ट्रल बैंकों से सम्बन्धित समितियों की संख्या तथा पूंजी कम होती है।

साधारण सभा: सेन्ट्रल बैंक के हिस्सेदारों की सभा को साधारण सभा कहते हैं। सभा के सदस्यों को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है। साधारण सभा डायरेक्टरों (संचालकों) का चुनाव करती है।

संचालन : सञ्चालक बोर्ड बैङ्क का प्रबन्ध करता है। सेन्ट्रल बैङ्क के डायरेक्टर संख्या में अधिक होते हैं क्योंकि समितियों तथा व्यक्तियों के प्रतिनिधि निश्चित रहते हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में डायरेक्टरों की संख्या १० से २५ तक रहती है। इससे यह कठिनाई होती है कि पूरे बोर्ड की मीटिंग का आयोजन कठिन हो जाता है। इसलिए बोर्ड अपने सदस्यों में से एक कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन करता है, जो बैङ्क का कार्य चलाती है। बैङ्क का दैनिक कार्य मैनेजिंग डायरेक्टर अथवा मन्त्री जो अवैतनिक होता है, चेयरमैन तथा अन्य एक दो डायरेक्टरों की सलाह और मैनेजर की सहायता से करता है। डायरेक्टरों को फीस या वेतन कुछ नहीं मिलता। कहीं-कहीं डायरेक्टर समितियों की आवश्यकताओं को जानने के लिए समितियों का निरीक्षण करते हैं तथा यह रिपोर्ट करते हैं कि उनको कितना ऋण देना चाहिए। डायरेक्टर बदलते रहते हैं। चेयरमैन तथा मन्त्री व्यक्तियों में से चुने जाते हैं। उत्तरीय तथा पूर्वीय भारत में चेयरमैन कहीं-कहीं सरकारी कर्मचारी होता है। किन्तु अधिकतर वह गैर सरकारी होता है। उत्तर प्रदेश में चेयरमैन जिले का कलक्टर होता हैं। अधिकतर डायरेक्टर समितियों के प्रतिनिधि होते हैं।

प्रत्येक बैङ्क एक मैनेजर नियुक्त करता है। मैनेजर प्रत्येक प्रान्त में एक ही कार्य नहीं करता। कहीं-कहीं मैनेजर बैङ्क को अच्छी तरह से चलाने के अतिरिक्त सम्बन्धित साख समितियो के लिए भी जिम्मेदार होता है। इसलिए उसको सेन्ट्रल बैङ्क के दौरा करने वाले कर्मचारियों की देख-भाल करनी पड़ती है और स्वयं भी दौरा करना पड़ता है। कहीं-कहीं मैनेजर केवल समितियों का निरीक्षण करता है, बैङ्क का प्रबन्ध नहीं करता, और मन्त्री बैङ्क के कर्मचारियों की सहायता से बैङ्क का काम चलाता है।

पूँजी (Capital): सेन्ट्रल बैङ्क की कार्यशील पूँजी (Working Capital), हिस्सा पूँजी (Share Capital), रक्षित कोष, डिपाजिट तथा ऋण के द्वारा प्राप्त होती है।

बैंकिंग यूनियन में केवल समितियाँ ही हिस्से खरीद सकती हैं, किंतु सेंट्रल बैंकों में व्यक्ति भी हिस्से खरीद सकते हैं। साधारणतः सेन्ट्रल बैङ्कों के हिस्से ५० रुपये से लेकर १०० रु० तक के होते हैं। समितियाँ अपने ऋण के अनुपात में हिस्से लेती हैं। साधारणतः हिस्सेदारों का दायित्व हिस्सों के मूल्य तक ही सीमित है, किन्तु कुछ प्रांतों में हिस्सेदारों का दायित्व चार गुने से लेकर दस गुने तक है। कानून के अनुसार प्रत्येक परिमित दायित्व वाली समिति को २५ प्रतिशत लाभ रक्षित-कोष में जमा करना होता है। सेन्ट्रल बैङ्क इस २५ प्रतिशत के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए विशेष कोष जमा करते हैं।

हिस्सा पूँजी तथा रक्षित कोष तो बैंक की निजी पूँजी होती है, और डिपाजिट तथा ऋण उधार ली हुई पूँजी होती है। भारत के प्रत्येक प्रांत में निजी पूँजी तथा ऋण ली हुई पूँजी का अनुपात १ : ८ है।

सदस्यों तथा गैर सदस्यों की डिपाजिट ही कार्यशील पूँजी का बड़ा भाग होती है। सेंट्रल बैंक में दो प्रकार की डिपाजिट होती है। मुद्दती (Fixed) तथा सेविंग्स। अधिकतर सेन्ट्रल बैंक चालू खाता (Current account) नहीं रखते। हाँ, कुछ प्रान्तों में रखते भी हैं। चालू खाता जोखिम का काम है। उसके लिए संचालकों में यथेष्ट व्यापारिक कुशलता होनी चाहिये। सेंट्रल बैंकों के पास अपनी निजी पूंजी भी बहुत कम होती है, इस कारण भी यह बैंक सफलतापूर्वक चालू-खाता नहीं रख सकते। कहीं-कहीं सेविंग्स डिपाजिट भी नहीं ली जाती, किन्तु अधिकतर यह बैंक सेविंग्स डिपाजिट लेते हैं। इन बैंकों में अधिकतर मुद्दती जमा ली जाती है। यह अधिकतर एक वर्ष के लिए जमा लेते हैं। केवल बिहार उड़ीसा में यह नियम है कि चाहे जब रुपया जमा किया जावे। ३१ मई को रुपया वापस दे दिया जाता है। सेन्ट्रल बैंकों में अधिकतर जमींदार, नौकरी करने वाले तथा संस्थायें ही रुपया जमा करती हैं।

डिपाजिट के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर बैंक ऋण भी लेते हैं। सेंट्रल बैंक इम्पीरियल बैंक आदि दूसरे बैंकों से तथा प्रान्तीय सहकारी बैंक और प्रान्तीय सरकार से भी ऋण लेते हैं। पंजाब को छोड़कर सेन्ट्रल बैंक प्रांतीय सरकार से सीधे ऋण नहीं लेते। किन्तु देशी राज्यों में संट्रल बैंक राज्य से ही ऋण लेते हैं। केवल मैसूर में बैंक राज्य से ऋण नहीं लेते।

सेन्ट्रल बैंक सरकारी कागज़ तथा प्रारम्भिक साख समितियों के प्रामिसरी नोट की जमानत पर ऋण लेते हैं। कुछ समय से इम्पीरियल बैंक ने प्रारम्भिक सहकारी समितियों को प्रामिसरी नोट पर ऋण देना बन्द कर दिया है और केवल सरकारी कागज पर ही ऋण देता है, क्योंकि सहकारी समितियों की आर्थिक दशा शोचनीय है। जहाँ प्रान्तीय सहकारी बैंक स्थापित हो चुके हैं वहां सेंट्रल बैंक अन्य मिश्रित पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों (Joint Stock Banks) तथा दूसरे सेंट्रल बैंकों से सीधा सम्बन्ध नहीं रख सकते।

सेंट्रल बैंक केवल सहकारी साख समितियां तथा गैर-साख समितियों को ही ऋण देते हैं, व्यक्तियों को ऋण नहीं देते। सहकारी समितियों के पास जमा करने के लिए अधिक पूंजी तो होती नहीं इस कारण बैंक समितियों को ऋण देने का ही कार्य अधिक करते हैं।

यह जानने के लिए कि प्रत्येक सहकारी साख समिति को अधिक से अधिक कितना ऋण देना उचित है सेन्ट्रल बैंक अपने से सम्बंधित साख समितियों की साख

का अनुमान लगाते हैं। जो ऋण समितियों को दिया जाता है वह निश्चित वर्षों वसूल कर लिया जाता है। ऋण की स्वीकृति देने में बहुत-सी कानूनी कार्यवा करनी पड़ती है, इसलिए ऋण मिलने मे देर हो जाती है। इस दोष को दूर करने लिए कुछ सेन्ट्रल बैंक एक रकम निश्चित कर देते हैं जिस तक समितियों को बिन किसी देरी के ऋण दे दिया जाता है, अधिक रकम के लिए नियमित कार्यवाह करनी पड़ती है। कुछ प्रान्तों में समितियों की सामान्य (Normal) साख (Credit) निर्धारित कर दी जाती है। समिति की सामान्य साख तय करने से पू उसके सदस्यों की सामान्य साख का लेखा तैयार किया जाता है, जिसमें सदस्यों क सम्पत्ति, उनकी आवश्यकता, उनकी आय तथा उनकी बचाने की शक्ति का ब्यौर रहता है। इस लेखे के आधार पर बैंक समिति की अधिकतम साख निर्धारित क देता है।

सेंट्रल बैंक भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न समय के लिए ऋण देते हैं। फसल उत्पन्न करने के लिए जो ऋण लिया जाता है वह एक दो वर्ष के लिए होता है, और जो ऋण भूमि में सुधार के लिए अथवा पुराने ऋण को अदा करने के लिए दिया जाता है वह ५ से १० वर्षों के लिए होता है। अब यह धारणा प्रत्येक प्रान्त में जोर पकड़ती जाती है कि सेंट्रल बैंक अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकते। इसके लिए भी बंधक बैंक स्थापित करना चाहिए।

सेंट्रल बैंक अभी तक ८ से १२ प्रतिशत सूद समितियों से लेते रहे हैं। जब बाजार में सूद की दर बहुत घट गई तब इन बैंकों ने दर घटाई। अब यह प्रयत्न किया जा रहा है कि सूद की दर और घटाई जावे। भारतीय सहकारिता आन्दोलन की सबसे बड़ी कमी यह है कि समितियाँ ऋण को उचित समय पर नहीं चुकातीं और बहुत-सा रुपया बाकी रह जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि सदस्य अशिक्षित हैं, सहकारिता के सिद्धान्तों का उन्हें ज्ञान नहीं, वे अत्यन्त निर्धन हैं। कभी कभी फसल के नष्ट हो जाने के कारण भी वे कर्ज नहीं चुका पाते। यदि फसल नष्ट हो जाने से समितियां अपना ऋण नहीं चुका पातीं तो उन्हें अधिक समय दे दिया जाता है। जब कोई समिति अपना ऋण नहीं चुकाती, तो बैंक जहां तक हो सकता है रुपया वसूल करते हैं। यदि रुपया किसी भी प्रकार वसूल नहीं होता तो बैंक रजिस्ट्रार से समिति को तोड़ देने के लिए कहता है अथवा अदालत से डिगरी करवाता है।

जब समितियां सेंट्रल बैंक को ऋण का रुपया चुकाती हैं उस समय बैंक के पास अधिक रुपया जमा हो जाता है। यह स्थिति वर्ष में दो से चार महीने तक रहती है। इस समय सेंट्रल बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों में रुपया जमा कर देते हैं। जहां प्रान्तीय बैंक नहीं हैं वहां इम्पीरियल बैंक में रुपया जमा कर दिया जाता है। इसके

अतिरिक्त बैंक के पास कुछ रुपया स्थायी रूप से अधिक होता है जो समितियों को ऋण देने में नहीं लगाया जा सकता। यह कोष प्रान्तीय बैंक में अधिक समय के लिए जमा कर दिया जाता है, अथवा ट्रस्टी सिक्यूरिटी में लगा दिया जाता है। इस समय सेंट्रल बैंकों की नीति यह है कि वे आवश्यकता से अधिक डिपाजिट नहीं लेना चाहते, इसलिये डिपाजिट पर सूद की दर बहुत घटा दी गई है।

सहकारिता आन्दोलन की जांच के लिए बिठाई गई मैकलेगन कमेटी ने सेंट्रल बैंकों को नकदी रखने की आवश्यकता इस प्रकार बतलाई थी—जिन बैंकों में चालू खाता तथा सेविंग्स बैंक खाता दोनों ही हों उनमें चालू खाते की रकम और सेविंग्स की ७५ प्रतिशत रकम नकदी या ऐसी सिक्यूरिटी में रखनी चाहिए, जो तुरन्त ही नकदी में परिणत की जा सकें। मुद्दती जमा (Fixed Deposit) के लिए कमेटी की यह राय है कि जो डिपाजिट अगले बारह महीने में देनी हो उसकी आधी रकम नकदी में रहे। किन्तु इस नियम के अनुसार कहीं भी कार्य नहीं होता। प्रायः नकदी इससे बहुत कम रहती है।

सेंट्रल बैंक प्रति वर्ष वार्षिक लाभ का २५ प्रतिशत रक्षित कोष में जमा करके शेष हिस्सेदारों में बांट सकते हैं, किन्तु सेंट्रल बैंकों के उपनियमों में अधिक से अधिक लाभ की दर निश्चित् कर दी जाती है, जिससे अधिक लाभ हिस्सेदारों में नहीं बांटा जा सकता।

सेंट्रल बैंक ६ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक लाभ बांटते हैं। अधिकतर प्रान्तों में ६ प्रतिशत लाभ ही बांटा जाता है। साधारण रक्षित कोष के अतिरिक्त कोई-कोई सेंट्रल बैंक इमारत, बहीखाता, तथा लाभ-हानि सन्तुलन के लिए विशेष कोष जमा करते हैं। रक्षित कोष का रुपया या तो सिक्यूरिटी में या प्रान्तीय बैंक में लगा दिया जाता है अथवा वह बैंक में ही रहता है और कार्यशील पूँजी की वृद्धि करता है।

सेंट्रल बैंकों की सूद की दर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जुदा-जुदा है। किन्तु डिपाजिट पर सूद की दर, तथा प्रारम्भिक समितियों से जो सूद लिया जाता है उसमें २ से ५ प्रतिशत तक का अन्तर रहता है।

सेंट्रल बैंक अपने से सम्बन्धित समितियों की देखभाल रखते हैं तथा उन पर अपना नियंत्रण भी रखते हैं। इस कार्य के लिए उन्हें कुछ कर्मचारी रखने पड़ते हैं। यह कर्मचारी ऋण के लिए आये हुए प्रार्थना-पत्रों की जाँच करते हैं; जो समितियां अपने पुराने ऋण को चुकाने के लिए अधिक समय मांगती हैं, उनके प्रार्थना-पत्रों की जांच करते हैं और समिति को सदस्यों से रुपया वसूल कराने में सहायक होते हैं।

कहीं-कहीं सेन्ट्रल बैंकों के कर्मचारी ही सदस्यों से रुपया वसूल कर लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में सदस्य समिति को कुछ नहीं समझता और समिति का कोई प्रभाव

नहीं रहता। किसी-किसी प्रान्त में यह कर्मचारी समितियों का हिसाब रखते हैं, तथा वार्षिक सभा का आयोजन करते हैं। जहाँ नई समितियों को स्थापित करने के लिए सहकारी विभाग विशेष कर्मचारी नियुक्त नहीं करता, वहाँ यह कर्मचारी नवीन समितियों की स्थापना भी करते हैं। इसके अतिरिक्त यह लोग सहकारिता सम्बन्धी प्रचार-कार्य भी करते हैं। किन्तु अब इनमें से कुछ कार्य प्रान्तीय इंस्टिट्यूट करने लगी हैं। कुछ प्रान्तों में समितियों की देखभाल का कार्य सुपरवाइजिङ्ग यूनियन को दिया गया है।

सेन्ट्रल बैंकों की आय-व्यय की जांच सरकार द्वारा नियुक्त आय-व्यय परीक्षक करते हैं। यह परीक्षक वसूल न हुये रुपये के विषय में भी जाँच करते हैं तथा सेन्ट्रल बैंकों की आर्थिक स्थिति को भी देखते हैं। रजिस्ट्रार कुछ प्रश्न निश्चित करता है; जिनका उत्तर तथा आय-व्यय परीक्षक की रिपोर्ट रजिस्ट्रार के पास जाती है।

सेन्ट्रल बैंक का निरीक्षण रजिस्ट्रार तथा सहकारी विभाग के कर्मचारी करते हैं। जहाँ प्रान्तीय बैंक हैं, वहाँ प्रान्तीय बैंक के मैनेजर तथा डायरेक्टर भी निरीक्षण करते हैं। किन्तु यह सर्वमान्य बात है कि सेन्ट्रल बैंकों का निरीक्षण सुचारु रूप से नहीं होता, क्योंकि रजिस्ट्रार तथा उनके कर्मचारी कुछ ही बैंकों का निरीक्षण कर पाते हैं। प्रत्येक बैंक वार्षिक बैलेंस शीट (लेनी-देनी का लेखा) तैयार करके उसको आय-व्यय परीक्षक की रिपोर्ट के सहित रजिस्ट्रार तथा हिस्सेदारों के पास भेजता है। बैलेंस शीट के अतिरिक्त प्रत्येक बैंक को लाभ-हानि का ब्यौरा तथा आमदनी और खर्च का ब्यौरा भी सरकार के पास भेजना पड़ता है। सेन्ट्रल बैंक रजिस्ट्रार को तिमाही रिपोर्ट भेजते हैं, जिसमें उनकी आर्थिक स्थिति का ब्यौरा रहता है। प्रायः सेन्ट्रल बैंक अपनी शाखाएँ नहीं खोलते किन्तु उन सेन्ट्रल बैंकों को जिनका क्षेत्र बहुत बड़ा है और जिनसे सम्बन्धित समितियों की संख्या अधिक है, शाखायें खोलने की आज्ञा दे दी गई है।

ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों में सब मिलाकर ६०० सेन्ट्रल बैंक हैं—पंजाब १२०, बंगाल ११७, उत्तर प्रदेश ७०, बिहार-उड़ीसा ६८, मध्यप्रान्त ३५, मदरास ३०, आसाम २०, बम्बई ११ तथा शेष देशी राज्यों में हैं। सब सेन्ट्रल बैंकों के लगभग ८०,००० व्यक्ति और १४०,००० समितियाँ सदस्य हैं। समस्त कार्यशील पूँजी (Working Capital) २६ करोड़ रुपये से ऊपर है, जिससे हिस्सा-पूँजी ६ प्रतिशत, रक्षित कोष १४ प्रतिशत, डिपाजिट ५६ प्रतिशत, प्रान्तीय बैंक से लिया हुआ ऋण १४ प्रतिशत तथा सरकार से लिया हुआ ऋण १½ प्रतिशत है। ऊपर के आँकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि सेन्ट्रल बैंकों के पास २३ प्रतिशत के लगभग उनकी निजी पूँजी है। परन्तु रक्षित कोष इनकी भी ठीक स्थिति को नहीं बतलाते क्योंकि बहुत-सी साख-समितियां जो इन बैंकों से रुपया उधार लेती हैं, वे अपना ऋण अदा नहीं करेंगी और वह हानि बैंकों को उठानी पड़ेगी।

मदरास, बम्बई, मध्यप्रान्त तथा बरार के सेन्ट्रल बैंकों का क्षेत्र विस्तृत है। परन्तु बंगाल, बिहार, उड़ीसा और पंजाब में एक बहुत छोटे क्षेत्र (ताल्लुका) में एक बैंक होता है। उत्तर प्रदेश में कुछ जिलों में तो प्रत्येक तहसील में एक बैंक है और कुछ में केवल एक बैंक ही कार्य करता है।

आंकड़ों के देखने से ज्ञात होता है कि सेन्ट्रल बैंक उधार पूँजी (डिपाजिट और कर्ज) का ६० प्रतिशत समितियों को उधार दे देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सेन्ट्रल बैंक अपेक्षाकृत कम नकदी रखते हैं। यह व्यापारिक दृष्टि से ठीक नहीं है। यद्यपि वसूल न होने वाले ऋण के आँकड़े प्राप्त नहीं हैं, किन्तु यह निश्चित है कि सेन्ट्रल बैंकों का बहुत सा रुपया मारा जावेगा, क्योंकि साख-समितियों की स्थिति ठीक नहीं है।

मोटे तौर पर मदरास, बम्बई और पंजाब के सेन्ट्रल बैंकों की आर्थिक स्थिति अच्छी है। बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और बरार के सेन्ट्रल बैंकों की स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो गई थी, किन्तु उनका जीर्णोद्धार करने का प्रयत्न हो रहा है। इन प्रान्तों में बहुत से बैंकों को तो अपना कारोबार इसलिए बन्द कर देना पड़ा कि वे डिपाजिट करने वालों को उनका रुपया देने में असमर्थ थे। उत्तरीय उड़ीसा के सेन्ट्रल बैंकों ने अपना प्रबन्ध रजिस्ट्रार के हाथ में ६ वर्षों के लिए सौंप दिया। इन प्रान्तों में सेन्ट्रल बैंकों की असफलता के मुख्य कारणनिम्नलिखित हैं:—समितियों को अन्धाधुन्ध ऋण देना, दोषपूर्ण निरीक्षण, बैंकिंग सिद्धान्तों की अवहेलना और प्रारम्भिक समितियों का दोषपूर्ण संगठन। अन्य प्रान्तों में समितियों की स्थिति साधारण है।

प्रान्तीय सहकारी बैंक या सर्वोपरि बैंक

(Provincial Co-operative Banks or Apox Banks)

देश में सहकारिता आन्दोलन के क्रमशः फैलने पर यह अनुभव होने लगा कि केवल सेन्ट्रल बैंक, आन्दोलन के लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता होती है, उसका उचित प्रबन्ध नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त सेन्ट्रल बैंकों का नियन्त्रण तथा उनके द्वारा साख-समितियों के लिए आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध करने के लिए भी प्रान्तीय बैंकों की आवश्यकता प्रतीत हुई। मैकलेगन कमेटी ने, जो १६१५ में सहकारिता आन्दोलन की जाँच करने के लिए बिठाई गई थी, प्रत्येक प्रान्त में सेन्ट्रल बैंकों का आपस में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ऐसी संस्था की अत्यन्त आवश्यकता बताई थी। प्रान्तीय बैंकों से पूर्व यह कार्य रजिस्ट्रार करता था। यदि किसी सेन्ट्रल बैंक को पूँजी की अधिक आवश्यकता होती तो रजिस्ट्रार सूचना पाने पर प्रान्त के प्रत्येक सेन्ट्रल बैंक को गश्ती चिट्ठी लिख देता था। पर इससे रजिस्ट्रार का उद्देश्य ठीक तरह से पूरा

नहीं हो पाता था और साथ ही उसका बहुत-सा समय इस काय में लग जाता था। कुछ सेन्ट्रल बैंक ऐसे थे, जो अपनी आवश्यकता से अधिक पूँजी आकर्षित कर लेते थे और कुछ ऐसे भी थे, जिनको यथेष्ट पूँजी नहीं मिल पाती थी। इसलिए ऐसे प्रान्तीय बैंकों की नितान्त आवश्यकता थी, कि जो पहले प्रकार के बैंकों की अतिरिक्त पूँजी को जमा करें और दूसरे प्रकार के बैंकों को पूँजी दें। इसके अतिरिक्त द्रव्य-बाजार (Money Market) तथा सहकारिता आन्दोलन के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी प्रान्तीय बैंकों की आवश्यकता प्रतीत हुई।

भारतवर्ष में इस समय निम्नलिखित प्रान्तीय सहकारी बैंक कार्य कर रहे हैं :- मदरास, बम्बई, उत्तरप्रदेश, पंजाब, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश और बरार तथा आसाम। देशी राज्यों में हैदराबाद और मैसूर के सर्वोपरि बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों की श्रेणी में आते है। यों इन्दौर, ट्रावंकोर, ग्वालियर, बड़ौदा, काश्मीर और भोपाल में भी कोई बड़ा सेन्ट्रल बैंक इस कार्य के लिए चुन लिया गया है और वह सर्वोपरि बैंक का काम करता है।

सदस्यता : इन बैंकों का सङ्गठन एक-सा नहीं है और न इन सब बैंकों में सदस्यता ही एक-सी है। पंजाब और बङ्गाल को छोड़कर और सब प्रान्तों में व्यक्ति भी इन बैंकों के सदस्य होते हैं। बङ्गाल और पंजाब में व्यक्ति इन बैंकों के हिस्सेदार नहीं हो सकते। वहाँ केवल सेन्ट्रल बैंक तथा सहकारी साख-समितियाँ ही प्रांतीय बैंक के सदस्य हो सकते हैं। व्यक्तियों के अतिरिक्त बम्बई, पंजाब, बिहार, मध्यप्रदेश बरार, आसाम में प्रारम्भिक समितियाँ और सहकारी सेन्ट्रल बैङ्क प्रांतीय बैङ्क के सदस्य होते हैं। मदरास प्रांतीय बैङ्क के सदस्य केवल सेन्ट्रल बैंक ही हो सकते हैं, प्रारम्भिक साख-समितियाँ नहीं हो सकतीं। बङ्गाल और बिहार में यद्यपि कुछ प्रारम्भिक सहकारी साख-समितियाँ सदस्य हैं, परन्तु व्यवहार में वहाँ भी केवल सेन्ट्रल बैंक ही उनके सदस्य हैं। इस मिश्रित सदस्यता के कारण साधारण सभाओं की बैठकों में तथा उसमें वोट किस प्रकार दी जावे इसमें, बड़ी उलझन होती है, यही कारण है कि मदरास सहकारिता कमेटी (१६४०) ने व्यक्तियों को सदस्य न रखने की सिफारिश की है।

संचालन : प्रांतीय बैंक को भली-भांति चलाने के लिए व्यापारिक बुद्धि तथा बैंकिंग की योग्यता चाहिए, इसलिए बैंक के डायरेक्टरों या संचालकों में इन गुणों वाले व्यक्ति होने चाहिएँ। सञ्चालक बोर्ड में व्यापारियों और व्यवसायियों को प्रधानता देने से सम्भव है कि सहकारिता के हितों की रक्षा न हो। इसलिए डायरेक्टरों में प्रधानता तो सहकारिता-वादियों की ही रहनी चाहिए, किन्तु कुछ ऐसे बैंकिंग की योग्यता रखने वालों को भी ले लेना चाहिए, जिन्हें सहकारिता आन्दोलन

से सहानुभूति हो। यह तो हुई सिद्धान्त की बात। अब देखना यह है कि हमारे प्रांतीय बैंकों का सञ्चालन कैसे होता है।

भिन्न-भिन्न बैंकों के सञ्चालक-बोर्ड का निर्माण उनके अपने-अपने नियमों द्वारा होता है। दो या तीन प्रांतीय बैंकों के अतिरिक्त और सब में हिस्सेदारों के बाहर से भी डायरेक्टरों को नियुक्त करने की परिपाटी प्रचलित है। पंजाब में सहकारिता विभाग का रजिस्ट्रार तथा सहकारिता विभाग का आर्थिक सलाहकार पदेन (पद के कारण) डायरेक्टर होते हैं। बङ्गाल में रजिस्ट्रार बोर्ड में तीन व्यक्तियों को मनोनीत करता है। मध्यप्रदेश तथा बरार के प्रांतीय बैंक के बोर्ड में रजिस्ट्रार तथा प्रांतीय सरकार का फाइनेन्स सेक्रेटरी पदेन डायरेक्टर होता है। बिहार में रजिस्ट्रार डायरेक्टर होता है। वहाँ सहकारिता आन्दोलन के पुनर्निर्माण में बैंक प्रांतीय सरकार के नियन्त्रण में दे दिया गया। प्रांतीय सरकार जिस व्यक्ति को प्रांतीय बैंक का सलाहकार नियुक्त करेगी वही उसका (उस समय के लिए जब तक कि बैंक सरकार के नियन्त्रण में रहेगी) मैनेजिंग डायरेक्टर होगा। सिंध प्रांतीय बैंक में भी मनोनीत डायरेक्टर होते है। मदरास, बम्बई और आसाम में मनोनीत डायरेक्टर नहीं होते। मदरास में रजिस्ट्रार को पदेन प्रांतीय बैंक का डायरेक्टर बनाने का प्रयत्न हो रहा है।

कार्यशील पूँजी (Working Capital) : प्रांतीय बैंकों की कार्यशील पूँजी २० करोड़ रुपये के लगभग है, जिसमें १६ प्रतिशत उनकी निज की और शेष उधार ली हुई है। उधार ली हुई पूँजी में समितियों तथा सेन्ट्रल बैंकों की डिपाजिट तथा व्यक्तियों की डिपाजिट मुख्य हैं। प्रान्तीय बैंक चालू (Current), सेविंग तथा मुद्दती (Fixed), तीनों प्रकार की डिपाजिट लेते हैं। अधिकांश डिपाजिट एक से तीन वर्ष के लिए ली जाती हैं। जो बैंक इससे अधिक समय के लिए डिपाजिट लेते थे उन्हें अब कठिनाई का अनुभव हो रहा है क्योंकि पिछले वर्षों में सूद की दर तेजी से घटती गई है। प्रान्तीय बैंकों की साख अच्छी है, वे सहकारिता आन्दोलन और बाहर से भी डिपाजिट आकर्षित करते हैं। जहाँ तक सूद देने का प्रश्न है ये अन्य व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा अधिक सूद नहीं देते। द्रव्य-बाजार के अनुसार यह बैंक भी अपनी सूद की दर निर्धारित करते हैं।

पूँजी लगाना : रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों में यह दोष बतलाया है कि वे नकदी रुपया और शीघ्र भँज सकने वाली लेनी (Assets) यथेष्ट नहीं रखते और आवश्यकता से अधिक रुपया बाहर लगा देते हैं। उसने प्रान्तीय बैंकों को राय दी थी कि वे अपनी देनी (Liabilities) का ४० प्रतिशत नकदी अन्य बैंकों में रक्खें। भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों ने भी कुछ नियम बना दिए हैं, जिनके अनुसार प्रान्तीय बैंकों को अपनी देनी के एक निश्चित अनुपात में नकदी तथा शीघ्र भँज

सकने वाली लेनी (Assets) रखनी पड़ती हैं। प्रान्तीय बैंक व्यवहार में २० से ५० प्रतिशत कार्यशील पूँजी सरकारी सिक्यूरिटी में लगाते हैं। कुछ रुपया अन्य व्यापारिक बैंकों तथा प्रान्तीय बैंकों में जमा करते हैं, कुछ नकदी अपने पास रखते हैं और शेष अपने सदस्यों को उधार देते हैं।

जहाँ तक रुपया लगाने का प्रश्न है, रिजर्व बैंक का दोषारोपण उचित नहीं मालूम देता। रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय बैंको को यह सलाह दी कि उन्हें अपने सदस्यों को ६ महीने से एक वर्ष तक के लिए ही ऋण देना चाहिए; बहुत लम्बे समय के लिए न देना चाहिए। यद्यपि रिजर्व बैंक की इस सलाह को प्रान्तीय बैंक पूरी तरह से नहीं मान सकें; फिर भी वे अब प्रायः उत्पादन और खेती की पैदावार के खरीद-बिक्री के लिए ही थोड़े समय के लिए ऋण देते हैं। बंगाल प्रान्तीय बैंक तो फसलों को उत्पन्न करने के लिए केवल कम समय के लिए ही ऋण देने लगा है। परन्तु किसान को साख की जितनी आवश्यकता कम समय के लिए है, उतनी ही मध्यम समय के लिए अर्थात् दो या तीन वर्षों के लिए भी है। अतएव प्रान्तीय बैंको को इन दोनो प्रकार की साखो को देना चाहिये। यदि प्रान्तीय सहकारी बैंक अपनी निजी पूंजी का ध्यान रखने के साथ डिपाजिटो के समय का भी ध्यान रक्खें तो वे कम समय और मध्यम समय के लिए साख का प्रबन्ध बिना किसी कठिनाई के कर सकते है। हाँ लम्बे समय—१० से २५ वर्षों—तक के लिए वे साख नहीं दे सकते, उसके लिए भूमि बन्धक बैंक ही उपयुक्त संस्था है।

जहां तक सदस्यों को ऋण देने का प्रश्न है उसमें भी सब प्रान्तीय बैंक एक सा व्यवहार नहीं करते। बम्बई प्रान्तीय बैंक मुख्यतः प्रारम्भिक साख समितियों को अपनी शाखाओं के द्वारा ऋण देता है, केवल सेन्ट्रल बैंकों से ऋण लेता है। जहाँ तक सेन्ट्रल बैंकों का प्रश्न है प्रान्तीय बैंक संतुलन केन्द्र है और उन्हें समय पड़ने पर ओवर ड्राफ्ट (जमा से अधिक निकालने की स्वीकृति) इत्यादि देता है। अब कुछ समय से प्रान्तीय बैंक 'बी' श्रेणी के सदस्यों को भी ऋण देने लगा है। यह ऋण लेने वाले उन साख-समितियों के सदस्यों में से होते हैं, जो प्रान्तीय बैंक से सम्बन्धित हैं और वे अपनी पैदावार की जमानत पर ऋण लेते हैं। बम्बई प्रान्तीय बैंक औद्योगिक सहकारी समितियों को भी उनके तैयार या कच्चे माल की जमानत पर ऋण देता है। मदरास बैंक केवल सेन्ट्रल बैंको से ही कारबार करता है; वह प्रारम्भिक साख समितियों से कोई मतलब नहीं रखता। लेकिन ऋण देने के बारे में वहाँ भी एक नियम बनाकर सदस्यों तथा गैर सदस्यों को भी सरकारी सिक्युरिटी, रिज़र्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक के हिस्सों तथा मदरास प्रान्तीय बैंक में उनकी डिपाजिट की जमानत पर ऋण देने की सुविधा कर दी गई है। पंजाब प्रान्तीय बैंक व्यक्तियों को केवल बैंक में उनकी डिपाजिट पर

ही ऋण देता है। यद्यपि पंजाब, बिहार, मध्यप्रदेश और बरार के प्रान्तीय बैंकों के सदस्य सेन्ट्रल बैंक और प्रारम्भिक समितियाँ दोनो ही हैं, वे ऋण सेन्ट्रल बैंक को ही देते हैं।

प्रान्तीय बैंकों की आर्थिक मजबूती उनके दिये हुए ऋण की जमानत पर निर्भर है, और अन्त में उस जमानत की मजबूती इस बात पर निर्भर है कि जो रुपया किसान को समितियों द्वारा दिया गया है वह वसूल किया जा सकता है या नहीं। प्रारम्भिक साख सहकारी समितियों को अपने दिये हुए रुपये की वसूल करने की योग्यता ऋण लेने वाले सदस्य की ऋण अदा करने की योग्यता तथा अन्य बहुत से कारणों पर निर्भर है। इनमें से कुछ तो निश्चित हैं, कुछ अनिश्चित; कुछ का नियंत्रण हो सकता है और कुछ का नहीं हो सकता; कुछ प्रकृति पर निर्भर हैं, तो कुछ मनुष्य की मनमानी पर। इन विविध कारणों से हमारे ग्राम निवासियों का कारबार घाटे का है। जितना व्यय होता है उससे कम आय होती है। सहकारी समितियों के कुछ सदस्य तो ऐसे हैं जिनका काम बिना ऋण लिए चल ही नहीं सकता। बहुतों की निर्धनता ही ऋणी होने का प्रधान कारण है। बहुत से ईमानदर सदस्य भी अपना ऋण नहीं चुका पाते क्योंकि वे नितान्त ही असमर्थ हैं। यही सहकारी साख आन्दोलन की निर्बलता है।

प्रान्तीय बैंकों की लगभग वही दशा है जो सहकारी साख समितियों की है। ऋण बहुत समय हो गया चुकाये नहीं गए। ऐसे कर्ज की रकम बढ़ती जा रही है जो वसूल नहीं हो सकेंगे, और जो जमानत कर्ज के लिए दी गई थीं बैंकों को उसे जब्त करना पड़ा। कुछ कम-ज्यादा यह स्थिति सब जगह मौजूद थी। बरार में प्रान्तीय बैंक के पास कर्ज के बदले भूमि आगई जिसके खरीदार ही नहीं मिले। बरार, बंगाल और बिहार में प्रारम्भिक सहकारी समितियों की लेनी (Assets) जमानत को जब्त करने का आन्दोलन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। वहाँ आन्दोलन के पुनः निर्माण का कार्य चल रहा है। आसाम में स्थिति बहुत खराब है। वहां के रजिस्ट्रार ने भी आन्दोलन के पुनः निर्माण की आवश्यकता बतलाई है। युद्ध से उत्पन्न हुई परिस्थिति में खेती की पैदावार का मूल्य बेहद बढ़ गया और किसान पर ऋण का भार कुछ हल्का हो गया है, ऐसी दशा में स्थिति के सँभल जाने की पूर्ण आशा है।

इस सम्बन्ध में एक बात महत्वपूर्ण है जिसको हमें भूल न जाना चाहिए। जिन प्रान्तों में, विशेषकर बम्बई और पंजाब में, प्रान्तीय बैंकों ने लम्बे समय के लिए ऋण देने का प्रयत्न किया और इस अभिप्राय से भूमि बंधक बैंकों को ऋण देने के लिए डिबेन्चर बेचे, वे कठिनाई में पड़ गए। पंजाब और आसाम में प्रान्तीय बैंक ही प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों को ऋण देते थे, किन्तु अब वहाँ भूमि बंधक बैंक काम ही नहीं करते, इस लिए लम्बे समय के लिए ऋण देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

उपभोक्ता सहकारी स्टोर (Cooperative Corsumers Stores)

आज उत्पादन करने वालों तथा उपभोग करने वालों के बीच में इतने अधिक दलाल हैं कि वे एक दूसरे से बहुत दूर पड़ गए हैं। दलाल (अर्थात् व्यापारी) जो मूल्य उत्पादकों को देते हैं, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक उपभोक्ताओं से वसूल कर लेते हैं। उपभोक्ताओं को वस्तुओं का मूल्य अधिक देना पड़ता है; साथ ही वस्तुओं में मिलावट होती है तथा वे अच्छी नहीं होतीं। सहकारी उपभोक्ता स्टोर का उद्देश्य व्यापारियों (दलालों) को अपने स्थान से हटाकर उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर अच्छी वस्तुएं देना है। उपभोक्ता स्टोर उपभोक्ताओं की शोषण से रक्षा करता है।

सहकारी उपभोक्ता स्टोर का प्रत्येक व्यक्ति सदस्य हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को सहकारी स्टोर का हिस्सा खरीदना पड़ता है, सब सदस्यों की एक साधारण सभा होती है। साधारण सभा प्रवन्ध कारिणी समिति को चुनती है, प्रत्येक सदस्य का केवल एक वोट होता है। *प्रवन्ध कारिणी कई उपसमितियां बनाती है, उदाहरण के लिए* क्रय समिति, निरीक्षण समिति इत्यादि। प्रत्येक सदस्य का दायित्व परिमित (Limited Liability) होता है, सस्दयों को वस्तुएं उधार नहीं दी जातीं; नकद दाम पर बाजार भाव से वेची जाती हैं। स्टोर बाज़ार भाव पर ही वस्तुओं को वेचता है। स्टोर अन्य दूकानदारों से कीमत में प्रतिस्पर्द्धा नहीं करता वरन अच्छा माल देने में प्रतिस्पर्द्धा करता है। सदस्यों को वार्षिक लाभ सहकारी उपभोक्ता स्टोर से खरीद के अनुपात में मिलता है। उदाहरण के लिए यदि 'अ' ने वर्ष में एक हज़ार रुपये की वस्तुएं खरीदी हैं और 'क' ने केवल पांच सौ रुपए की वस्तुएं खरीदी हैं तो 'क' को 'अ' से आधा लाभ मिलेगा। जब प्रारम्भिक उपभोक्ता स्टोर अधिक संख्या में स्थापित हो जाते हैं तो वे मिलकर थोक सहकारी समिति (होलसेल सोसायटी) बना लेते हैं जो उत्पादकों से सीधे थोक मूल्य पर वस्तुएं खरीद लेती है। थोक समिति का लाभ प्रारम्भिक सहकारी स्टोरों की खरीद के अनुपात में बांट दिया जाता है। इस प्रकार यह स्टोर रिटेल शाप (फुटकर विक्रेताओं) तथा थोक व्यापारियों के लाभ को समाप्त करके उसको सदस्यों के लिए प्राप्त कर लेते हैं। ब्रिटेन में तो होलसेल सोसायटियों ने उत्पादन कार्य भी अपने हाथ में ले लिया है और इस प्रकार उत्पादकों के लाभ को भी उन्होंने समाप्त कर दिया है। ब्रिटेन में तो यह आन्दोलन बहुत सफल और सबल हो गया है।

भारत में सहकारी स्टोरों का विकास

भारतवर्ष में सहकारी स्टोरों का विकास प्रथम महायुद्ध के समय हुआ। इसका कारण यह था कि उस समय खाद्य पदार्थों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का मूल्य वेहद बढ़ गया था और वस्तुओं के मिलने में कठिनाई होने लगी थी। हज़ारों की संख्या में स्टोर स्थापित हुए किन्तु युद्ध समाप्त होने के उपरान्त वे स्टोर भी समाप्त हो

गए। स्टोरों की असफलता का मुख्य कारण यह था कि सदस्य आंदोलन के मुख्य सिद्धान्त को भूल जाते हैं। वे समझते हैं कि स्टोर सस्ते दामों पर वस्तुओं को बेचने के लिए खोला गया है। फल यह होता है कि जब बाजार भाव गिरने लगता है तब सदस्य स्टोर से वस्तुएं न खरीदकर दूकानदारों से खरीदने लगते हैं। स्टोर फेल हो जाते हैं। सिद्धान्त तो यह है कि स्टोर वस्तुओं को बाजार भाव पर बेचेगा किन्तु वस्तुएं अच्छी और तौल में पूरी होंगी।

भारत में स्टोरों के असफल होने का एक दूसरा कारण यह था कि स्टोर सौदा उधार नहीं देते जबकि बनिया महीने भर सौदा उधार देता रहता है और महीने पर अपना बिल देता है। इसके अतिरिक्त भारत में बनिया या दूकानदार बहुत कम लाभ पर काम करता है, महीने के अन्त में दाम लेता है बड़े बड़े शहरों में वह घर पर ही सामान दे आता है। इन स्टोरों का प्रबन्ध व्यय अधिक होता है और प्रबन्ध भी ठीक नहीं रहता। भारत में स्टोरों की असफलता का एक कारण यह भी था कि यहां होलसेल सोसायटी की स्थापना नहीं हुई, स्टोरों को थोक व्यापारियों से ऊँचे भाव पर सौदा खरीदना पड़ता था। अन्य देशों में उपभोक्ता स्टोर अधिकतर मजदूरों के लिए स्थापित किए जाते हैं। भारत में मज़दूर औद्योगिक केन्द्रों में स्थायी रूप से नहीं रहते, वे अपने गांवों को चले जाते हैं इस लिए वे इस प्रकार के कार्यों में उत्साह नहीं दिखलाते। जो व्यक्ति सम्पन्न हैं उनको स्टोर की सदस्यता से विशेष लाभ नहीं दिखलाई देता।

अतएव प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अधिकांश उपभोक्ता स्टोर समाप्त हो गए। जब दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ और वस्तुओं का मूल्य आकाश छूने लगा, काला बाज़ार पनप उठा, वस्तुओं के मिलने में कठिनाई होने लगी तो फिर हज़ारों उपभोक्ता स्टोर स्थापित हो गए, राशनिंग व्यवस्था में सरकार ने भी स्टोरों का उपयोग किया। किन्तु स्टोर आन्दोलन की प्रगति फिर भी संतोषजनक नहीं है। केवल मदरास और बम्बई में बहुत अधिक स्टोर स्थापित हुए, अन्य प्रान्तों में इतने अधिक स्टोर नहीं हैं। इसके अतिरिक्त भारत में जो भी स्टोर हैं वे केवल नगरों में हैं गांवों में उपभोक्ता स्टोर नहीं हैं। केवल मदरास में कुछ उपभोक्ता स्टोर गांवों में भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में उपभोक्ता स्टोरों के लिए अनुकूल परिस्थिति नहीं है। युद्धजनित कठिनाइयों से जो हज़ारों की संख्या में सहकारी स्टोर स्थापित हो गए हैं। वे जब महंगाई कम हो जावेगी तथा वस्तुएं आसानी से मिलने लग जावेंगी तब यदि समाप्त हो जावें तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अब हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सहकारी स्टोरों का वर्णन [illegible]गे।

१२४६ हो गए और उन्होंने १३ करोड़ ५७ लाख का माल बेचा। प्रान्तीय सरकार ने इन स्टोरों को कंट्रोल की वस्तुओं को बेचने के लिए चुना, इस कारण भी इनकी बिक्री बहुत बढ़ गई।

मदरास का ट्रिपलीकेन स्टोर : भारतवर्ष में ट्रिपलीकेन स्टोर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। युद्ध काल में तो इस स्टोर ने मदरास निवासियों की बहुत महत्व-पूर्ण सेवा की। यों यह स्टोर १६०४ में स्थापित हुआ और क्रमशः यह उन्नति करता गया। १६३६ में इसकी ३० शाखाएँ थीं और ६१२८ सदस्य थे। प्रतिवर्ष स्टोर लगभग दस लाख की बिक्री करता था। किन्तु आज इस स्टोर की ३५ शाखायें हैं, उसके सदस्यों की संख्या १२ हजार से अधिक है और वह प्रतिवर्ष ७६ लाख रुपये की बिक्री करता है। इन ३५ शाखाओं के अतिरिक्त स्टोर के ३० डिपो हैं जिनसे सर्व साधारण को राशन दिया जाता है। स्टोर अनाज, चावल, गुड़, शक्कर, तेल, मसाला, सूखे फल, चाय, कहवा, साबुन, आटा, दाल, और मक्खन तथा घी बेचता है। स्टोर तेल, बिस्कुट, मिठाई तथा औषधियाँ भी बेचता है। स्टोर अभी तक फल, सब्जी, दूध, दही बेचने का प्रबन्ध नहीं कर सका। इसके सदस्य अधिकांश पढ़े लिखे लोग हैं। मजदूर इसके सदस्य नहीं हैं। स्टोर ने अभी तक प्रति रुपया आध आने से अधिक बोनस नहीं बाँटा है। सदस्यों के लिए यह कोई विशेष आकर्षण नहीं है परन्तु तोल और भाव में धोखा न खाने के लिए वे उसके सदस्य बनते हैं।

युद्धजनित कठिनाई के कारण प्रान्तीय सरकार ने ट्रिपलीकेन स्टोर को आर्थिक सहायता देकर ३० डिपो खुलवाये जो जनता को राशन देते हैं। ट्रिपलीकेन स्टोर कपड़े का थोक व्यापारी बना दिया गया है।

मदरास में दूसरे महायुद्ध के समय तथा उसके उपरान्त बहुत बड़ी संख्या में स्टोर स्थापित हुए। मदरास के उपभोक्ता स्टोर आन्दोलन की विशेषता यह है कि वहाँ गाँवों में भी उपभोक्ता स्टोर स्थापित हो गए हैं।

मदरास प्रान्त में उपभोक्ता स्टोर की दूसरी विशेषता यह है कि वहाँ केन्द्रीय स्टोर स्थापित हो गए हैं तथा होलसेल सोसायटी भी स्थापित हो गई है।

बम्बई : द्वितीय महायुद्ध के समय बम्बई में २५ स्टोर थे जो युद्धकाल में बढ़ कर ४६५ हो गए तथा उनकी सदस्यता बढ़कर ७१२८ से १३२,५६० हो गई। इन स्टोरों की बिक्री ६ लाख रुपये से बढ़कर ५ करोड़ ४२ लाख रुपये हो गई। बम्बई में सहकारी साख समितियाँ भी अपने सदस्यों के लिए वस्तुएँ खरीद कर उन्हें बेचती हैं।

मदरास और बम्बई के अतिरिक्त आसाम, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश में उपभोक्ता स्टोर आन्दोलन युद्ध काल में तेज़ी से बढ़ा है। आसाम में १६३६ में १३

गए। स्टोरों की असफलता का मुख्य कारण यह था कि सदस्य आंदोलन के मुख्य सिद्धान्त को भूल जाते हैं। वे समझते हैं कि स्टोर सस्ते दामों पर वस्तुओं को बेचने के लिए खोला गया है। फल यह होता है कि जब बाजार भाव गिरने लगता है तब सदस्य स्टोर से वस्तुएं न खरीदकर दूकानदारों से खरीदने लगते हैं। स्टोर फेल हो जाते हैं। सिद्धान्त तो यह है कि स्टोर वस्तुओं को बाजार भाव पर बेचेगा किन्तु वस्तुएं अच्छी और तौल में पूरी होंगी।

भारत में स्टोरों के असफल होने का एक दूसरा कारण यह था कि स्टोर सौदा उधार नहीं देते जबकि बनिया महीने भर सौदा उधार देता रहता है और महीने पर अपना बिल देता है। इसके अतिरिक्त भारत में बनिया या दूकानदार बहुत कम लाभ पर काम करता है, महीने के अन्त में दाम लेता है बड़े बड़े शहरों में वह घर पर ही सामान दे आता है। इन स्टोरों का प्रबन्ध व्यय अधिक होता है और प्रबन्ध भी ठीक नहीं रहता। भारत में स्टोरो की असफलता का एक कारण यह भी था कि यहां होल-सेल सोसायटी की स्थापना नहीं हुई, स्टोरों को थोक व्यापारियों से ऊँचे भाव पर सौदा खरीदना पड़ता था। अन्य देशो में उपभोक्ता स्टोर अधिकतर मजदूरों के लिए स्थापित किए जाते हैं। भारत में मज़दूर औद्योगिक केन्द्रों में स्थायी रूप से नहीं रहते, वे अपने गांवों को चले जाते हैं इस लिए वे इस प्रकार के कार्यों में उत्साह नहीं दिखलाते। जो व्यक्ति सम्पन्न हैं उनको स्टोर की सदस्यता से विशेष लाभ नहीं दिखलाई देता।

अतएव प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अधिकांश उपभोक्ता स्टोर समाप्त हो गए। जब दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ और वस्तुओं का मूल्य आकाश छूने लगा, काला बाज़ार पनप उठा, वस्तुओं के मिलने में कठिनाई होने लगी तो फिर हज़ारों उपभोक्ता स्टोर स्थापित हो गए, राशनिंग व्यवस्था में सरकार ने भी स्टोरों का उपयोग किया। किन्तु स्टोर आन्दोलन की प्रगति फिर भी संतोषजनक नहीं है। केवल मदरास और बम्बई में बहुत अधिक स्टोर स्थापित हुए, अन्य प्रान्तों में इतने अधिक स्टोर नहीं हैं। इसके अतिरिक्त भारत में जो भी स्टोर हैं वे केवल नगरों में हैं गांवों में उपभोक्ता स्टोर नहीं हैं। केवल मदरास में कुछ उपभोक्ता स्टोर गांवों में भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में उपभोक्ता स्टोरों के लिए अनुकूल परिस्थिति नहीं है। युद्धजनित कठि-नाइयों से जो हज़ारों की संख्या में सहकारी स्टोर स्थापित हो गए हैं। वे जब महंगाई कम हो जावेगी तथा वस्तुएं आसानी से मिलने लग जावेंगी तब यदि समाप्त हो जावें तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। अब हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सहकारी स्टोरों का वर्णन करेंगे।

मदरास : पिछले वर्षों में मदरास में स्टोरों का विकास आश्चर्यजनक गति से हुआ। जहां १६३६ में प्रान्त भर में केवल ८५ स्टोर थे वहां १६४६ में वे बढ़कर

१३४६ हो गए और उन्होंने १३ करोड़ ५७ लाख का माल वेचा। प्रान्तीय सरकार ने इन स्टोरों को कंट्रोल की वस्तुओं को वेचने के लिए चुना, इस कारण भी इनकी बिक्री बहुत बढ़ गई।

मदरास का ट्रिपलीकेन स्टोर : भारतवर्ष में ट्रिपलीकेन स्टोर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। युद्ध काल में तो इस स्टोर ने मदरास निवासियों की बहुत महत्वपूर्ण सेवा की। यों यह स्टोर १९०४ में स्थापित हुआ और क्रमशः यह उन्नति करता गया। १९३९ में इसकी ३० शाखाएँ थीं और ६१२८ सदस्य थे। प्रतिवर्ष स्टोर लगभग दस लाख की बिक्री करता था। किन्तु आज इस स्टोर की ३५ शाखायें हैं, उसके सदस्यों की संख्या १२ हजार से अधिक है और वह प्रतिवर्ष ७६ लाख रुपये की बिक्री करता है। इन ३५ शाखाओं के अतिरिक्त स्टोर के ३० डिपो हैं जिनसे सर्व साधारण को राशन दिया जाता है। स्टोर अनाज, चावल, गुड़, शक्कर, तेल, मसाला, सूखे फल, चाय, कहवा, साबुन, आटा, दाल, और मक्खन तथा घी वेचता है। स्टोर तेल, बिस्कुट, मिठाई तथा औषधियाँ भी वेचता है। स्टोर अभी तक फल, सब्जी, दूध, दही वेचने का प्रबन्ध नहीं कर सका। इसके सदस्य अधिकांश पढ़े लिखे लोग हैं। मजदूर इसके सदस्य नहीं हैं। स्टोर ने अभी तक प्रति रुपया आध आने से अधिक बोनस नहीं बाँटा है। सदस्यों के लिए यह कोई विशेष आकर्षण नहीं है परन्तु तोल और भाव में धोखा न खाने के लिए वे उसके सदस्य बनते हैं।

युद्धजनित कठिनाई के कारण प्रान्तीय सरकार ने ट्रिपलीकेन स्टोर को आर्थिक सहायता देकर ३० डिपो खुलवाये जो जनता को राशन देते हैं। ट्रिपलीकेन स्टोर कपड़े का थोक व्यापारी बना दिया गया है।

मदरास में दूसरे महायुद्ध के समय तथा उसके उपरान्त बहुत बड़ी संख्या में स्टोर स्थापित हुए। मदरास के उपभोक्ता स्टोर आन्दोलन की विशेषता यह है कि वहाँ गाँवों में भी उपभोक्ता स्टोर स्थापित हो गए हैं।

मदरास प्रान्त में उपभोक्ता स्टोर की दूसरी विशेषता यह है कि वहाँ केन्द्रीय स्टोर स्थापित हो गए हैं तथा होलसेल सोसायटी भी स्थापित हो गई है।

बम्बई : द्वितीय महायुद्ध के समय बम्बई में २५ स्टोर थे जो युद्धकाल में बढ़ कर ४६५ हो गए तथा उनकी सदस्यता बढ़कर ७१२८ से १३२,५९० हो गई। इन स्टोरों की बिक्री ६ लाख रुपये से बढ़कर ५ करोड़ ४२ लाख रुपये हो गई। बम्बई में सहकारी साख समितियाँ भी अपने सदस्यों के लिए वस्तुएँ खरीद कर उन्हें बेचती हैं।

मदरास और बम्बई के अतिरिक्त आसाम, मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश में उपभोक्ता स्टोर आन्दोलन युद्ध काल में तेजी से बढ़ा है। आसाम में १९३९ में १३

स्टोर थे किन्तु आज वहाँ १२२६ स्टोर हैं जिनके १३५,३८० सदस्य हैं। यह स्टोर वर्ष भर में १ करोड़ ३० लाख रुपये का माल बेचते हैं। मध्यप्रदेश में २६ से बढ़कर २७७ स्टोर हो गए हैं। इन स्टोरों के २६,३६६ सदस्य हैं और ४१ लाख रुपये की बिक्री होती है। मध्यप्रदेश में भी कुछ गाँवों में स्टोर स्थापित हुए हैं। उत्तर प्रदेश में १६३ उपभोक्ता स्टोर हैं। यह स्टोर ७ केन्द्रीय स्टोरों से सम्बन्धित हैं। प्रान्तीय मार्केटिंग फेडरेशन इन स्टोरों के लिए होलसेल सोसायटी का काम करती है। किन्तु आजकल प्रान्त में इन स्टोरों का कार्य कुछ शिथिल सा हो गया है।

देशी राज्यों में मैसूर में उपभोक्ता स्टोर आन्दोलन तेजी से विकसित हुआ है। आज वहाँ १५१ उपभोक्ता स्टोर स्थापित हैं। इनकी बिक्री एक करोड़ रुपये से अधिक होती है। इन स्टोरों के अतिरिक्त मैसूर में सहकारी साख समितियाँ राशनिंग तथा कन्ट्रोल की वस्तुओं को अपने सदस्यों को बेचती हैं। क्रमशः लोग इनकी ओर अधिक आकर्षित हो रहे हैं। ट्रावंकोर में भी ८२२ सहकारी साख समितियाँ इस कार्य को करती हैं।

ऊपर के विवरण से यह भ्रम उत्पन्न नहीं होना चाहिए कि भारत में उपभोक्ता स्टोरों की स्थिति अच्छी है और उनका विकास हो रहा है। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उपभोक्ता स्टोर की जो उन्नति हमें आज दिखलाई दे रही है वह केवल युद्धजनित कठिनाइयों के कारण है। जब महंगाई कम हो जावेगी और वस्तुओं के मिलने में कठिनाई नहीं रहेगी तब उपभोक्ता स्टोर आन्दोलन की स्थिति क्या होगी यह कहना कठिन है। जब साधारण समय में स्टोर पनपें तभी यह समझना चाहिए कि वे सफल हैं।

सहकारी औद्योगिक समितियां

गृह उद्योग धंधों की वर्तमान हीन दशा : भारतवर्ष गृह-उद्योग धंधों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण देश रहा है। आज भी बहुत बड़ी संख्या गृह-उद्योग धंधों में काम पाती है। परन्तु गृह-उद्योग धंधों की दशा और उनमें लगे हुए कारीगरों की दशा उतनी ही शोचनीय है जितनी कि हमारे किसानों की। गृह-उद्योग धंधों को एक तो बड़े बड़े कारखानों की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है, दूसरे कारीगर व्यापारियों के ऋणी होने के कारण उनके शोषण का शिकार बनते हैं। हमारे गृह-उद्योग धंधों में उत्पादन की प्रणाली पुरानी है, उनमें संगठन का अभाव है इस कारण हमारे गृह-उद्योग धंधे या कुटीर धंधे क्रमशः नष्ट होते जा रहे हैं। इन धंधों की रक्षा का एक-मात्र उपाय उनका सहकारी संगठन है। यदि उनको हम सहकारिता के आधार पर संगठित कर दें तो कारीगरों की दशा सुधर सकती है और कुटीर धंधे भी पनप सकते हैं। इन धंधों की हीन दशा के नीचे लिखे मुख्य कारण हैं:—

(१) कच्चे माल के मिलने में कठिनाई—इन गृह-उद्योग-धंधों को कचा माल मिलने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यही नहीं कि कारीगरों को कच्चे माल के लिये अधिक मूल्य देना पड़ता है, वरन् उन्हें बढ़िया माल तो मिल ही नहीं पाता। उदाहरण के लिए गांवों के चमारों की यह साधारण शिकायत है कि अच्छी खाल धनी चमड़े के व्यापारी शहरों की फर्मों के लिए खरीद लेते हैं और उन्हें रद्दी खालों से काम करना पड़ता है। यही दशा ऊनी कपड़ा तैयार करने वालों की है कि बढ़िया ऊन शहरों की ओर चला जाता है। गांव का बढ़ई भी इसी कठिनाई को अनुभव करता है। यदि किसी धंधे के सामने यह कठिनाई नहीं है तो उसमें काम करने वाले को कच्चे माल का मूल्य बहुत देना पड़ता है। उदाहरण के लिए बुनकर को सूत बहुत मँहगे दामों पर मिलता है। केवल बात यहीं तक नहीं रहती। यहाँ भी कारीगर को कचा माल बढ़िया नहीं मिल पाता। अस्तु; जहाँ तक गृह-उद्योग-धंधों की कच्चे माल सम्बन्धी कठिनाई है, उसके तीन रूप हैं—(१) कुछ दशाओं में उन्हें माल बढ़िया मिलना असम्भव है; (२) उन्हें कच्चे माल के लिए मूल्य अधिक देना पड़ता है और (३) फिर भी प्रथम श्रेणी का माल उन्हें नहीं दिया जाता। यह तो मानी हुई बात है कि एक कारीगर इतनी कम मात्रा में कच्चा माल खरीदता है कि वह इस कठिनाई को दूर करने में सर्वथा असमर्थ है। इसका निराकरण तो सहकारी समितियों के द्वारा ही हो सकता है। जब गृह-उद्योग-धंधों का संगठन सहकारिता के आधार पर होगा और सहकारी संगठनों के द्वारा बड़ी मात्रा में गृह उद्योग-धंधों के लिए कच्चा माल खरीदा जावेगा तभी यह कठिनाई हल हो सकेगी।

(२) उत्पादन के ढङ्ग में सुधार की आवश्यकता—अधिकांश गृह-उद्योग-धंधों में उत्पादन का ढङ्ग बहुत पुराना और दकियानूसी है। यही कारण है कि इन धंधों का उत्पादन-व्यय अधिक है। बहुधा जो औजार या साधन इन धंधों में काम में लाये जाते हैं वे शताब्दियों पुराने हैं और उनमें कोई सुधार नहीं होता। उदाहरण के लिए कोरी का खड्डी वाला कर्घा और तेली की घानी हमें प्राचीन काल की स्मृति दिलाते हैं। उनमें पिछली कई शताब्दियों से कोई सुधार नहीं हुआ।

केवल औजार ही पुराने ढंग के हों यही बात नहीं है। उत्पादन का ढङ्ग भी वही शताब्दियों पुराना और दकियानूसी है। इसका परिणाम यह होता है कि लागत व्यय अधिक होता है और बाजार में उस वस्तु के अधिक ग्राहक नहीं मिलते। उदाहरण के लिये चमड़ा कमाने का धन्धा, मिट्टी के बर्तन बनाने का धन्धा, लकड़ी तथा कपड़े का धन्धा इत्यादि। कारीगर वही पुराने डिजाइन की चीजें पुराने ढङ्ग से तैयार करता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका लागत-व्यय अधिक होता है और बाजार में उसे कम मूल्य मिलता है।

औजारों तथा उत्पादन के ढङ्ग में सुधार हो सकते हैं, किन्तु कारीगर से यह आशा करना व्यर्थ है। न तो उसके पास ऐसा साधन ही है और न योग्यता ही। जो व्यापारी इन धन्धों के माल की बिक्री का काम करते हैं, उन्हें उनके सुधार तथा उन्नति से कोई मतलब नहीं है। वैज्ञानिक इन छोटे धन्धों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते और सरकार का औद्योगिक विभाग भी इनकी ओर से अभी तक नितान्त उदासीन रहा है। केवल ग्रामोद्योग संघ तथा चर्खा संघ ने इस ओर अवश्य ध्यान दिया है और उसके फलस्वरूप कातने, बुनने, छपाई और रँगाई की कला में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। यही नहीं, चर्खा तथा करघा में भी बहुत सुधार हो गया है। इसी प्रकार तेल-घानी में भी बहुत सुधार किये गये हैं। अस्तु; आवश्यकता इस बात की है कि इन धन्धों के उत्पादन के ढङ्ग में सुधार करने तथा औजारों की उन्नति करने के लिए सरकार की सहायता से केन्द्रीय संगठन खड़े किये जावें और वहाँ उस सम्बन्ध में अनुसंधान होता रहे।

किन्तु बढ़िया औजार तथा उत्पादन के बढ़िया तरीके को खोज निकालने से ही काम नहीं चलेगा। औजारों को बड़ी मात्रा में तैयार करवाने का प्रबन्ध करना होगा तथा उत्पादन के उन्नत तरीके का कारीगरों में प्रचार करना होगा। उनको उसकी शिक्षा देनी होगी। चलते-फिरते शिक्षण शिविर, प्रदर्शनियों, तथा छात्रवृत्तियों द्वारा कारीगरों को इसकी शिक्षा लेने को प्रोत्साहित करना होगा कि वह अपने धन्धे के उन्नत तरीकों को सीख लें। इस कार्य में भी राज्य की सहायता अत्यन्त आवश्यक होगी।

(३) पूँजी की कठिनाइयाँ—गृह-उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी की भी एक कठिन समस्या है। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि आज कारीगर उन व्यापारियों का क्रीतदास बना हुआ है, जो कि उसके तैयार माल की बिक्री का काम करते हैं।

कारीगर को कच्चा माल लेने, कच्चा माल भर कर रखने तथा तैयार माल को रोक कर रखने के लिए पूँजी की आवश्यकता है। उसकी साख ऐसी है और उसकी पूँजी की आवश्यकता इतनी अधिक नहीं है कि वह व्यापारिक बैंकों से रुपया उधार पा सके। उसकी साख लगभग कुछ नहीं है और न उसके पास उचित जमानत ही होती है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि जो व्यापारी उसे पूँजी देता है, उसी को कारीगर को अपना तैयार माल बेचने पर विवश होना पड़ता है और कारीगर एक मजदूर मात्र रह जाता है। उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। अस्तु; आवश्यकता इस बात की है कि गृह-उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी का उचित प्रबन्ध किया जावे। इसके लिए भी सहकारी संगठन की आवश्यकता होगी, किन्तु सरकार को इन समितियों की विशेष रूप से सहायता करनी होगी।

माल की बिक्री : सबसे बड़ी कठिनाई जो कारीगर के सामने उपस्थित होती है, वह माल बेचने की है। जितने भी गृह-उद्योग-धन्धे हैं, उनमें लगे हुए सभी कारीगरों के सामने यह कठिनाई उपस्थित होती है। इसके बहुत से कारण हैं। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि जनता की रुचि में बहुत परिवर्तन हो गया है। साथ ही परिवर्तन होता भी रहता है। उदाहरण के लिए जनता नई-नई डिजाइन के सूती, ऊनी, रेशमी कपड़े पसन्द करती है। यदि कोई कारीगर पुराने डिजाइनों के ही कपड़े तैयार करता है, तो उसके माल की बिक्री होना कठिन हो जावेगा। इसी प्रकार जूते और चप्पलों के भी डिजाइन बदलते रहते हैं। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि उनके लिए बाजार की मांग को ध्यान में रखकर नये डिजाइनों की बराबर खोज की जानी चाहिए और कारीगरों को उसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। यह कार्य व्यक्तिगत रूप से कोई कारीगर स्वयं नहीं कर सकता। यह तो केवल सामूहिक रूप से ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त किसी-किसी धन्धे में अन्तिम क्रियायें ऐसी होती हैं कि जिनके बिना माल की सुन्दरता नहीं बढ़ती और वह क्रियायें सफलतापूर्वक एक कारीगर नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए सूती कपड़े में ब्लीचिंग तथा फिनिशिंग क्रियायें जुलाहे की शक्ति के बाहर होती हैं। इस बात की आवश्यकता है कि यह क्रियायें सहकारी समितियों के द्वारा सहकारी वर्कशाप में की जावें।

लेकिन जो सबसे बड़ी कठिनाई गृह-उद्योग-धन्धों के सामने खड़ी होती है, वह यह है कि एक कारीगर के पास न तो आधुनिक ढंग से बिक्री करने के साधन ही हैं और न वह योग्यता ही है। उदाहरण के लिए आधुनिक समय में विज्ञापन, प्रदर्शन, कनवैसिंग के बिना बिक्री करना कठिन होता है। अस्तु; जब तक कारीगर अपना संगठन सहकारिता के आधार पर नहीं करता वह अपने माल की सफलतापूर्वक बिक्री नहीं कर सकता।

अभी तक भारतवर्ष में जनता और सरकार दोनो ने ही गृह-उद्योग-धन्धों की भयंकर उपेक्षा की है। जहाँ बड़े-बड़े धंधो को विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से बचाने के लिए संरक्षण तथा अन्य सहायता देने के लिये भगीरथ प्रयत्न किये गए, वहाँ गृह-उद्योग-धंधों की किसी ने भी परवा न की। यह जो आज गृह-उद्योग-धंधों की ओर थोड़ा-सा ध्यान गया है, उसका सारा श्रेय महात्मा गांधी को था। किंतु यह कार्य बिना राज्य की सहायता के नहीं हो सकता। राज्य को नीचे लिखे अनुसार कुटीर धन्धों को सहायता देनी चाहिए।

खोज : राज्य को ऐसी संस्थायें स्थापित करनी चाहिए जो कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बनाने के वैज्ञानिक तरीकों की खोज करें। ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जो कि

उद्योग-धन्धे के रूप में भली भाँति तैयार की जा सकती हैं। यदि इन संस्थाओं में योग्य व्यक्ति नियुक्त किये जावें और वे प्रयत्न करें तो गृह-उद्योग-धन्धों के लिए वस्तुएँ बनाने के वैज्ञानिक तथा लाभदायक तरीके आसानी से ढूंढ निकाले जा सकते हैं। नया तरीका ढूंढ निकालने के उपरान्त उसका प्रचार करना भी आवश्यक होगा।

आर्थिक सहायता : गृह-उद्योग धन्धों की उन्नति के लिये यह भी आवश्यक होगा कि उत्तम औजारों का निर्माण किया जावे। उन्हें बड़ी मात्रा में, सस्ते दामों पर तैयार किया जावे और सहकारी समितियों के द्वारा और स्वतन्त्र रूप से कारीगरों को किराये पर बिक्री (Hire Purchase) पद्धति से बेचा जावे। यही नहीं, वरन् कच्चा माल लेने तथा तैयार माल को रोक रखने के लिए जो पूँजी की आवश्यकता है, उसे भी राज्य सहकारी समितियों को बिना सूद या नाम मात्र के सूद पर ऋण देकर पूरी करे।

बिक्री : जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं, गृह-उद्योग-धन्धों के सामने बने हुये मालों की बिक्री का प्रश्न जटिल रूप से आता है। इसके लिए सहकारी संगठन की आवश्यकता होगी। राज्य इस सहकारी संगठन को वार्षिक आर्थिक सहायता दे, जिससे कि सहकारी फेडरेशन ऐसे विशेषज्ञ रख सके जो कि बाजार की बदलती हुई परिस्थिति का अध्ययन करें और नई डिजाइन तथा नये मॉडल का आविष्कार करें। इसके अतिरिक्त फेडरेशन अपने भंडार स्थापित करके, प्रदर्शनियों तथा विज्ञापन के द्वारा, गृह-उद्योग-धंधों के द्वारा उत्पन्न होने वाले माल की बिक्री कर सके। सरकार को अपने विभागों के लिए सामान खरीदते समय गृह उद्योग-धंधों को पहला अवसर देना चाहिए।

अस्तु; यदि राज्य गृह-उद्योग-धन्धों की सहायता करे और उनका सहकारी संगठन किया जावे तो यह धन्धे पनप सकते हैं।

सहकारी उत्पादक समितियाँ : यह तो हम पहले कह आये हैं कि यदि गृह-उद्योग-धंधों का संगठन सहकारी समितियों के द्वारा किया जावे तो यह सब कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। उत्पादक सहकारी समितियाँ प्रत्येक धन्धे में लगे हुये कारीगरों का संगठन करेंगी। एक धन्धे के लिए एक अलग समिति होगी। समिति परिमित दायित्व (Limited Liability) वाली होगी। प्रत्येक सदस्य समिति का कम से कम एक हिस्सा खरीदेगा। समिति डिपाजिट भी स्वीकार करेगी और सहकारी सेंट्रल बैंक से ऋण भी लेगी। यदि राज्य आर्थिक सहायता देना चाहे तो इन समितियों को बिना सूद के या नाम मात्र सूद पर ऋण दे सकता है। हिस्सा पूँजी डिपाजिट तथा ऋण समिति की कार्यशील पूँजी होगी। सदस्यों को केवल साख देना ही उसका काम नहीं होगा। उसे वे सभी कार्य करने होंगे जो कि एक व्यवसायी करता

व्यवसायी कारीगर को ऋण देता है, कच्चा माल वेचता है और तैयार माल खरीदता है। यदि उत्पादक समितियाँ वास्तव में कारीगर की आर्थिक उन्नति करना चाहती हैं, तो उन्हें व्यवसायी को क्षेत्र से बिलकुल हटा देना होगा। अर्थात् उसके सब कार्य अपने हाथ में ले लेने होंगे। भारतवर्ष में पहले जो उत्पादक समितियाँ बहुत कम हैं, दूसरे वे केवल साख का ही प्रबन्ध करके रह गई।

जब तक उत्पादक सहकारी समितियाँ सदस्यों के लिए उचित मूल्य पर कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल वेचने का प्रबन्ध नहीं करतीं, तब तक गृह-उद्योग-धन्धे पनप नहीं सकते। किंतु इतने से ही धंधे का संगठन पूर्ण नहीं हो सकता। समिति को कारीगरों को आधुनिक वैज्ञानिक ढङ्ग की वस्तुएँ तैयार करने की शिक्षा दिलानी होगी और उत्तम औजारों तथा यंत्रों का प्रचार करना होगा।

यह सब कार्य केवल एक सहकारी समिति सफलतापूर्वक नहीं कर सकती, क्योंकि तैयार माल वेचने के लिए विज्ञापन देने, बाजार का अध्ययन करने, एजेण्ट तथा कनवैसर भेजने एवं प्रदर्शिनी का आयोजन और भंडार स्थापित करने की आवश्यकता होती है। यह सारा कार्य एक समिति की शक्ति के बाहर की बात है। अस्तु; समितियों को एक यूनियन या फेडरेशन में अपने को संगठित कर लेना आवश्यक है। यूनियन या फेडरेशन कुछ कर्मचारी रखकर यह सब कार्य करेगी। इस कार्य में राज्य यूनियन की सहायता कर सकता है—विशेषज्ञों की सेवायें देकर अथवा आर्थिक सहायता देकर।

उदाहरण के लिए यदि बुनकरों की एक यूनियन स्थापित की जावे तो यूनियन बुनाई-कला को जानने वाले कुछ ऐसे शिक्षक रक्खेगी जो घूम-घूम कर कुछ समय प्रत्येक समिति के सदस्यों को नई डिजाइन का कपड़ा तैयार करना, अच्छे कर्घे से लाभ तथा अन्य आवश्यक सुधारों की शिक्षा देंगे। यूनियन विज्ञापन के द्वारा समितियों के कपड़े का प्रचार करेगी; भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्टोर स्थापित करके कपड़ा वेचने का प्रबन्ध करेगी तथा एजेण्ट और कनवैसर रक्खेगी। यूनियन के विशेषज्ञ बाजार का अध्ययन करके समितियों को यह सूचना दिया करेंगे कि किस प्रकार के कपड़े की बाजार में अधिक मांग है। समितियाँ उसी प्रकार के कपड़े को सदस्यों से तैयार करवाया करेंगी। यूनियन प्रतिवर्ष प्रदर्शिनी का आयोजन करे। इससे दो लाभ होंगे—एक तो उस क्षेत्र के कारीगर एक दूसरे के काम को देख सकेंगे और प्रतिस्पर्द्धा की भावना से अपनी उन्नति करेंगे; दूसरे, कला का प्रचार और विज्ञापन होगा। समिति कच्चा माल व्यापारियों से न खरीद कर सीधे उत्पन्न करने वालों से खरीदेगी और सदस्यों को देगी। इसका फल यह होगा कि सदस्यों को कच्चा माल उचित मूल्य पर मिल सकेगा। सदस्य तैयार माल समिति को दे जावेगा। समिति कुछ रुपया पेशगी

सदस्य को उसी समय दे देगी। बाकी रुपया माल बिकने पर चुकाया जावेगा। समिति प्रतिशत कुछ कमीशन लेगी। वर्ष के अन्त में जो लाभ होगा, उसका कुछ भाग रक्षित कोष में रखकर शेष सदस्यों में उस अनुपात में बाँट दिया जावेगा जिस अनुपात में वे समिति को माल बेचने को देंगे। इस प्रकार उत्पादक सहकारी समितियाँ गृह-उद्योग-धन्धों का संगठन कर सकती हैं। यदि हम चाहते हैं कि गृह-उद्योग-धन्धे पनपें तो हमें उत्पादक सहकारी समितियाँ स्थापित करनी होंगी। योरोप में इस प्रकार की समितियाँ अत्यन्त सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

बुनकर समितियाँ : यद्यपि हाथ के करघे द्वारा बुनाई का धन्धा अत्यन्त अस्त-व्यस्त दशा में है, फिर भी वह देश का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धन्धा है। इस धंधे का महत्त्व तो इसी से प्रकट होता है कि वर्ष भर में भारत में जितना कपड़ा तैयार होता है, उसका २५ से ३० प्रतिशत करघों द्वारा तैयार होता है। अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष में लगभग पचास लाख बुनकर इस धन्धे में लगे हुए हैं। अस्तु, यह स्वाभाविक था कि पहले बुनकर समितियाँ स्थापित की जातीं। इन समितियों को अभी पूरी सफलता नहीं मिली है। अब यह प्रयत्न हो रहा है कि समितियों का यूनियन में संगठन हो और तैयार माल बेचने, कारीगरों को औद्योगिक शिक्षा देने, तथा उत्तम औजारों तथा डिजाइनों का प्रचार करने का आयोजन हो रहा है।

मदरास : मदरास प्रान्त में सहकारी समितियों ने बुनकरों को संगठित किया, किन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। इसके नीचे लिखे कारण हैं :—

(१) बुनकरों की अज्ञता और उदासीनता, (२) तैयार माल को बेचने की कठिनाई, (३) व्यापारियों का विरोध, (४) बुनकरों में व्यावसायिक ढंग का अभाव तथा (५) सूत के मूल्य में भारी कमी-बेशी का होना। इस समय मदरास प्रान्त में २०० बुनकर समितियाँ कार्य कर रही हैं।

वहाँ एक प्रान्तीय बुनकर समिति भी है। प्रान्तीय समिति सूत तथा अन्य कच्चा माल और करघे इत्यादि अपने से सम्बन्धित समितियों को देती है, समितियों के तैयार माल को बेचने का प्रबन्ध करती है, तथा समितियों को आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता देती है।

प्रान्तीय समिति ने मुख्य मुख्य नगरों में भंडार स्थापित किए हैं जिनमें सम्बन्धित समितियों का तैयार माल बिकता है। उसने एक फिनिशिंग प्लांट भी खड़ा किया है जिसमें समितियों के बने हुए कपड़ों का फिनिश (अन्तिम परिष्कार) किया जाता है।

पंजाब : पंजाब में औद्योगिक समितियों की विशेष रूप से उन्नति हुई है। बुनकरों, चमारों, लुहारों, बढ़इयों, तेलियों की सहकारी समितियां वहां स्थापित करता

करना चाहती हैं, वह न हो सके और उसके अच्छे दाम न मिल सकें।

इन समितियों की कपास का कृषि-विभाग के कर्मचारियों की सहायता से ग्रेडिंग किया जाता है। कृषि-विभाग इस कार्य में सहायता देने के लिए अपने कर्मचारियों की सेवा समितियों को देता है। कपास का ग्रेडिंग हो जाने पर उसको बड़ी राशि में नीलाम के द्वारा बेच दिया जाता है।

सहकारी विक्रय समितियों को प्रोत्साहन देने के लिए सहकारिता विभाग ने १९४१ में बम्बई प्रान्तीय विक्रय समिति स्थापित की है। यह प्रान्तीय समिति प्रान्तीय मारकेटिंग विभाग की सलाह से विक्रय समितियों का संगठन करेगी और उन्हें प्रोत्साहन देगी। इसके संचालन बोर्ड में ४ समितियों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त, सहकारी विभाग का रजिस्ट्रार, चीफ मारकेटिंग ऑफिसर, और प्रान्तीय सहकारी बैंक का प्रतिनिधि रहता है।

बंगाल : बङ्गाल में पहले जूट विक्रय समितियाँ बड़ी संख्या में स्थापित की गई थीं किन्तु वे सब असफल हुईं। एक भारी भूल जो जूट की समितियों ने की वह यह थी कि उन्होंने सदस्यों की पैदावार को खरीदना शुरू कर दिया। अस्तु; सारी जोखिम समितियों को ही उठानी पड़ी। अब यह समितियाँ टूट गई हैं। अब बङ्गाल में जो सहकारी विक्रय समितियाँ हैं उनमें धान बेचने वाली समितियां अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं। कुछ समितियां गन्ने और मछलियों की भी हैं। बङ्गाल की विक्रय-समितियों में नौगांव की गांजा उत्पन्न करने वाली समिति विशेष उल्लेखनीय है। उसके ४००० से ऊपर सदस्य हैं और उसकी कार्यशील पूंजी ६ लाख है। इस समिति के पास गांजा और भांग उत्पन्न करने का एकाधिकार है। इस समिति को लाखों रुपया वार्षिक लाभ होता है। समिति ने बंगाल में ३६ एजेंसियां स्थापित की हैं जो गांजा बेचती हैं। इसके अतिरिक्त आसाम, उत्तरप्रदेश, राजपूतांना, कूचबिहार तथा उड़ीसा की रियासतों में भी गांजा भेजा जाता है। समिति का प्रबन्ध एक प्रबन्ध-समिति करती है जिसके २६ सदस्य होते हैं। समिति लगभग डेढ़ लाख रुपये वार्षिक शिक्षा पर, सवा लाख रुपये चिकित्सा पर और ३० हजार रुपये वार्षिक पशु-चिकित्सा पर व्यय करती है। समिति अपने क्षेत्र में सड़कों और पुलों की भी मरम्मत कराती है।

बङ्गाल में यद्यपि जूट समितियां नितान्त असफल रहीं और अब उनका नाम ही शेष है, परन्तु फिर भी जूट की पैदावार करने वालों का संगठन करना आवश्यक है। सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि जूट बेचने वाली समितियों को एक प्रान्तीय जूट समिति स्थापित करके उससे सम्बन्धित कर दिया जावे। यह प्रान्तीय समिति जूट मिलों तथा बाहर के व्यापारियों से सम्बन्ध स्थापित करे और जूट को ऊँचे से ऊँचे दाम पर बेचने का प्रयत्न करे। गांव की जूट समिति किसानों

की पैदावार को लेकर मंडियों में स्थापित थोक बिक्री समिति को भेजेगी जहाँ वह सब इकट्ठा होगा, उसका ग्रेड निर्धारित किया जावेगा और उसकी गांठें बनाई जावेंगी। इन थोक बिक्री समितियों को अपने जूट प्रेस स्थापित करने होंगे। यह थोक समितियां प्रान्तीय यूनियन से सम्बन्धित होंगी जिसका मुख्य कार्य ग्रेडिंग का निरीक्षण करना और जूट को बेचना होगा। जब तक इस प्रकार का संगठन नहीं खड़ा किया जाता तब तक सहकारी समितियाँ सफल नहीं हो सकतीं। कारण यह है कि जूट का व्यापारी अपने कार्य में बहुत दक्ष है। उसकी प्रतिस्पर्द्धा में खड़े होने के लिए सबल संगठन की आवश्यकता है।

पंजाब : पञ्जाब में २० से अधिक कमीशन पर बिक्री करने वाली दूकानें हैं। यह दूकानें कच्चे आढ़तियों का काम करती हैं। यह सहकारी कमीशन शॉप व्यक्तियों अथवा सहकारी समितियों की पैदावार को बेचती हैं। किसी-किसी जिले में तो यह दूकानें जिले की पैदावार का बहुत बड़ा भाग बेचती हैं। नहरों के उपनिवेशों में यह दूकानें अधिक सफल हुई हैं, क्योंकि वहाँ के किसान अच्छे हैं। १६२८-२६ में इन दूकानों ने ५८ लाख रुपये की पैदावार की बिक्री की। यद्यपि अब वे पहले से कुछ कम पैदावार की बिक्री करती हैं, परन्तु फिर भी प्रति वर्ष लगभग ३० या ३५ लाख रुपये की पैदावार बेच देती हैं।

इन दूकानों के सदस्य किसान और सहकारी समितियां दोनों ही होते हैं। वे कच्चे आढ़तियों का काम करती हैं। वे पैदावार की जमानत पर उसके अनुमानित मूल्य का ७५ प्रतिशत रुपया बेचने वाले किसान या समिति को पेशगी दे देती हैं और उस पर सूद लेती हैं। इन दूकानों से किसान को मंडी के खर्च और लागतों में ही बचत होती है। जो छोटे किसान हैं वे इन दूकानों से लाभ नहीं उठा पाते, क्योंकि वे महाजनों के कर्जदार होते हैं। इस कारण उन्हें उसी हिसाब में अपनी पैदावार को बेचना पड़ता है। फिर उनके पास गाड़ी भी नहीं होती जो वे अपनी पैदावार को सहकारी कमीशन दूकान तक ले जावें। दूकान जब पैदावार बेच देती है तो उस पर अपना कमीशन काट कर किसान को मूल्य दे देती है।

इन दूकानों के चलाने में एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि योग्य ईमानदार मैनेजर नहीं मिलते। इन दूकानों के गोदामों की व्यवस्था करनी चाहिए और पैदावार की ग्रेडिंग करनी चाहिए। यद्यपि आज किसान ग्रेडिंग को पसन्द नहीं करता, परन्तु यदि प्रचार किया जावे तो किसान को ग्रेडिंग और पैदावार को इकट्ठा करने (पूलिंग) के लाभों को समझाया जा सकता है। पैदावार की भिन्नता को कम करने के उद्देश्य से कमीशन दूकान को अच्छे बीज अपने सदस्यों को बेचने चाहिए।

उत्तर प्रदेश : उत्तर प्रदेश में भी सहकारी विक्रय समितियों को आ-

जनक सफलता मिली है। इनमें गन्ने की समितियां अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जब गन्ने के धन्धे को १६२६ में भारत-सरकार ने संरक्षण प्रदान किया तो बड़ी तेजी से शक्कर के कारखाने देश में स्थापित होने लगे। कारखानों की अधिक संख्या होने के कारण बहुत-सी समस्यायें उठ खड़ी हुईं। कारखाने किसानों को तीन-चार आना मन ईख का मूल्य देते थे जब कि टैरिफ बोर्ड ने शक्कर का लागत मूल्य लगाते समय ८ आना मन की कीमत रक्खी थी, फिर किसानों को अपना गन्ना बेचने के लिए कई दिन कारखाने के फाटक पर खड़ा रहना पड़ता था। तोल में भी धोखेबाजी होती थी। इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार प्रति वर्ष गन्ने की कीमत निर्धारित कर देती है और किसान अपना गन्ना सहकारी गन्ना बेचने वाली समितियों के द्वारा बेचते हैं। आज प्रान्त में लगभग ८५० गन्ना समितियां हैं जो किसान के गन्ने को कारखाने को देती हैं। इन समितियों के बन जाने से यह लाभ हुआ है कि गन्ना तोलने में कोई धोखा नहीं होता। किसानों को अपना गन्ना बेचने के लिए कई दिनों तक कारखानों के फाटक पर खड़ा नहीं रहना पड़ता और गन्ने का ठीक दाम किसान को मिल जाता है। इसके अतिरिक्त, ये समितियां अपने सदस्यों को अच्छा बीज, खाद और हल इत्यादि औजार देकर गन्ने की खेती के लिए प्रोत्साहित करती हैं। पिछले वर्ष समितियों ने सदस्यों में ३२ लाख मन बीज़ बांटा और उन्हें दो लाख मन खाद और ५७ हजार भिन्न-भिन्न प्रकार के खेती के औजार दिये।

अब प्रान्त में गन्ना समितियों का एक जाल-सा बिछा हुआ है और वे लगभग १३ करोड़ मन गन्ना प्रतिवर्ष कारखानों को बेचती हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि उत्तरप्रदेश के कारखानों में जितना गन्ना खपता है उसका ८० प्रतिशत यह समितियां देती हैं। सरकार ने गन्ने की खेती की उन्नति करने के लिए एक विभाग स्थापित किया है जो इन समितियों की सहायता से गन्ने की खेती की उन्नति करने का प्रयत्न करता है। यह समितियां गन्ने की खेती की उन्नति करने, किसानों के गन्ने बेचने के अतिरिक्त ग्राम सुधार का कार्य भी करती हैं—जैसे सड़कों की मरम्मत, चिकित्सा की सुविधा, शिक्षा प्रबन्ध, तथा सदस्यों में मितव्ययिता का प्रचार करना आदि।

गन्ने की समितियों के अतिरिक्त उत्तरप्रदेश में अनाज बेचने वाली समितियों की भी तेजी से स्थापना हो रही है। १६३६ में प्रान्तीय सरकार ने खेती की पैदावार को बेचने के सम्बन्ध में एक योजना स्वीकृत की। इसके अनुसार प्रत्येक मण्डी में एक विक्रय-यूनियन स्थापित की जाती है, और उस मण्डी के समीपवर्ती गाँवों की समितियाँ उस यूनियन की सदस्य बन जाती हैं। अधिकतर अनाज और तिलहन की बिक्री का काम किया जाता है। प्रान्त के प्रत्येक जिले में यह योजना काम में लाई जा रही है और लगभग २०० केन्द्रों में यह कार्य हो रहा है। कहीं-कहीं तो यूनियन सदस्यों की

की पैदावार को लेकर मंडियों में स्थापित थोक बिक्री समिति को भेजेगी जहाँ वह सब इकट्ठा होगा, उसका ग्रेड निर्धारित किया जावेगा और उसकी गांठें बनाई जावेंगी। इन थोक बिक्री समितियों को अपने जूट प्रेस स्थापित करने होंगे। यह थोक समितियां प्रान्तीय यूनियन से सम्बन्धित होंगी जिसका मुख्य कार्य ग्रेडिंग का निरीक्षण करना और जूट को वेचना होगा। जब तक इस प्रकार का संगठन नहीं खड़ा किया जाता तब तक सहकारी समितियाँ सफल नहीं हो सकतीं। कारण यह है कि जूट का व्यापारी अपने कार्य में बहुत दक्ष है। उसकी प्रतिस्पर्द्धा में खड़े होने के लिए सबल संगठन की आवश्यकता है।

पंजाब : पञ्जाब में २० से अधिक कमीशन पर बिक्री करने वाली दूकानें हैं। यह दूकानें कच्चे आढ़तियों का काम करती हैं। यह सहकारी कमीशन शॉप व्यक्तियों अथवा सहकारी समितियों की पैदावार को वेचती हैं। किसी-किसी जिले में तो यह दूकानें जिले की पैदावार का बहुत बड़ा भाग वेचती हैं। नहरों के उपनिवेशों में यह दूकानें अधिक सफल हुई हैं, क्योंकि वहाँ के किसान अच्छे हैं। १९२८-२९ में इन दूकानों ने ५८ लाख रुपये की पैदावार की बिक्री की। यद्यपि अब वे पहले से कुछ कम पैदावार की बिक्री करती हैं, परन्तु फिर भी प्रति वर्ष लगभग ३० या ३५ लाख रुपये की पैदावार वेच देती हैं।

इन दूकानों के सदस्य किसान और सहकारी समितियां दोनों ही होते हैं। वे कच्चे आढ़तियों का काम करती हैं। वे पैदावार की जमानत पर उसके अनुमानित मूल्य का ७५ प्रतिशत रुपया वेचने वाले किसान या समिति को पेशगी दे देती और उस पर सूद लेती हैं। इन दूकानों से किसान को मंडी के खर्च और लागत ही बचत होती है। जो छोटे किसान हैं वे इन दूकानों से लाभ नहीं उठा

मदरास : मदरास में इस समय दो सौ से कुछ कम विक्रय समितियाँ हैं, जो कि पैदावार की जमानत पर ऋण देती हैं। यह प्रयत्न किया जा रहा है कि ये समितियाँ पूर्ण रूप से विक्रय समितियों की भांति कार्य करें। इसके लिए यह समितियां गोदाम बनवा रही हैं, जहां सदस्यों की पैदावार को रखकर बेचा जावेगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि गोदामों के बन जाने पर यह आन्दोलन उन्नति करेगा। अभी तो इन समितियों का मुख्य कार्य यह है कि किसान अपनी पैदावार को समिति के पास रखकर उस पर ऋण ले लेता है और जब अनुकूल अवसर पाता है, तब अपनी पैदावार को बेच देता है। जो रसीद उसको माल रखने की समिति से मिलती है, उसको ही वह खरीदार के हाथ बेच देता है और खरीदार रसीद दिखाकर समिति से माल ले लेता है।

मदरास में दक्षिण कनारा कृषि सहकारी होलसेल (थोक) समिति उल्लेखनीय है, जो जिले की पैदावार को ५० शाखाओं में इकट्ठा करती है और अपनी बम्बई शाखा के द्वारा बम्बई के बाजार में बेच देती है। १९४० में समिति ने २० लाख रुपये से अधिक का माल बेचा।

१९३६ में मदरास प्रान्तीय सहकारी समिति की स्थापना हुई। इसका मुख्य कार्य प्रान्त की विक्रय समितियों की देखभाल और संगठन करना है। प्रान्तीय समिति एक साप्ताहिक पत्रिका भी निकालती है, जिसमें वस्तुओं के भाव और अन्य जानकारी रहती है।

बिहार : बिहार में भी गन्ना सहकारी समितियां स्थापित की गई हैं। उनकी संख्या ८२८ है। यह २८ यूनियनों में संगठित हैं, और प्रतिवर्ष एक करोड़ मन गन्ना कारखानों को देती हैं। यह समितियाँ क्रमशः गन्ने की खेती की उन्नति का प्रयत्न कर रही हैं।

मध्यप्रदेश और बरार : मध्यप्रदेश में क्रय-विक्रय समितियों का स्वरूप भिन्न है। कृषि एसोसियेशन, उत्पादकों की एसोसियेशन, आढ़त की दूकान और बहु-उद्देश्य वाली समितियाँ क्रय-विक्रय का काम करती हैं। कृषि एसोसियेशन अभी तक अधिकतर किसानों को अच्छा बीज, खाद और औजार देने का ही काम करती हैं। प्रदेश में उत्पादकों की तीन एसोसियेशनें हैं—यह रायपुर, बिलासपुर और द्रुग में हैं। यह समितियाँ सदस्यों की पैदावार को अपने गोदामों में रखती हैं और उसका ७५ प्रतिशत मूल्य पेशगी देकर शेष उसके बिकने पर देती हैं। १९३६ में नागपुर में एक संतरा विक्रय समिति स्थापित की गई है। यह कलकत्ता, लखनऊ तथा देहली को संतरे भेजती है। प्रदेश में सहकारी आढ़त की ५ दूकानें हैं, परन्तु वे विशेष सफल नहीं हुईं। प्रान्त में कुछ बहु-उद्देश्य वाली सहकारी समितियाँ भी हैं, जो सदस्यों के लिए

आवश्यक वस्तुएँ खरीदती हैं और उनकी पैदावार को कमीशन पर बेचती हैं। किन्तु अभी तक प्रान्त में क्रय-विक्रय आन्दोलन बलशाली नहीं हुआ है।

देशी राज्यों में बड़ौदा राज्य में ५० के लगभग विक्रय समितियाँ हैं। हैदराबाद में ५० से अधिक समितियाँ हैं, जिनमें कुछ कपास की और कुछ अनाज बेचने की समितियाँ हैं। शेष कारीगरों की समितियाँ हैं (बढ़ई, सुनार, चमार, और कागज बनाने वालों की समितियाँ)। इनके अतिरिक्त कोचीन, मैसूर, तथा ट्रावनकोर में भी कुछ विक्रय समितियाँ हैं।

सच तो यह है कि भारतीय किसान को साख-समितियों से भी अधिक आवश्यकता विक्रय समितियों की है। इधर कुछ वर्षों से भिन्न-भिन्न राज्यों में इस ओर विशेष रूप से प्रयत्न हो रहा है, यह एक अच्छा चिह्न है।

क्रय-विक्रय समितियाँ : ऊपर केवल विक्रय समितियों के बारे में लिखा गया है। अब हम ऐसी समितियों के बारे में विचार करेंगे जो खरीदने और बेचने दोनों ही का काम करती हैं। यह समितियाँ परिमित दायित्व वाली होती हैं। यह बड़े क्षेत्र में ही कार्य करके सफल हो सकती हैं क्योंकि इन समितियों को अधिक राशि में वस्तुओं को खरीदने तथा पैदावार को बेचने से ही लाभ हो सकता है। क्रय-विक्रय समितियों के केवल वे ही सदस्य बनाये जाते हैं, जो फसल उत्पन्न करते हैं। जो कुछ बेचना या खरीदना नहीं चाहते वे इन समितियों के सदस्य नहीं बनाये जाते। समिति का लाभ सदस्यों में फरोख्त के हिसाब से बाँट दिया जाता है। यदि किसी किसान ने समिति के द्वारा १०० मन कपास बेची और दूसरे ने केवल ५० मन ही कपास बेची तो दूसरे को पहले से आधा लाभ मिलेगा। कुछ लोगों का मत है कि पैदावार बेचने का कार्य साख से बिलकुल भिन्न और कठिन है। इस कारण क्रय-विक्रय का काम एक समिति करे और साख देने का कार्य दूसरी समिति करे। किन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि सदस्यों के लिए आवश्यक वस्तुओं को खरीदने का कार्य साख समितियां भली प्रकार कर सकती हैं। आयरलैंड में सब कार्य एक ही समिति करती है।

गुजरात की समितियाँ समीपवर्ती गाँव की सहकारी साख समितियों का समूह मात्र होती हैं। विक्रय समितियाँ उत्पादन और विक्रय या क्रय-विक्रय समितियाँ होती हैं। बुनकर समितियाँ या दूध समितियाँ पहले प्रकार की होती हैं। दूसरे प्रकार की समितियाँ खाद और औजार देने वाली समितियाँ हैं। एक तीसरे प्रकार की भी समितियां होती हैं, जिन्हें हम ऋण और विक्रय समितियां कहते हैं। भारतवर्ष में अधिकांश विक्रय समितियाँ तीसरे प्रकार की हैं, जो सदस्य को पैदावार की जमानत पर ऋण देती हैं और उसकी पैदावार बेचती हैं। यह समितियाँ सदस्यों की पैदावार को डिपाजिट की पद्धति पर लेती हैं। उन्हें कुछ रुपया ऋण स्वरूप पेशगी दे देती हैं,

पैदावार को गोदाम में रखती हैं और उसको इकट्ठा करके उसका ग्रेडिंग करती हैं और फिर अनुकूल अवसर पर उसे बेच देती हैं। बिक्री पर यह समितियाँ कमीशन लेती हैं।

विक्रय सहकारी समितियों का आन्दोलन अभी तक बहुत शिथिल है, उसमें तेजी नहीं आई है। इसके मुख्य कारण नीचे लिखे है :—

किसानों का अशिक्षित और ऋणी होना, यातायात के साधनों का अभाव, माल गाँव से मंडी तक ले जाने में अधिक व्यय होना, पैदावार को रखने के लिए गोदामों का अभाव, पैदावार को इकट्ठा करने और उसकी ग्रेड निर्धारित करने की व्यवस्था का न होना, समितियों की प्रवन्धकारिणी समिति में व्यापारिक बुद्धि तथा अनुभव के व्यक्तियों का न होना, अच्छे अनुभवी वैतनिक कर्मचारियों का न मिलना, सदस्यों का समिति के प्रति सच्चे न रहना, समितियों का बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों से सम्बन्ध स्थापित न हो सकना, और विदेशों तथा देश की मंडियों के सम्बन्ध में ठीक जानकारी न होना।

क्रय-विक्रय समितियों के कार्य में कुछ और भी कठिनाइयां हैं जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि यह समितियाँ छोटी होंगी तो वे व्यापारियों की प्रतिद्वन्द्विता में न टिक सकेंगी। आवश्यकता इस बात की है कि बहुत से गांवों के लिए एक समिति की स्थापना की जावे। इन समितियों में व्यक्तियों को सदस्य बनाना भी खतरे से खाली नहीं है क्योंकि बनिये तथा व्यापारी, जिनसे समिति प्रतिद्वन्द्विता करती है, अपने आदमियों को समिति का सदस्य बनाकर समिति को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। अस्तु; केवल साख-समितियों को ही सदस्य बनाया जावे। किन्तु यह नियम रहे कि जो साख समिति के सदस्य नहीं हैं, समिति उनकी पैदावार भी बेचेगी। इसके अतिरिक्त जो लोग व्यापारी नहीं हैं और जो समिति से प्रतिद्वन्द्विता नहीं करते, उन्हें जाँच करके सदस्य बनाया जा सकता है।

विक्रय समितियाँ सफल नहीं हो रही हैं और सहकारी विक्रय आन्दोलन तेजी से नहीं बढ़ रहा है। इस सम्बन्ध में मदरास सहकारी कमेटी ने जो सिफारिश की हैं, वे उल्लेखनीय हैं—(१) उत्पादक समितियों को संगठित करना और उनका उपभोक्ता स्टोर्स से सम्बन्ध स्थापित करना; (२) माल लाने और ले जाने के लिए यातायात के साधनों की सुविधा प्रदान करना, जिससे माल को मंडियों तक पहुँचने में कम खर्च हो; (३) मंडियों का कानून द्वारा नवीन संगठन हो जिससे कि मंडियों में प्रचलित बुराइयाँ दूर की जा सकें; (४) तोल सब मंडियों में एक हो; (५) पैदावार का ग्रेड निर्धारित करना; (६) बाजार के सम्बन्ध में जानकारी कराना।

ध्यान रहे कि लगभग यही सिफारिशें शाही कृषि-कमीशन और प्रान्तीय

बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों की हैं। अस्तु; सरकार का यह कर्त्तव्य है कि इस दिशा में पूरा प्रयत्न करे। बिना इन सुविधाओं को प्रदान किये, किसान की पैदावार की बिक्री की समस्या हल नहीं हो सकती।

कृषि कमीशन तथा बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों ने इस बात पर भी जोर दिया था कि मंडियों को कानून द्वारा संगठित करने के पूर्व मारकेटिंग सर्वे होना आवश्यक है और इस कार्य के लिए मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये जाने चाहिए। खेती की पैदावार की बिक्री के महत्त्व को ध्यान में रख कर भारत सरकार ने इन सिफारिशों के अनुसार काम करना स्वीकार किया। भारत सरकार ने कुछ समय के लिए एक अनुभवी और योग्य खेती की पैदावार की बिक्री के विशेषज्ञ को नियुक्त किया। इस आफिसर के नीचे बहुत से उसके सहकारी नियुक्त किये गए और यह सब इम्पीरियल कौंसिल ऑव ऐग्रीकल्चरल रिसर्च की देखरेख में खेती की पैदावार की बिक्री की समस्याओं पर खोज कर रहे हैं। यह विभाग खेती की पैदावार की ग्रेडिंग करने तथा अन्य आवश्यक बातों के सम्बन्ध में योजना तैयार करता है और खेती की पैदावार के सम्बन्ध में भारत-सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को सलाह देता है। १९३४ में भारत में प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन हुआ जिसने इस बात की सिफारिश की कि आर्थिक मामलों में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों में गहरा सहयोग होना आवश्यक है। इसके फलस्वरूप भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा कुछ बड़े देशी राज्यों ने मारकेटिंग विभाग स्थापित किया। अस्तु, आज केन्द्रीय सरकार ने एक मारकेटिंग सलाहकार नियुक्त कर रक्खा है जिसकी सहायता के लिए बहुत से मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये गए हैं। प्रान्तीय सरकारों ने भी सीनियर मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये हैं जिनके नीचे जूनियर मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये गए हैं। देशी राज्यों ने भी मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये हैं। इनके अतिरिक्त कपास, जूट, कहवा, लाख और शक्कर की अखिल भारतीय कमेटियां हैं, जिनका अपना मारकेटिंग स्टाफ है, जो केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मारकेटिंग विभाग के साथ मिल कर काम करता है।

इस मारकेटिंग विभाग का मुख्य कार्य अभी तक केवल मारकेटिंग सर्वे करना रहा है। मारकेटिंग सर्वे में उत्पादन की क्रियाएँ, किस प्रकार वह पैदावार खरीदारों के हाथ में पहुँचती है, पैदावार को एक स्थान से दूसरे स्थान तक किस प्रकार ले जाया जाता है, पैदावार को किस प्रकार रक्खा जाता है, उसका मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है इत्यादि सभी आवश्यक बातों का समावेश रहता है। अब लगभग सभी महत्वपूर्ण फसलों के मारकेटिंग सर्वे हो चुके हैं और कुछ की तो रिपोर्ट भी प्रकाशित हो चुकी है। मारकेटिंग सर्वे के अतिरिक्त पैदावार का ग्रेडिंग करने का भी प्रयत्न

मंडी फंड से करती है।

(ङ) बांट और तराजू इत्यादि ठीक हैं इसका प्रबंध मंडी कमेटी करती है।

(च) मंडी में जितने भी काम करने वाले हैं उन्हें लाइसेंस लेना पड़ता है और वे मंडी कमेटी के नियन्त्रण में रहते हैं।

(छ) ग्रेडिंग की सुविधा नियंत्रित मंडियों में प्राप्त हो सकती है और भिन्न भिन्न ग्रेडों का प्रचार किया जा सकता है।

(ज) जो किसान कि इन मंडियों में आते हैं उन्हें अच्छे बीज का उपयोग करने तथा उत्तम जाति की फसलें उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है।

आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक प्रान्त में मंडियाँ कानून द्वारा नियंत्रित करदी जावें। इससे एक बड़ा लाभ यह होगा कि जब किसान को विश्वास हो जावेगा कि मंडी में उसके साथ कोई धोखा नहीं हो सकेगा तो वह गांव में अपनी पैदावार न बेंचकर मंडी में आवेगा। इस प्रकार उसे अपनी पैदावार का उचित मूल्य मिल सकेगा। जिन किसानों के पास बहुत कम पैंदावार बेंचने के लिए होगी वे सहकारी विक्रय समितियों के द्वारा अपनी फसल को मंडियों में बेंचेंगे।

परिच्छेद १२

खेती के सहायक धंधे

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है, कृषि यहाँ का महत्त्वपूर्ण धंधा रहा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस देश में अन्य उद्योग-धंधो का अभाव रहा हो। प्राचीन काल तथा मध्य युग में भारतीय कारीगरों की बनाई हुई वस्तुएँ योरप के बाजारों में बहुत मूल्य पर बिकती थीं; किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने क्रमशः हमारे गृह-उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया और धंधों में लगी हुई जनसंख्या विवश होकर खेती-बारी की ओर चली आई। इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त बड़े-बड़े कारखाने खड़े किये गये। अस्तु; इङ्गलैंड के व्यवसायियों को ऐसे देशों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो कच्चा माल उत्पन्न करें और इंगलैंड में बने तैयार माल के ग्राहक बनें। क्रमशः भारतवर्ष ऐसी अवस्था में पहुँच गया।

गृह-उद्योग-धंधों के नष्ट होने से तो भारत की जनसंख्या खेती की ओर आई ही; साथ ही भारत की जनसंख्या भी बढ़ती गई और किसी दूसरे धंधे के न होने के कारण वह भी खेती में लग गई। इसका फल यह हुआ कि खेती-बारी पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या बहुत बढ़ गई। इस समय प्रति किसान पीछे औसत भूमि २½ एकड़ है। बहुत से प्रान्तों में अधिकतर किसानों के पास इससे भी कम भूमि रह गई है। इतनी कम भूमि पर खेतीबारी करके किसान अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण भली प्रकार नहीं कर सकता। यही नहीं, गाँवो में एक ऐसा समुदाय उत्पन्न हो गया है जिसके पास खेती के लिए भूमि बिलकुल नहीं है। यदि किसी के पास एक या दो भूमि के छोटे टुकड़े हैं भी तो वह उससे उत्पन्न अन्न पर दो-चार महीने भी नहीं काट सकता। यह वर्ग मजदूरी करता है। फसल बोने और काटने के समय उन्हें दूसरों के खेतों पर मजदूरी मिल जाती है।

अर्थशास्त्र के जानने वालों तथा शाही कृषि कमीशन की राय है कि साधारण किसान वर्ष में चार महीने बेकार रहता है, और गांव के मजदूरों को तो चार महीने से अधिक काम मिलता ही नहीं। जहाँ पानी की कमी है और एक ही फसल होती है वहां किसान ६ से ८ महीने तक बेकार रहता है। यह मानी हुई बात है कि

आठ महीने काम करके कोई भी बारह महीने का भोजन नहीं पा सकता। भारत में तो जनसंख्या का भूमि पर अत्यधिक भार है, जिसके कारण भूमि इतनी जनसंख्या का पालन-पोषण नहीं कर सकती। योरोप तथा अमेरिका जैसे देशों में भी, जहाँ किसानों के पास बड़े-बड़े फार्म हैं, किसान केवल खेती पर ही अवलम्बित नहीं रहता। वह ग्राम-उद्योग-धन्धों के द्वारा अपनी आय को बढ़ाता है। जब इन देशो में—जहाँ भूमि की कमी नहीं है, प्रत्येक किसान के पास खेती के लिए यथेष्ट भूमि है—ग्राम-उद्योग-धंधों की आवश्यकता होती है, तब भारतवर्ष में जहाँ भूमि का अकाल हो, किसान बिना ग्राम-धंधों के किस प्रकार जीवित रह सकता है?

बढ़ती हुई जनसंख्या के भार को भूमि पर से हटाने के लिए अर्थशास्त्र के विद्वानों ने अभी तक ऐसा कोई उपाय नहीं बतलाया जिसको सबों ने स्वीकार कर लिया हो। मतभेद अवश्य है और भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न उपाय बतलाये हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि निम्नलिखित चार उपाय हमारे सामने रक्खे गए हैं :—

(१) प्रवास—अन्तर्प्रान्तीय प्रवास तथा विदेशो को प्रवास।

(२) मिलें और बड़े कारखाने अधिक संख्या में स्थापित किये जावें तथा देश में आधुनिक ढंग से औद्योगिक उन्नति इस शीघ्रता से की जावे कि गांवो की जनसंख्या उनमें काम पा सके।

(३) गहरी खेती की जावे।

(४) गृह-उद्योग-धंधों और खेती के सहायक धंधो को गांवो में पुनर्जीवित किया जावे।

अब देखना यह है कि हमारे देश के लिए कौनसा उपाय उपयुक्त होगा। प्रवास से समस्या हल हो सकेगी इसमें सन्देह है; क्योंकि भारतवर्ष में आसाम को छोड़कर अन्य सब प्रान्तो में वहाँ की भूमि की उत्पादन शक्ति तथा भौगोलिक परि-स्थिति को देखते हुए जनसंख्या यथेष्ट है। जब से आसाम में चाय के बागो की उन्नति हुई है तब से हजारों की संख्या में प्रति वर्ष मजदूर वहाँ जाकर बसते रहे हैं। अब आसाम भी अधिक जनसंख्या को स्थान नहीं दे सकता। बर्मा में भी भारतीयो को जाकर बसने की सुविधायें मिल सकेंगी इसमें बहुत सन्देह है। विदेशों में प्रवास करने का तो भारतीयो के लिए प्रश्न ही नहीं उठता। निर्धन और परतन्त्र भारतीयों को भला अपने यहाँ कौन घुसने देगा। विदेशो में भारतीयों को न घुसने देने और अफ्रीका इत्यादि उपनिवेशों में जहाँ भारतीय यथेष्ट जनसंख्या में बसे हुए हैं, उन्हें निकाल बाहर करने का जो षड्यंत्र चल रहा है, वह किसी भी भारतीय से छिपा नहीं है। अस्तु; यह निश्चित है कि प्रवास से भूमि का भार हलका करने का विचार

भ्रमोत्पादक है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यदि भारतवर्ष में बड़े-बड़े कारखाने अधिक संख्या में खोले जावें और आधुनिक ढङ्ग पर उद्योग-धन्धों की उन्नति की जाय तो बहुत-सी जनसंख्या उनमें काम पा सकती है। इस कथन में कुछ सत्य अवश्य है। किन्तु ऐसे लोग जब भारत की आर्थिक समस्या को हल करने के लिए यह उपाय बतलाते हैं, तब सम्भवतः वे भारतवर्ष की वास्तविक परिस्थिति को भुला देते हैं। भारतवर्ष में आधुनिक ढङ्ग के कारखानों की स्थापना का श्रीगणेश सन् १८५० के उपरान्त हुआ। आज लगभग १०० वर्षों के उपरान्त भारतवर्ष की सब फैक्टरियाँ देश की केवल एक प्रतिशत जनसंख्या को काम दे सकी हैं। ध्यान रहे, फैक्टरी कानून के अनुसार जहाँ उत्पादन कार्य यांत्रिक शक्ति (भाप, बिजली, गैस) की सहायता से होता हो और जहाँ कम से कम १० मजदूर काम करते हों, वह फैक्टरियाँ हैं। औद्योगिक उन्नति के लिए किन बातों की आवश्यकता है, यह तो हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि जब लगभग एक शताब्दी की औद्योगिक उन्नति के उपरान्त कारखाने हमारे देश की समस्त जनसंख्या के एक प्रतिशत को ही काम दे पाये हैं, तब निकट भविष्य में यह आशा करना कि क़ारखानों में जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग काम पा जायगा, केवल दुराशा मात्र है। भारतवर्ष की स्थिति को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि औद्योगिक उन्नति धीरे-धीरे होगी। साथ ही भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति का लक्ष्य भारतीय बाजार की माँग को देखते हुए स्थिर करना होगा। भारत की औद्योगिक उन्नति यदि इस उद्देश्य को लेकर की जावे कि हम विदेशी बाजारों में अपने माल को अधिकाधिक बेच सकेंगे, तो यह भूल होगी; क्योंकि प्रत्येक देश आज औद्योगिक देश बनने का प्रयत्न कर रहा है और दूसरे देशों के माल पर आयात-कर लगाकर अपने धन्धों को संरक्षण प्रदान कर रहा है। फिर पूँजी की कमी, वैज्ञानिक खोज का अभाव, औद्योगिक शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा देश में न होने और यंत्रों के लिए दूसरे देशों पर अवलम्बित रहने के कारण यह आशा करना कि थोड़े समय में ही करोड़ों मनुष्यों को कारखानों में काम मिल जावेगा, व्यर्थ है। फिर यदि ऐसा हो सके तो देश के लिए यह परिवर्तन पूर्ण रूप से लाभदायक न होगा।

यदि यह मान भी लिया जाय कि कारखानों की तेजी से बहुत बड़ी संख्या में स्थापना होने से गाँवों में रहने वाली जनसंख्या घट जावेगी, तो भी समस्या हल नहीं होती। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गाँवों की समस्या यह नहीं है कि जनसंख्या सर्वदा के लिए गाँवों से हटा कर बाहर भेज दी जावे। कारण, फसल काटते तथा बोते समय तो गाँवों में इतना काम होता है कि मजदूरों का अकाल पड़ जाता

है और शहरों से गाँवों में लोग वापस लौट आते हैं। प्रश्न हो सकता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा इत्यादि देशों में खेती किस प्रकार होती है? बात यह है कि उन देशों में किसानों के पास यहाँ की भांति छोटे-छोटे खेत नहीं हैं। उन देशों में ५०० एकड़ से कम के फार्म सम्भवतः बहुत कम मिलेंगे और १००० एकड़ के फार्म तो बहुत मिलेंगे। किसान थोड़े से मजदूर रखकर सारा कार्य मशीनों के द्वारा करता है। जुताई, कटाई, बुआई तथा सिंचाई का सब काम भाप या बिजली से चलने वाले यंत्रों के द्वारा होता है। यह तो सभी जानते हैं कि यदि भारत में भी इसी प्रकार के यन्त्रों द्वारा बड़े-बड़े फार्मों पर खेती की जाने लगे तो करोड़ों व्यक्ति बेकार हो जावेंगे। भला उस राष्ट्रीय बेकारी को कैसे हल किया जा सकेगा? अस्तु; यह तो निश्चित हो गया कि गाँवों से जनसंख्या को हटा देने से काम नहीं बनेगा, और यदि ऐसा हो भी सकता हो तो वह राष्ट्र के हित में न होगा। इस सम्बन्ध में हम पहले परिच्छेद में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। साथ ही हमें यह भी ज्ञात है कि खेती में लगा हुआ व्यक्ति वर्ष में चार से छह महीने के लगभग बेकार रहता है।

अब दो उपाय और रह गए, जो समस्या को हल करने के लिए बतलाये जाते हैं—गहरी खेती तथा ग्राम-उद्योग-धंधे। शाही कृषि-कमीशन ने सोलहवें परिच्छेद में इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। परिस्थिति का अनुशीलन करने के उपरान्त कमीशन ने अपना निश्चित मत यह दिया है कि यह समस्या केवल गहरी खेती के द्वारा ही हल हो सकती है। कृषि कमीशन ने प्रवास तथा कारखानों की स्थापना के द्वारा समस्या हल न होने की बात तो कही है, साथ ही ग्राम-उद्योग-धन्धों के विषय में यह सम्मति दी है कि उनके द्वारा भूमि पर जनसंख्या का भार हलका हो सकेगा, इसमें सन्देह है। कृषि-कमीशन की ग्राम-उद्योग-धन्धों के बारे में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि वे मिलों की प्रतिद्वन्द्विता में टिक न सकेंगे। कृषि-कमीशन ने यह बात भी स्वीकार की है कि किसान को गांवों के बाहर ऐसा काम अधिकतर नहीं मिल सकेगा, जिससे कि वह बेकारी के दिनों में कुछ मजदूरी करके कमा सकें। इस प्रकार कमीशन की सम्मति में गहरी खेती ही इसका एकमात्र उपाय है।

सिद्धान्त रूप से यह बिलकुल ठीक है कि भारत में गहरी खेती होनी चाहिए, और भविष्य में यही लक्ष्य हमारे सामने रहना चाहिए। किन्तु आज की परिस्थिति को देखते हुए यह कहना कि भारतीय किसान गहरी खेती को अपनावेगा, वास्तविकता से अनभिज्ञता प्रगट करना है। गहरी खेती के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता है। खाद, हल तथा यंत्र, बीज तथा बैल सभी बढ़िया होने चाहिएँ। सिंचाई का समुचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। फिर यदि मान भी लिया जावे कि किसान को

उचित सूद पर वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए पूँजी मिल जावेगी, तो भी किसान अपनी सारी शक्ति और पूँजी केवल खेती में लगा दे यह उचित नहीं कहा जा सकता। बात यह है कि खेती का धन्धा अत्यन्त अनिश्चित होता है। किसान अच्छे से अच्छा बीज और खाद डाले, घोर परिश्रम करे, फिर भी वह फसल को नष्ट होने से नहीं रोक सकता। समय पर वर्षा न होने, कुसमय वर्षा हो जाने, अति वृष्टि, टिड्डी, फसलों के शत्रु कीड़े तथा हवा और ओले, सभी फसलों को नष्ट कर देते हैं। और किसान गहरी खेती करने पर भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि उसकी फसल अच्छी ही होगी। हमारे देश में खेती और भी अनिश्चित है क्योंकि यहाँ वर्षा बहुत अनिश्चित है। ऐसी परिस्थिति में किसान स्वभावतः गहरी खेती के लिए तैयार न होगा। इसके अतिरिक्त और कारणों से भी किसान खेती में अधिक पूँजी नहीं लगावेगा। उसको भय रहता है कि पैदावार बढ़ने से लगान बढ़ जायेगी। किसान को यह भरोसा नहीं होता कि पैदावार अधिक होने से उसे लाभ होगा। किसानों की फसल कटते ही महाजन, जमींदार तथा सरकारी कर्मचारी उसे घेरने लगते हैं। किसान को अपनी पैदावार उस समय बेचनी पड़ती है जब कि बाजार-भाव मन्दा होता है। इसके अतिरिक्त गांव के महाजनों, बाजार के दलालों, आढ़तियों तथा व्यापारियों द्वारा भी किसान लूटा जाता है और अधिकतर लाभ बीच के लोग ही हड़प कर जाते हैं। किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं मिलता। यदि भविष्य में सरकार इन कठिनाइयों को कानून बनाकर रोक भी दे और किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य मिलने लगे, तो उस दशा में कृषि-कमीशन इसका कोई उपाय नहीं बतला सका कि फसल नष्ट होने पर किसान क्या करे। ग्राम-अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् कैलवर्ट महोदय ने ठीक ही लिखा है कि संसार में किसी भी देश का किसान केवल खेतीबारी पर निर्भर रहकर सुचारु रूप से जीवन निर्वाह नहीं कर सकता। फिर यह असम्भव बात भारतीय किसान कैसे सम्भव कर सकता है?

अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी तथा जापान इत्यादि देशों में किसान खेती बारी के अतिरिक्त कोई न कोई ऐसा धन्धा अवश्य करता है, जिससे उसको कुछ अतिरिक्त आय होती रहे। भारतवर्ष में तो सहायक धन्धों की और भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि यहाँ तो आये दिन फसल नष्ट होती रहती है, अकाल पड़ते रहते हैं, साथ ही किसानों के पास खेती योग्य भूमि भी बहुत कम है। अकाल पड़ने पर फसल नष्ट हो जाने से किसान का एक आश्रय तो सर्वथा जाता रहता है। यदि उसके पास जीवन-निर्वाह का दूसरा आधार हो तो उसकी दशा इतनी दयनीय न हो जितनी कि आज है।

संतोष का विषय है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्र-निर्माण के इस

महत्वपूर्ण कार्य का श्रीगणेश हो गया। हमारे गांवों का जो आर्थिक शोषण हो रहा है, उसको रोकने और किसानों की आर्थिक स्थिति को सुधारने का यही एकमात्र उपाय है। किसान की आय जब इन धन्धों द्वारा बढ़ जावेगी, तभी वह गहरी खेती के लिए तैयार होगा।

सहायक धन्धों से एक लाभ और भी होगा। किसान को खेती की पैदावार के बेचने से एक मुश्त रकम मिलती है, किन्तु दैनिक व्यय के लिए उसे बड़ी अड़चन होती है; यदि वह कोई सहायक धन्धा अपना लेगा तो उसकी यह अड़चन दूर हो जावेगी।

सहायक उद्योग-धन्धों की आवश्यकता तो केवल इसलिए है कि किसान को खेती से यथेष्ट आय नहीं होती। वह इन धन्धों से अपनी आय की वृद्धि कर सकेगा। अतएव ऐसा कोई धन्धा उसे नहीं बतलाया जा सकता जो उसके मुख्य धन्धे खेती के काम में अड़चन डाले।

अस्तु, खेती के सहायक उद्योग-धन्धों में नीचे लिखे गुण होने चाहिएँ :—

(१) धन्धा ऐसा होना चाहिए जो खेती के काम में बाधक न हो। अथवा जब खेत पर अधिक कार्य हो तब उसको बिना किसी हानि के छोड़ा जा सके।

(२) धन्धे को चलाने के लिए किसान को अधिक सीखने की आवश्यकता न पड़े। यदि धन्धा ऐसा हुआ जिसमें अधिक कुशलता की आवश्यकता हुई, तो किसान उसकी शिक्षा कैसे और कहाँ लेगा ?

(३) धन्धे में यदि कच्चे पदार्थ की आवश्यकता हो तो वह ऐसा होना चाहिए कि जो गाँव में ही उत्पन्न होता हो; नहीं तो किसान को कच्चा माल व्यापारी अथवा बनिये से खरीदना होगा और उसको बहुत मँहगे दामों पर मिलेगा।

(४) धन्धे के द्वारा तैयार होने वाली वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि जिसकी माँग सर्व साधारण में हो, जिससे माल बेचने में अधिक कठिनाई न हो। यदि गांव में ही उसकी खपत हो सके तो अच्छा है।

(५) धन्धा ऐसा होना चाहिए कि जिसके चलाने में अधिक पूँजी की आवश्यकता न पड़े। यदि अधिक पूँजी की आवश्यकता हुई तो वह धन्धा निर्धन किसान के उपयुक्त न होगा।

(६) जो भी औजार या यन्त्र धन्धों में काम आवें वे सस्ते और सादे हों।

(७) साथ ही जहां तक हो सके सहायक धन्धे ऐसे चुने जावें जिनकी प्रतिस्पर्द्धा मिलों के बने हुए माल से न हो।

यहां एक बात समझ लेनी चाहिए कि ग्राम-धन्धों अर्थात् खेती के सहायक धन्धों और गृह-उद्योग-धन्धों अर्थात् कुटीर-उद्योग-धन्धों में भेद है। साधारणतः लोग

इन दोनों प्रकार के धन्धों में भेद नहीं मानते। गृह-उद्योग-धंन्धे या कुटीर-उद्योग-धन्धे गांवों में भी हो सकते हैं और शहरों में भी हो सकते हैं। किन्तु कुटीर-उद्योग-धन्धे सहायक धन्धों के रूप में नहीं चलाये जा सकते। वे तो स्वयं मुख्य धन्धे हैं। एक किसान बुनकर के धन्धे को अपना सहायक धन्धा नहीं बना सकता। हां, वह कातने का काम कर सकता है। कुटीर धन्धों का प्रश्न एक अलग प्रश्न है और हम उसके विषय में आगे चलकर लिखेंगे।

हाँ, तो ऊपर लिखे हुए गुणों का ध्यान रखते हुए नीचे लिखे हुए सहायक धन्धे किसान के लिए उपयुक्त हो सकते हैं।

(१) वे धन्धे जो भोज्य पदार्थ उत्पन्न करते हैं : उदाहरण के लिए दूध, घी, मक्खन का धन्धा, अंडे का धन्धा, फल उत्पन्न करने का धन्धा, शाक उत्पन्नकरने का धन्धा, शहद उत्पन्न करने का धन्धा। गुड़ तथा शक्कर बनाने का धन्धा, मुरब्बा अचार बनाने तथा फलों को सुरक्षित रखने का धन्धा इत्यादि।

इन धन्धों से एक लाभ तो यह होगा कि किसान तथा अन्य ग्राम-वासियों को पौष्टिक भोजन मिल सकेगा। आज दिन भारतीय ग्राम-निवासी का भोजन जितना निम्न श्रेणी का है उतना सम्भव है कि किसी दूसरे देश के किसान का न हो। अतएव इन धन्धों की उन्नति से कम से कम यह लाभ तो अवश्य होगा कि किसान का भोजन बहुत पौष्टिक हो जावेगा। जो कुछ वह अधिक उत्पन्न करेगा, उसे बेचकर कुछ आय प्राप्त कर सकेगा। यह धन्धे खेती के काम में बिलकुल बाधक नहीं होते। घर के स्त्री-बच्चे उनकी देखभाल कर सकते हैं और अवकाश मिलने पर किसान भी उनकी देख-भाल कर सकता है। पश्चिमीय देशों में प्रत्येक किसान दूध, अंडे और फल उत्पन्न करने का धन्धा करता है। इन धन्धों का एक लाभ यह भी है कि उनके द्वारा किसान को प्रति दिन कुछ आय हो जाती है, जब कि खेती से वर्ष के अन्त में आय होती है।

मुर्गी पालने का धन्धा : मुर्गी पाल कर अंडे बेचने का धन्धा किसान के लिए एक उपयोगी धन्धा सिद्ध हो सकता है। यद्यपि हिन्दुओं में इस धन्धे का प्रचार असम्भव है; किन्तु ईसाई, मुसलमान तथा हिन्दुओं में अछूत कहे जाने वाले लोग इस धन्धे को कर सकते हैं। भारतवर्ष में जिस प्रकार गौवंश की नस्ल खराब हो गई है, उसी प्रकार मुर्गी की नस्ल खराब हो गई है। किन्तु मुर्गी की नस्ल का सुधार आसानी से हो सकता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अच्छी नस्ल (लेगहार्न) के मुर्गे-मुर्गियों के सबन्ध से मुर्गी की नस्ल को सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है। मुर्गी पालने का धन्धा उस प्रदेश के लिए बहुत उपयोगी है, जहाँ बहुधा दुर्भिक्ष पड़ता

है। घर के बच्चे इस धन्धे को सफलतापूर्वक चला सकते हैं। यह अनुमान किया गया है कि एक कुटुम्ब अंडों को बेचकर वर्ष में ५० से १५० रु० तक कमा सकता है। योरोप में डेनमार्क तथा अन्य देशों का किसान प्रतिवर्ष अंडे बेचकर यथेष्ट धन कमाता है। पूर्वीय देशों में चीनी किसान प्रतिवर्ष अंडे बेचकर यथेष्ट धन कमाता है। वहाँ अंडों को विदेशों में भेजना एक महत्वपूर्ण व्यापार बन गया है। यदि यातायात के साधनों की कमी के कारण किसी प्रदेश से अंडे बाहर नहीं भेजे जा सकते तो उनका पाउडर बनाकर भेजा जाता है। मुर्गी पालने से एक लाभ यह भी होगा कि किसान को फलों के पेड़ों के लिए बहुत उत्तम खाद प्राप्त हो जावेगी। हर एक मुर्गी वर्ष में ४० से ८० पौंड तक खाद तैयार करती है। प्रश्न हो सकता है कि यदि धंधा अधिक उन्नति कर गया, तो उसके लिए बाजार कहाँ मिलेगा। पहले तो देश में ही अंडा खाने वालों की यथेष्ट संख्या है; दूसरे, अन्य देशों को अंडा भेजा जा सकता है। यदि सुविधाओं के अभाव में ताजा अंडा न जा सके तो पाउडर बनाकर विदेशों को भेजा जा सकता है।

फलों की पैदावार : प्रत्येक देश में फल उत्पन्न करने का धन्धा एक महत्वपूर्ण धन्धा है। अभी तक भारतवर्ष में फलों को उत्पन्न करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारतवर्ष में, जहाँ कि अधिकांश जनसंख्या शाकाहारी है, फलो की अधिक पैदावार की बहुत अधिक आवश्यकता है। देश में अधिक फलो की उत्पत्ति से दो लाभ होंगे—एक तो किसान को फल खाने को मिल सकेंगे; दूसरे, वह उन्हें बेचकर कुछ धन प्राप्त कर सकेगा। यदि गाँवों के रहने वालों के भोजन में फल का समावेश हो जावे तो भी राष्ट्र का कितना हित होगा, यह प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है। फलों की पैदावार साधारणतः खराब जमीन पर भी हो सकती है। बंजर भूमि का भी फलों की पैदावार के लिए उपयोग किया जा सकता है। अस्तु; इस प्रकार की भूमि का इस प्रकार उपयोग हो सकता है। साथ ही, जब गाँवों में बहुत अधिक संख्या में फलों के वृक्ष लगाये जावेंगे, तो उनकी पत्तियों का उपयोग खाद के लिए हो सकता है। साथ ही, गाँवों में कुछ हद तक ईंधन की समस्या हल हो सकती है। कुछ फलों के वृक्ष ऐसे होते हैं, जिन्हें अधिक जल की आवश्यकता नहीं होती। उनको ऐसे प्रान्तों में उत्पन्न किया जा सकता है, जहाँ पानी कम बरसता है। आवश्यकता इस बात की है कि ग्राम-निवासियों को फलों के वृक्ष उत्पन्न करने के लिए सब तरह से प्रोत्साहित किया जावे। उन्हें अच्छी पौध बिना मूल्य दी जावे तथा फलों के वृक्षों को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक बातों की जानकारी कराई जावे।

साग-सब्जी पैदा करना : बाजार के लिए साग-सब्जी उत्पन्न करना साधारण किसान के लिए सम्भव नहीं है। वह एक स्वतन्त्र धन्धा है, किन्तु घर के उप-

योग के लिए किसान बड़ी आसानी से शाक उत्पन्न कर सकता है। आवश्यकता तो इस बात की है कि देश में गृह-वाटिका आन्दोलन चलाया जावे। प्रत्येक ग्राम-निवासी अपने मकान से मिली हुई भूमि पर फूल और सब्जी की एक छोटी-सी बाटिका लगावे। घर में जो पानी काम आता है, उसका उपयोग बाटिका में कर लिया जावे, इससे गांवों के मकानों में गन्दगी भी कम होगी, मकान की सुन्दरता बढ़ जावेगी और किसान को सब्जी खाने को मिल सकेगी। इसके लिए भी आरम्भ में किसान को बीज इत्यादि बिना मूल्य देकर प्रोत्साहित करना होगा।

शहद उत्पन्न करने का धन्धा : भारतीय ग्रामों में शहद उत्पन्न करने का धन्धा भी सफलतापूर्वक चलाया जा सकता है। शहद की मक्खी को पालकर उससे शहद प्राप्त किया जा सकता है। शहद की मक्खी को छत्ता बनाने में ही अधिक समय लगता है। यदि उस छत्ते को नष्ट न किया जावे, होशियारी से छत्ते को तेज औज़ार से काट कर उसका शहद निकाल लिया जावे और छत्ते को फिर अपने स्थान पर रख दिया जावे तो मक्खियाँ कुछ दिनों में ही छत्ते को फिर शहद से भर देंगी। इस धन्धे की विशेषता यह है कि न तो उसके लिए अधिक स्थान की ही आवश्यकता है, न उसमें अधिक परिश्रम है और न अधिक पूँजी की ही आवश्यकता है। साधारणतः एक मक्खियों का कुटुम्ब वर्ष में १०० पौंड शहद उत्पन्न करता है। शहद एक अत्यन्त पुष्टिकर भोज्य पदार्थ है। प्राचीन समय से शहद के गुणों को भारतवासी जानते हैं। किन्तु अभी तक हम लोगों ने इस धन्धे की ओर ध्यान नहीं दिया; जब कि अन्य देशों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी, का किसान इस धन्धे से प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया प्राप्त करता है। दक्षिण में वाई० एम० सी० ए० के द्वारा संचालित ग्राम-सुधार केन्द्रों में इस धन्धे की शिक्षा दी जाती है। उत्तर प्रदेश में प्रान्तीय सरकार ने मधु-मक्खी पालने की शिक्षा देने के लिए हिमालय में स्थित जेलीकोट स्थान में एक केन्द्र स्थापित किया है। वहाँ मधुमक्खी पालने के प्रयोग भी किये जाते हैं। शहद की मक्खी के लिए फूल, फल तथा पत्तियों की आवश्यकता होती है, जिससे कि वे शहद इकट्ठा कर सकें। यदि गांवों में फलों के वृक्ष, फूल तथा सब्जी उत्पन्न करने के आन्दोलन सफल हो जावें तो शहद की मक्खी पालने का काम और भी सुगम हो जावेगा। सच तो यह है कि यह धन्धे एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। विशेषज्ञों का कहना हैं कि मक्खी के फलों या उनके फूलों पर बैठने से उनकी पैदावार अच्छी होती है।

अचार मुरब्बा इत्यादि बनाने का धन्धा अभी कुछ समय तक भारत में शहरों तक ही सीमित रह सकता है। गाँवों में वह स्थापित हो सके, इसकी सम्भावना बहुत कम है। हाँ, जब गाँवों में फल बहुतायत से उत्पन्न होने लगेंगे, तब यह धन्धा वहाँ

पनप सकता है।

गुड़ बनाने का धन्धा : भारत में अधिकांश ग्राम-निवासी शक्कर के स्थान पर गुड़ का ही उपयोग करते हैं, और वैज्ञानिक अनुसन्धान से यह पता लगा है कि शक्कर की अपेक्षा गुड़ में बहुत अधिक पौष्टिक तत्व हैं। यही कारण है कि महात्मा गाँधी के द्वारा स्थापित ग्राम-उद्योग संघ देश में गुड़ के धन्धे का अधिक प्रचलन करने का प्रयत्न कर रहा है। जिन प्रान्तों में ईख की पैदावार होती है, वहाँ यह धन्धा किसान के लिए सहायक धन्धे के रूप में संगठित किया जा सकता है।

दूध का धन्धा : अधिक आबाद देशों के लिए मांस विलास की वस्तु है। जितनी भूमि पर एक गाय का निर्वाह होता है, उतनी भूमि पर अनाज उत्पन्न करके आठ मनुष्यों का भोजन उत्पन्न किया जा सकता है। अस्तु; मांसाहारी केवल वही देश हो सकते हैं, जहाँ भूमि तो बहुत है, किन्तु जनसंख्या कम है, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, अरजेन्टाइना इत्यादि। अथवा वे घने आबाद देश मांसाहारी हो सकते हैं, जो धनवान् होने के कारण विदेशों से मांस मँगाकर खा सकते हैं, जैसे इङ्गलैण्ड इत्यादि। भारतवर्ष में अधिकांश जनसंख्या शाकाहारी है। जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें मांस यथेष्ट परिमाण में नहीं मिलता। स्वाद के लिए वे कभी-कभी मांस खा लेते हैं।

अस्तु; भारतीयों के स्वास्थ्य के लिए फल और दूध की बहुत बड़ी आवश्यकता है। हमारा देश, जहां गाय को माता के समान पूजा जाता है और जहां दूध अत्यन्त प्राचीन काल से महत्वपूर्ण भोजन पदार्थ रहा है, वहां आज दूध अप्राप्य है। संसार में प्रति मनुष्य पीछे भारत में सबसे कम दूध उत्पन्न होता है। आगे दी हुई तालिका से भारत में दूध की बेहद कमी का कुछ अनुमान हो सकता है।

पिछले दिनों में इस सम्बन्ध में जो जांच हुई है, उसके अनुसार अविभाजित भारत में प्रतिवर्ष ७० से ८० करोड़ मन तक दूध उत्पन्न होता था।

विभाजन के उपरान्त भारत में ४ करोड़ १० लाख गायें और २ करोड़ भैंसें हैं, और वर्ष में ३८ अरब ६० करोड़ पौंड दूध उत्पन्न होता है। पाकिस्तान में केवल १ करोड़ पाँच लाख गायें हैं और ३२ लाख भैंसें हैं परन्तु पाकिस्तान में दूध की वार्षिक उत्पत्ति १३ अरब पौंड है। पाकिस्तान मे भारत की कुल २१·६ प्रतिशत गायें हैं परन्तु वह ३३ प्रतिशत दूध उत्पन्न करता है क्योंकि पाकिस्तान में अविभाजित भारत की दुधारू नस्लें चली गईं। भारत में एक गाय वर्ष में साधारणतया सात मन दूध देती है जब कि पाकिस्तान में गाय एक वर्ष में ११ मन दूध देती है।

प्रति व्यक्ति भारत में अन्य देशों की तुलना में दूध की उत्पत्ति बहुत ही कम है यह आगे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जावेगा।

देश	प्रति मनुष्य पीछे दैनिक उत्पत्ति औंसों में	प्रति मनुष्य पीछे दैनिक उपभोग औंसों में
न्यूज़ीलैंड	२४४	५६
डेनमार्क	१४८	४०
स्वीडन	६६	६१
आस्ट्रेलिया	६६	४५
कनाडा	६६	३५
स्विटज़रलैंड	६५	४६
नारवे	४५	४३
संयुक्त राज्य अमेरिका	३७	२५
वेलजियम	३५	३५
जर्मनी	३४	३५
फ्रांस	३३	३०
ब्रिटेन	१४	३०
इटली	११	१०
भारत	८	७

ऊपर दी हुई तालिका से यह तो स्पष्ट हो गया कि भारत में प्रति मनुष्य पीछे संसार में सबसे कम उत्पत्ति और खपत होती है। आइये अब देखें कि दूध का उपयोग हमारे देश में किस प्रकार होता है।

देश की कुल उत्पत्ति का ३१½ प्रतिशत दूध पी लिया जाता है, शेष की वस्तुएँ बनाई जाती हैं जो इस प्रकार हैं :—

वस्तु का नाम	कुल दूध की उत्पत्ति का प्रतिशत
घी	५२·७%
खोया	७·६%
मलाई, रबड़ी, खुरचन इत्यादि	२·४%
दही	३·८%
मक्खन	१·५%
क्रीम	०·४%
आइसक्रीम	०·४%

ऊपर दी हुई तालिका से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश दूध घी तथा अन्य वस्तुओं के रूप में काम आता है, पीने के लिए दूध बहुत कम मिलता है।

भारतवर्ष में अधिकांश जनसंख्या के भोजन में दूध ही एक पौष्टिक तत्व है। इस कारण भारत में दूध की बहुत अधिक आवश्यकता है। विशेषज्ञों ने हिसाब लगाकर बतलाया है कि भारत में प्रति मनुष्य पीछे १५ या १६ औंस दूध की नितान्त आवश्यकता है। अस्तु; भारत में जितना दूध उत्पन्न होता है उसका कम से कम दुगुना दूध तो नितान्त आवश्यक है।

भोजन में दूध का जो प्रभाव है उस पर दो मत नहीं हो सकते, फिर भी भारत में इस सम्बन्ध में जो प्रयोग हुए हैं उनका उल्लेख करना आवश्यक है। एक ही उमर के दो बच्चों के समूह लिए गए और दोनों को एक-सा भोजन दिया गया। एक समूह के बच्चों को १ पौंड प्रति दिन दूध दिया जाता था और दूसरे समूह के बच्चों को दूध नहीं दिया जाता था। तीन महीने तक यही क्रम चलता रहा। तीन महीने के उपरान्त उन दोनों समूहो के बच्चों की जांच की गई तो ज्ञात हुआ कि दूध पाने वाले बच्चों का वजन तथा उनकी लम्बाई दूध न पीने वालों से कहीं अधिक बढ़ी है।

अस्तु; यह निर्विवाद सत्य है कि राष्ट्र के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए दूध अत्यन्त आवश्यक है। अस्तु; सबसे पहली आवश्यकता तो इस बात की है कि देश में दूध की उत्पत्ति को बढ़ाया जावे और दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि दूध शुद्ध और सस्ता मिले। आज तो भारत में शुद्ध दूध अप्राप्य है, और जो कुछ मिलता है वह बहुत ऊँचे मूल्य पर। नगरों में तो दूध की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया हैं।

यद्यपि भारत में पृथ्वी भर के गाय-बैलों के एक तिहाई पशु हैं, फिर भी भारतवर्ष में दूध की उत्पत्ति बहुत कम है। इसका एकमात्र कारण यह है कि यहां गाय की नस्ल का कल्पनातीत ह्रास हो गया है। भारत में गोवंश के ह्रास के मुख्य तीन कारण हैं: (१) चारे की कमी (२) अच्छे सांड़ों की कमी और (३) पशुओं के रोग। इनके सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। जब तक यह तीनों समस्याएं हल नहीं होतीं तब तक गोवंश की उन्नति नहीं होगी।

गांवों से आया हुआ दूध : शहरों में दूध समीपवर्ती गांवों से आता है, अथवा शहरों में रहने वाले ग्वाले और घोसी दूध बेचते हैं। अधिकतर नगर में किसान वहां से पाँच या छह मील की दूरी से दूध बेचने आता है। जो किसान भैंस रखता है वह शहर के किसी हलवाई से बातचीत कर लेता है। हलवाई खोये के हिसाब से दूध के दाम देता है। यदि हलवाई किसान से ३ या ४ सेर का दूध लेता है तो ग्राहक को डेढ़ या दो सेर का देता है। किसान हलवाई को शुद्ध दूध देता है, किन्तु वह सायंकाल शहर में नहीं आ सकता इसलिए सायंकाल का दूध प्रातःकाल के दूध के साथ मिला कर लाता हैं, अतएव नगरवासियों को बासी दूध पीने को मिलता है। दूध बेचनेवाले

किसान को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि उसे दूध सस्ते दामों पर बेचना पड़ता है।

शहर के ग्वालों का दूध : शहरों के घोसी अपनी गाय-भैंसों को लेकर शहर में ही रहते हैं। शहरों में स्थान की कमी के कारण इन ग्वालों के स्थान बहुत ही गंदे रहते हैं। वहां एक प्रकार के कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। विशेषज्ञों का कथन है कि शहरों का दूध दूषित होता है। उसे पीने से बहुत रोग उत्पन्न होते हैं। दूध बहुत शीघ्र बिगड़ने वाली वस्तु है, इस कारण ग्वालों का दूध स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। ग्वाला भी उसी मूल्य पर दूध बेचता है जिस पर हलवाई।

दूध के धन्धे से सम्बन्धित समस्यायें : सबसे पहली समस्या तो यह है कि गाय की नस्ल का सुधार हो, जिससे हम एक पशु से दोनों काम ले सकें, अर्थात् खेती के लिए बैल, तथा दूध। इस सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। दूसरी समस्या यह है कि दूध के धन्धे का सहकारिता के आधार पर संगठन किया जावे।

दूध की सहकारी समितियों का संगठन : आस-पास के चार या पाँच गाँवों के लिए एक सहकारी समिति का संगठन किया जावे। प्रत्येक सदस्य को अपना सब दूध समिति के दफ्तर में निश्चित समय पर पहुँचाने पर बाध्य किया जाय। जर्मनी के बवेरिया प्रान्त में समितियों ने किसानों का दूध इकठा करने का एक अच्छा ढङ्ग निकाला है। प्रत्येक सदस्य को बारी-बारी से अपनी गाड़ी में गाँव भर का दूध इकठा करके समिति के कार्यालय में लाना पड़ता है। इससे दूध इकठा करने में सुविधा होती है।

डेनमार्क की सहकारी दूध समितियों की योजना इस प्रकार है :—

जिन प्रदेशों में पक्की सड़कें हैं, वहाँ समितियाँ मोटर के द्वारा सदस्यों का दूध इकट्ठा करती हैं। प्रत्येक गाँव का सदस्य निश्चित समय पर अपना दूध लेकर गाँव के बाहर सड़क पर आ जाता है। मोटर आकर उनका दूध ले जाती है। जहाँ सड़कें अच्छी नहीं हैं, वहाँ यह काम घोड़ागाड़ियों से लिया जाता है। समिति प्रत्येक सदस्य को एक बर्तन देती है, जो प्रति दिन भाप द्वारा साफ किया जाता है। सदस्य इसी बर्तन में दूध भर कर समिति को देता है।

समिति का मन्त्री वैतनिक कर्मचारी होता है, जो दूध-मक्खन के धन्धे का जानकार होता है। मन्त्री दूध की जाँच करता है। यदि दूध में मिलावट होती है, तो सदस्य को दण्ड दिया जाता है। दूध नाप कर सदस्य के हिसाब में जमा कर लिया जाता है। दूध आ जाने पर समिति का मन्त्री उसे नगर में भेज देता है और शेष दूध का मक्खन तैयार करके विदेशों को भेजता है। मन्त्री सदस्यों को पशुओं के पालन के विषय में परामर्श देता है, पशुओं की जाँच करता है तथा उनके रोगों का उपचार करता है। डेनमार्क में जो दूध और मक्खन का धन्धा इतना उन्नतिशील है,

वह दूध-समितियों के ही कारण।

भारत में दूध सहकारी समितियाँ : अभी तक भारतवर्ष में इस महत्वपूर्ण विषय की ओर जनता का ध्यान ही नहीं गया। कुछ स्थानों पर दूध सहकारी समितियाँ स्थापित हुई हैं। इनमें कलकत्ते के समीपवर्ती गांवों की दूध-समितियां विशेष उल्लेखनीय हैं। कलकत्ते के समीपवर्ती गांवों में १२६ दूध-समितियां स्थापित हैं, जो कि एक यूनियन से सम्बन्धित हैं, जिनके लगभग ६५०० सदस्य हैं। केवल कलकत्ते में ही यूनियन प्रतिदिन १५० मन दूध बेचती है। यूनियन ने कुछ भंडार स्थापित किये हैं। भण्डार पर समितियों का दूध लिया जाता है। जिन समितियों के समीप कोई भण्डार नहीं है, वे समीपवर्ती रेलवे स्टेशन पर दूध भेज देती हैं। भण्डारों के मैनेजर रेलवे द्वारा दूध कलकत्ते भेज देते हैं।

भण्डार में जब दूध आता है तो भण्डार का मैनेजर यन्त्र से उसकी जाँच करता है तथा शुद्ध बर्तनों में भर कर दूध कलकत्ते भेजता है। यूनियन ने कलकत्ते में वैज्ञानिक ढङ्ग से दूध को सुरक्षित और शुद्ध रखने के लिए फैक्टरी स्थापित की है, जहां कि दूध को गरम करके ठंडा किया जाता है। यूनियन मोटर, बैलगाड़ी तथा ठेलों द्वारा दूध ग्राहकों के पास पहुँचाती है।

कलकत्ते के अतिरिक्त बङ्गाल में ढाका, तथा दार्जलिंग में भी दूध-समितियाँ स्थापित हुई हैं। इनके अतिरिक्त लखनऊ, इलाहाबाद, मदरास इत्यादि कुछ अन्य शहरों में भी दूध-समितियाँ स्थापित हुई हैं, किन्तु अभी तक यह आन्दोलन देश में जड़ नहीं पकड़ सका है।

घी-समितियाँ : उत्तर प्रदेश में घी का धन्धा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह धन्धा व्यापारियों के हाथ में है, जो किसान को घी का कम मूल्य देकर उसमें मिलावट करके ऊँचे दामों पर ग्राहकों को बेचते हैं। अतएव ग्राहकों को शुद्ध घी देने और किसान को उचित मूल्य दिलवाने के उद्देश्य से घी की समितियाँ स्थापित की गई हैं। इस समय उत्तर प्रदेश के आगरा, इटावा, मैनपुरी, मेरठ तथा बुलन्दशहर इत्यादि जिलों में एक हज़ार के लगभग समितियाँ हैं, जिनके १२,००० से ऊपर सदस्य हैं। प्रति पखवारा प्रत्येक सदस्य का घी पंचायत के सामने गरम किया जाता है और तोला जाता है। घी सदस्य के हिसाब में जमा कर लिया जाता है। प्रत्येक जिले में एक घी यूनियन है, जो घी को बाहर भेजती है। ऊपर लिखे जिलों के अतिरिक्त एटा, मथुरा, जालौन, बांदा, हरदोई, मुरादाबाद और झाँसी में भी घी समितियाँ स्थापित की गई हैं। यह समितियाँ भविष्य में सफलता प्राप्त करेंगी, इसमें सन्देह नहीं है।

अभी तक भारतवर्ष ने दूध के धन्धे की उन्नति करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। कुछ वर्ष हुए गो-सेवा-संघ की स्थापना हुई, जो दूध के धन्धे को संगठित

किसान को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि उसे दूध सस्ते दामों पर बेचना पड़ता है।

शहर के ग्वालों का दूध : शहरों के घोसी अपनी गाय-भैंसों को लेकर शहर में ही रहते हैं। शहरों में स्थान की कमी के कारण इन ग्वालों के स्थान बहुत ही गंदे रहते हैं। वहां एक प्रकार के कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। विशेषज्ञों का कथन है कि शहरों का दूध दूषित होता है। उसे पीने से बहुत रोग उत्पन्न होते हैं। दूध बहुत शीघ्र बिगड़ने वाली वस्तु है, इस कारण ग्वालों का दूध स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। ग्वाला भी उसी मूल्य पर दूध बेचता है जिस पर हलवाई।

दूध के धन्धे से सम्बन्धित समस्यायें : सबसे पहली समस्या तो यह है कि गाय की नस्ल का सुधार हो, जिससे हम एक पशु से दोनों काम ले सकें, अर्थात् खेती के लिए बैल, तथा दूध। इस सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। दूसरी समस्या यह है कि दूध के धन्धे का सहकारिता के आधार पर संगठन किया जावे।

दूध की सहकारी समितियों का संगठन : आस-पास के चार या पाँच गाँवों के लिए एक सहकारी समिति का संगठन किया जावे। प्रत्येक सदस्य को अपना सब दूध समिति के दफ्तर में निश्चित समय पर पहुँचाने पर बाध्य किया जाय। जर्मनी के बवेरिया प्रान्त में समितियों ने किसानों का दूध इकट्ठा करने का एक अच्छा ढङ्ग निकाला है। प्रत्येक सदस्य को बारी-बारी से अपनी गाड़ी में गाँव भर का दूध इकट्ठा करके समिति के कार्यालय में लाना पड़ता है। इससे दूध इकट्ठा करने में सुविधा होती है।

डेनमार्क की सहकारी दूध समितियों की योजना इस प्रकार है :—

जिन प्रदेशों में पक्की सड़कें हैं, वहाँ समितियाँ मोटर के द्वारा सदस्यों का दूध इकट्ठा करती हैं। प्रत्येक गाँव का सदस्य निश्चित समय पर अपना दूध लेकर गाँव के बाहर सड़क पर आ जाता है। मोटर आकर उनका दूध ले जाती है। जहाँ सड़के अच्छी नहीं हैं, वहाँ यह काम घोड़ागाड़ियों से लिया जाता है। समिति प्रत्येक सदस्य को एक बर्तन देती है, जो प्रति दिन भाप द्वारा साफ किया जाता है। सदस्य [illegible] बर्तन में दूध भर कर समिति को देता है।

समिति का मन्त्री वैतनिक कर्मचारी होता है, जो दूध-मक्खन के ध[illegible] जानकार होता है। मन्त्री दूध की जाँच करता है। यदि दूध में मिलावट होत[illegible] सदस्य को दण्ड दिया जाता है। दूध नाप कर सदस्य के हिसाब में जमा [illegible] जाता है। दूध आ जाने पर समिति का मन्त्री उसे नगर में भेज देता है [illegible] दूध का मक्खन तैयार करके विदेशों को भेजता है। मन्त्री सदस्यों को [illegible] पालन के विषय में परामर्श देता है, पशुओं की जाँच करता है तथा उ[illegible] उपचार करता है। डेनमार्क में जो दूध और मक्खन का धन्धा इतना उ[illegible]

रेशम की माँग गाँवों में नहीं है, अतएव उसको बेचने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना करनी पड़ेगी।

भारतवर्ष में अभी आसाम, बङ्गाल, काश्मीर तथा मैसूर में रेशम के कीड़े पालने का धन्धा केन्द्रित है। भारतीय रेशम का कीड़ा भी बहुत नीचे दर्जे का होता है, और इसी कारण भारतीय रेशम बहुत घटिया होता है। काश्मीर तथा मैसूर राज्यों ने विदेशों से विशेषज्ञों को बुलाकर इस धन्धे की उन्नति का प्रयत्न किया है। आवश्यकता इस बात की है कि रेशम के कीड़े की नस्ल का सुधार कर दिया जाय।

भेड़ पालने का धन्धा: ऊन उत्पन्न करने का धन्धा सब जगह नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ भेड़ रह सकती है, वहाँ यह धन्धा किसान कर सकता है। इस दृष्टि से यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितने कि और धन्धे। काश्मीर, पंजाब, तथा राजपूताने में किसान इस धन्धे को कर सकता है।

इस धन्धे की उन्नति के लिए आवश्यकता है कि भेड़ की नस्ल की उन्नति की जावे और बढ़िया ऊन उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जावे। भारतीय भेड़ वास्तव में ऊन नहीं, बाल उत्पन्न करती हैं। भारतीय ऊन बहुत घटिया और छोटा होता है और उससे बढ़िया ऊनी कपड़ा तैयार नहीं हो सकता। राजपूताने के राज्य इस ओर प्रयत्नशील हैं।

इन धन्धों के अतिरिक्त रस्सी बटना, चटाई बनाना, डलिया बनाना, चावल कूटना, कपास ओटना इत्यादि ऐसे धन्धे हैं, जो कि किसान अवकाश के समय कर सकता है। किन्तु इन धन्धों की उन्नति के लिए भी अच्छे औजार के आविष्कार की आवश्यकता है। कुछ धन्धे और भी हैं जो कि किसान सहायक धन्धों के रूप में कर सकता है। वे हैं गाड़ी चलाना, समीपवर्ती नगरों में अवकाश के समय मजदूरी करना इत्यादि। जैसा कि हम आगे चलकर लिखेंगे, यदि ऐसे कारखाने जो कि गाँव में पैदा हुए कच्चे माल को आधे तैयार माल के रूप में परिणत करते हैं; जैसे कपास के पेंच, शक्कर के कारखाने, चावल तथा आटे के कारखाने इत्यादि गाँवों में खुलें तो किसान फ़ुरसत के समय इनमें काम पा सकता है।

करने तथा गो-वंश की उन्नति करने का प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। दूध के धन्धे की उन्नति होने से केवल राष्ट्र के स्वास्थ्य में ही सुधार नहीं होगा, वरन् किसान को एक अत्यन्त लाभदायक सहायक धन्धा हाथ लग जावेगा। इस दृष्टि से दूध के धन्धे की उन्नति और भी आवश्यक है। यदि गो-वंश की उन्नति की जा सके और सहकारी समितियों के आधार पर धन्धे को संगठित किया जा सके, तो भारतीय किसान को एक अत्यन्त लाभदायक धन्धा प्राप्त हो जावेगा।

(२) दूसरे प्रकार के धंधे वह हैं, जिनसे वस्त्र प्राप्त होता है। किन्तु यह तो पूर्व ही कहा जा चुका है कि वस्त्र बुनने का धन्धा सहायक धन्धे के रूप में प्रचलित नहीं किया जा सकता। किन्तु सूत कातने, रेशम के कीड़े पालने तथा भेड़ पालने का धन्धा किसान सहायक धंधे के रूप में कर सकता है।

सूत कातने का धन्धा : महात्मा गांधी के खादी आन्दोलन ने सूत कातने के धन्धे को बहुत महत्त्व प्रदान कर दिया किन्तु वैसे भी यह धन्धा किसानों के लिए महत्वपूर्ण सहायक धन्धे के रूप में चलाया जा सकता है। जिन प्रदेशों में कपास उत्पन्न होती है, वहाँ किसान अपने काम लायक कपास बचा कर रख ले और घर की स्त्रियाँ, बच्चे और पुरुष अवकाश के समय सूत कात कर गाँव में बुनकर से अपने लिए कपड़ा तैयार करवा लें। इस प्रकार कम से कम गांव के रहने वाले और विशेष-कर किसान घर के लिए यथेष्ट कपड़ा तैयार कर सकते हैं; और यदि आवश्यकता से अधिक सूत तैयार हो जावे तो किसान उसको बेच सकता है। अखिल भारतीय चर्खा संघ के तत्वावधान में बहुत से इलाकों में वस्त्र-स्वावलम्बन का प्रयोग किया गया है और उन इलाकों के हजारों परिवार अपने सूत के बने हुए कपड़े को ही पहनते हैं।

रेशम के कीड़े पालने का धन्धा : रेशम के कीड़े पालने का धन्धा भी किसान के लिए एक महत्वपूर्ण सहायक धन्धा है। चीन, जापान और फ्रान्स का किसान इस धन्धे के द्वारा खूब धन कमाता है। सर्व साधारण की यह धारणा है कि जिन प्रान्तों में जलवायु ठंडा है वहां शहतूत के वृक्ष पैदा हो सकते हैं। किन्तु यह भ्रम है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि ठंडे प्रदेशों में शहतूत के पत्तों की दो फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। अतएव रेशम वर्ष में दो बार उत्पन्न किया जा सकता है। किन्तु शहतूत की पत्तियों की एक फसल तो देश के अधिकांश भागों में उत्पन्न की जा सकती है। अतएव यह धन्धा (यदि वर्ष में केवल एक बार रेशम उत्पन्न करना हो) तो बहुत से स्थानों में प्रचलित किया जा सकता है। किन्तु किसान केवल ककूनों को इकट्ठा करके बेच सकता है। उसके रीलिंग करने में अधिक दक्षता की आवश्यकता होती है, जो कुशल कारीगर ही कर सकते हैं। जहां-जहां अंडी या मूँगा के कीड़े पनप सकते हैं, वहाँ इनको पाला जा सकता है। किन्तु उस धन्धे में एक विशेष बात है।

रेशम की माँग गाँवों में नहीं है, अतएव उसको बेचने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना करनी पड़ेगी।

भारतवर्ष में अभी आसाम, बङ्गाल, काश्मीर तथा मैसूर में रेशम के कीड़े पालने का धन्धा केन्द्रित है। भारतीय रेशम का कीड़ा भी बहुत नीचे दर्जे का होता है, और इसी कारण भारतीय रेशम बहुत घटिया होता है। काश्मीर तथा मैसूर राज्यों ने विदेशों से विशेषज्ञों को बुलाकर इस धन्धे की उन्नति का प्रयत्न किया है। आवश्यकता इस बात की है कि रेशम के कीड़े की नस्ल का सुधार कर दिया जाय।

भेड़ पालने का धन्धा : ऊन उत्पन्न करने का धन्धा सब जगह नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ भेड़ रह सकती है, वहाँ यह धन्धा किसान कर सकता है। इस दृष्टि से यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितने कि और धन्धे। काश्मीर, पंजाब, तथा राजपूताने में किसान इस धन्धे को कर सकता है।

इस धन्धे की उन्नति के लिए आवश्यकता है कि भेड़ की नस्ल की उन्नति की जावे और बढ़िया ऊन उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जावे। भारतीय भेड़ वास्तव में ऊन नहीं, बाल उत्पन्न करती हैं। भारतीय ऊन बहुत घटिया और छोटा होता है और उससे बढ़िया ऊनी कपड़ा तैयार नहीं हो सकता। राजपूताने के राज्य इस ओर प्रयत्नशील हैं।

इन धन्धों के अतिरिक्त रस्सी बटना, चटाई बनाना, डलिया बनाना, चावल कूटना, कपास ओटना इत्यादि ऐसे धन्धे हैं, जो कि किसान अवकाश के समय कर सकता है। किन्तु इन धन्धों की उन्नति के लिए भी अच्छे औजार के आविष्कार की आवश्यकता है। कुछ धन्धे और भी हैं जो कि किसान सहायक धन्धों के रूप में कर सकता है। वे हैं गाड़ी चलाना, समीपवर्ती नगरों में अवकाश के समय मजदूरी करना इत्यादि। जैसा कि हम आगे चलकर लिखेंगे, यदि ऐसे कारखाने जो कि गाँव में पैदा हुए कच्चे माल को आधे तैयार माल के रूप में परिणत करते हैं; जैसे कपास के पेंच, शक्कर के कारखाने, चावल तथा आटे के कारखाने इत्यादि गाँवों में खुलें तो किसान फ़ुरसत के समय इनमें काम पा सकता है।

परिच्छेद १३

जमीन का बन्दोबस्त और मालगुजारी

हम पिछले परिच्छेदों में देश के कृषि-उद्योग की वर्तमान दशा, उसमें सुधार की आवश्यकता और उसके उपायों के बारे में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। लेकिन केवल अच्छे बीज, हल, खाद इत्यादि से ही खेती की उन्नति नहीं हो सकती और न किसान की आर्थिक दशा में ही सुधार हो सकता है। इस सम्बन्ध में जमीन का बन्दोबस्त और मालगुजारी का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है, और उसका कृषि से घनिष्ट सम्बन्ध भी है। देश में प्रचलित जमीन के बन्दोबस्त की विभिन्न प्रणालियों का खेती पर, किसानों की आर्थिक दशा पर और देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, कृषि द्वारा उत्पन्न सम्पत्ति के बँटवारे का भी प्रश्न जमीन के बन्दोबस्त की विभिन्न प्रणालियों से जुड़ा हुआ है। इन सब कारणों से हमारे लिए इनके बारे में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इसका अध्ययन करने से हमें यह पता चलता है कि जमीन के सम्बन्ध में किस के क्या-क्या अधिकार हैं। अस्तु; यह स्पष्ट है कि यदि जमीन का बन्दोबस्त ऐसा है कि किसान को भूमि की उर्वरा शक्ति बनाये रखने के लिए इच्छा रहती है, वह उस पर परिश्रम करने में लाभ देखता है और भूमि की पैदावार का अधिकांश भाग उसको ही प्राप्त होता है तथा उसके वंशज उस भूमि के स्वामी रहते हैं; तो किसान समृद्धि-शाली होंगे, खेती अच्छी होगी, और संतुष्ट किसान राष्ट्र की एक महान् शक्ति बनेंगे। किन्तु यदि किसान का भूमि पर कोई अधिकार न हो, उससे मनमाना लगान वसूल किया जावे और उसे जब चाहे तब भूमि पर से हटा दिया जावे, तो उसका परिणाम होगा निर्धन किसान-वर्ग, खेती की गिरी हुई दशा और राजनीतिक गड़बड़। अस्तु; किसी भी देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दशा को ऊँचा बनाये रखने के लिए भूमि के बन्दोबस्त का अच्छा होना नितान्त आवश्यक है। भारत जैसे देश में जहाँ तीन चौथाई जनसंख्या भूमि पर ही लगी हुई है, भूमि का आदर्श बन्दोबस्त और भी महत्त्व का प्रश्न बन जाता है।

यदि हम चाहते हैं कि भारतीय किसान की आर्थिक स्थिति सुधरे, खेती की

उन्नति हो और किसान सम्पन्न हो तो हमें प्रचलित जमीन के बन्दोबस्त की विभिन्न प्रणालियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। परन्तु इससे पहले कि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि किस प्रकार का बन्दोबस्त आदर्श होगा, प्रचलित भूमि के बन्दोबस्त की विभिन्न प्रणालियों का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

विभिन्न प्रणालियाँ : मोटे रूप से भारतवर्ष में प्रचलित बन्दोबस्त तथा मालगुजारी की प्रणालियों को नीचे लिखी श्रेणियों में बांटा जा सकता है : (अ) जमींदारी बन्दोबस्त, (क) ग्राम या महलवारी बन्दोबस्त और (ख) रैयतवारी बन्दोबस्त। अब हम संक्षेप में इनमें से हर एक के बारे में विचार करेंगे।

किन्तु इससे पूर्व कि हम भिन्न-भिन्न प्रकार के बन्दोवस्त की प्रणालियों का अध्ययन करें, यह जानना आवश्यक है कि आधुनिक बन्दोबस्त की प्रणालियों का विकास किस प्रकार हुआ। अत्यन्त प्राचीन काल में जब कि देश में जनसंख्या बहुत कम थी और भूमि की कोई कमी नहीं थी, ग्राम-संस्था का देश में बहुत अधिक प्रभाव था और वे ही एक प्रकार से सर्वेसर्वा थीं। इन ग्राम-संस्थाओं द्वारा ही देश का शासन होता था। ग्राम-संस्था अपने अधिकार का प्रयोग ग्राम-पंचायत द्वारा करती थी। उस समय यद्यपि किसान ही भूमि का मालिक था, उसके ऊपर कोई भू-स्वामी अथवा जमींदार नहीं था, फिर भी उसका सीधा सम्बन्ध शासक से होता था। ग्राम-संस्था को भूमि पर कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे, जिनका प्रयोग वह गांव के सार्वजनिक हित में करती थी। गांव की गोचर-भूमि, घास के मैदान, तालाब और सिंचाई की नहरों पर एकमात्र ग्राम-संस्था का अधिकार था। यदि कोई किसान इस प्रकार की भूमि को अपने व्यक्तिगत अधिकार में लाने का तनिक भी प्रयत्न करता तो गांव की सभा उसको दण्ड देती थी। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई, यह आवश्यक होता गया कि किसान का अपने पशुओं को गोचर भूमि में चराने तथा घास और लकड़ी काटने का अधिकार सुरक्षित कर दिया जावे। अतएव जंगल, घास के मैदान और सिंचाई की नहरों का सामूहिक प्रबन्ध और भी आवश्यक हो गया। नहीं तो बढ़ी हुई जनसंख्या को खिलाने के लिए जो गहरी खेती की आवश्यकता थी, वह होना सम्भव न होती। इन सबका प्रबन्ध सार्वजनिक हित में ग्राम-संस्था पंचायत के द्वारा करती थी। यही नहीं, शताब्दियों तक ग्राम-संस्था ही गांव वालों से भूमि-कर (मालगुजारी) वसूल करके राज्य को देती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल से लेकर मुसलमानों के शासन-काल तक यही प्रथा प्रचलित थी कि राज्य गांव की मालगुजारी सरकारी खजाने में जमा करने की जिम्मेदारी ग्राम-पंचायत पर रखता था। जब गांव की मालगुजारी निर्धारित की जाती तो किसी एक किसान को कितनी मालगुजारी (भूमि-कर) देना है, यह निश्चय नहीं किया जाता था। सारे गांव को

कितनी मालगुजारी राज्य को देना है, यह निर्धारित कर दिया जाता था और ग्राम-संस्था उतनी मालगुजारी वसूल करके राज्य के खजाने में जमा करने के लिए उत्तरदायी होती थी। मुसलमानी शासन-काल में प्रत्येक किसान से व्यक्तिगत रूप से मालगुजारी वसूल करने की प्रथा प्रचलित हुई। परन्तु मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में फिर सामूहिक रूप से गाँवों में मालगुजारी वसूल करने की प्रथा प्रचलित की गई। प्रान्तीय सूबेदार प्रत्येक गाँव के मुखिया से गाँव भर की मालगुजारी के सम्बन्ध में एक समझौता कर लेता था। मुखिया गांव की तरफ से उतनी मालगुजारी सरकारी खजाने में जमा करने का वचन देता था।

प्राचीन समय में हिन्दू शासक मनु के अनुसार खेत की पैदावार का छठा भाग कर स्वरूप लेते थे, किन्तु युद्ध अथवा ऐसे ही कठिन समय में भूमि की पैदावार का एक चौथाई तक ले लिया जाता था। मालगुजारी वसूल करने का यह ढंग बहुत अच्छा और न्यायपूर्ण था; क्योंकि यदि किसी वर्ष खेती की पैदावार कम होती या फसल नष्ट हो जाती तो किसान को मालगुजारी उस पैदावार का छठा भाग ही देना पड़ता अर्थात् फसल खराब होने पर राज्य का भाग भी कम हो जाता था। इस कारण उस समय मालगुजारी में छूट देने की कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। यद्यपि इस प्रथा के ये गुण थे, किन्तु साथ ही उसमें दोष भी बहुत-से थे। जैसे-जैसे देश में जनसंख्या बढ़ती गई और खेती का विस्तार होता गया, वैसे ही वैसे भूमि की पैदावार को लगान के रूप में इकट्ठा करना कठिन होता गया। इसी कारण बाद को इस प्रथा को छोड़ना पड़ा। मुसलमानों के शासन-काल में पैदावार के स्थान पर नकदी में मालगुजारी वसूल करने की प्रथा का प्रचलन हुआ।

हिन्दू शासनकाल में मालगुजारी इत्यादि का प्रबन्ध कुटुम्ब के आधार पर होता था। प्रत्येक कुटुम्ब का प्रमुख व्यक्ति गांव की सभा (कौंसिल) का सदस्य होता था। गांव का मुखिया इस सभा का अध्यक्ष होता था। दस गाँव के मुखियों की एक दूसरी सभा होती थी, जिसका अध्यक्ष चौधरी कहलाता था। दस चौधरी, जो कि सौ गाँवों का प्रतिनिधित्व करते थे, परगना कौंसिल या सभा बनाते थे और दस परगनों की एक बड़ी सभा या कौंसिल एक राजा की अधीनता में शासन-कार्य करती थी। मुखिया लोग अपने-अपने गाँव की मालगुजारी राजा से तय कर लेते थे और फिर उसको कुटुम्बों में बाँट देते थे। मुसलमानी शासन-काल के आरम्भ तक यह सामूहिक मालगुजारी प्रथा प्रचलित रही।

भारतवर्ष में जब मुसलमान शासकों की नींव मजबूत हो गई तो उन्होंने मालगुजारी प्रथा में कुछ परिवर्तन किया। उन्होंने बादशाह के परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भूमि का एक भाग अलग सुरक्षित कर दिया। यह सुरक्षित

भूमि "खालसा" कहलाती थी और शेष भूमि को 'जागीरी' कहते थे। यह जागीरी भूमि ताल्लुकेदारों और सूबों में बाँट दी जाती थी, जो कि बादशाह को सालाना खिराज देते थे, और जब बादशाह को युद्ध के अवसर पर सहायता की आवश्यकता होती थी तो वह सैनिक सहायता देते थे। यह सूबा तथा ताल्लुकेदार अपने अधीनस्थ जागीरदारों को वह भूमि बाँट देते थे। इस प्रकार भारतवर्ष में जागीरदारी प्रथा का उदय हुआ। किन्तु पाठक जागीरदारी प्रथा को जमींदारी प्रथा न समझ लें। वास्तव में जागीरदारी प्रथा और जमींदारी प्रथा में कोई भी समानता नहीं है। यह दोनों एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। अकबर के शासन-काल में और उसके उपरान्त अन्य मुगल बादशाहों के शासन-काल में इस प्रथा में परिवर्तन कर दिया गया। इस प्रथा के स्थान पर ठेकेदारी (Farming) की प्रथा को चलाया गया। गाँव की मालगुजारी वसूल करने का ठेका ठेकेदारों (Revenue Farmers) को दे दिया जाता था, जो कि एक निश्चित रकम या पैदावार सरकारी खजाने में जमा कर देते थे। शेरशाह ने मालगुजारी पैदावार में न लेकर नकदी में लेने का प्रयत्न किया। किन्तु वास्तव में नकद रुपयों में मालगुजारी लेने की प्रथा अकबर के शासन-काल में प्रचलित हुई, जब उसके प्रसिद्ध मंत्री राजा टोडरमल ने भूमि का नया बन्दोबस्त किया और मालगुजारी नये सिरे से निर्धारित की। भूमि को नाप करके उसको चार श्रेणियों में विभाजित किया गया और राज्य का भाग भूमि की कुल पैदावार का एक तिहाई रक्खा गया। बन्दोबस्त हर नौ वर्ष बाद होना था। किसानों को यह सुविधा दी गई कि वे चाहें तो बन्दोबस्त से पिछले १६ वर्षों के औसत मूल्य (खेती की पैदावार) के हिसाब से मालगुजारी नकद रुपयों में चुका दें।

ठेकेदारों और जमीदारों का उदय : औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त जब कि केन्द्रीय सरकार निर्बल हो गई तो छोटे-छोटे सरदारों, जमींदारों और ठेकेदारों ने किसानों से मनमाना रुपया वसूल करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने सरकार द्वारा निर्धारित मालगुजारी के अतिरिक्त कई प्रकार के "अबवाब" वसूल करना शुरू कर दिये और वे किसान को लूटने लगे। यह स्थिति उन प्रदेशों में और भी भयंकर रूप में उपस्थित हुई जो कि केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों की राजधानियों से अधिक दूरी पर थे। दक्षिण और पश्चिम में जहाँ ग्राम-संस्था बलवान् थी और मराठा-साम्राज्य शक्तिशाली था, वहाँ इस प्रकार के भू-स्वामियों को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिला। इस कारण वहाँ उस समय भी ग्राम-संस्थायें ही सामूहिक रूप से मालगुजारी अपने गाँव वालों से जमा करके राज्य को देती रहीं। वे ठेकेदारों तथा जमीदारों की लूट से बच गए। दक्षिण-पश्चिम में ग्राम संस्थायें ही केन्द्रीय, प्रान्तीय और ग्राम्य करों को उगाहती रहीं; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, जब कि ब्रिटिश सरकार

ने भूमि का नवीन बन्दोबस्त किया, तब से यह ग्राम-संस्था निर्बल होकर नष्ट होने लगी। ब्रिटिश शासन में ग्राम-संस्थाओं (Village Communities) की नितान्त अवहेलना की गई और व्यक्तियों से मालगुजारी वसूल करने की प्रथा प्रचलित की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्राम-संस्था नितान्त निर्बल और शक्तिहीन हो गई।

किन्तु उत्तर भारत में तो बहुत पहले ही ग्राम-संस्था नष्ट हो चुकी थी। जब मुगल-साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया तो सूबेदारों और प्रभावशाली जागीरदारों ने देश भर में छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। इसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें नितान्त शक्तिहीन हो गईं। बहुत बड़ी संख्या में छोटे-छोटे राजे और नवाबों ने स्वतन्त्र शासक बनकर मनमानी करना आरम्भ कर दिया। जब कि राजनैतिक स्थिति ऐसी डाँवाडोल थी और केन्द्रीय सरकार का प्रभाव प्रान्तीय सूबेदारों और जागीरदारों पर बहुत कम हो गया, तो केन्द्रीय सरकार (Central Government) को मालगुजारी वसूल करने के तरीके में परिवर्तन करना पड़ा। उस नवीन पद्धति को ठेकेदारी पद्धति (Rent Farming) कहते हैं। केन्द्रीय सरकार ने इस ठेकेदारी पद्धति को इसलिए अपनाया कि जिससे शाही खजाने को मालगुजारी मिलती रहे। इस पद्धति में किसी एक परगने या जिले की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार एक ठेकेदार को दे दिया जाता था। ठेकेदार वसूल की हुई मालगुजारी का ६० प्रतिशत तो शाही खजाने में जमा कर देता था और १० प्रतिशत अपने पास रखता था। इसके उपरान्त किसी जिले या परगने की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार सर्वजनिक रूप से नीलाम कर दिया जाता था और जो सबसे अधिक बोली बोलता था, उसी को मालगुजारी वसूल करने का अधिकार दे दिया जाता था। ठेकेदार निर्धारित रकम खजाने में जमा कर देता था और जो बचता था, वह अपने पास रख लेता था। क्रमशः मालगुजारी वसूल करने की ठेकेदारी पद्धति समस्त भारतवर्ष में प्रचलित हो गई। आरम्भ में ठेकेदारी न तो वंश-परम्परागत पैतृक होती थी और न ठेकेदार किसानों से निर्धारित मालगुजारी से अधिक ही वसूल कर सकता था, क्योंकि बन्दोबस्त करने के उपरान्त सरकार जो मालगुजारी निर्धारित कर देती थी, ठेकेदार उतनी ही मालगुजारी वसूल कर सकता था। और राज्य-कर्मचारी इसकी देखभाल करते थे कि ठेकेदार किसानों को परेशान तो नहीं करता या उनसे अधिक कर वसूल तो नहीं कर लेता। किन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, स्थिति में परिवर्तन होता गया। केन्द्रीय सरकार इतनी निर्बल होती गई कि वह इन ठेकेदारों पर भी नियंत्रण न रख सकी। वे लोग मनमानी मालगुजारी वसूल करने लगे। ठेकेदार किसान से जितना वसूल कर पाता था कर लेता

था। क्रमशः यह ठेकेदार अपने-अपने क्षेत्रों में बहुत प्रभावशाली बन गए। उनके पास सिपाहियों और कारिन्दों की एक बहुत बड़ी सेना रहती थी। इस कारण उनका प्रभाव और आतंक बहुत बढ़ गया। किसी नये आदमी के लिए यह असम्भव हो गया कि वह मालगुजारी वसूल कर सके। अस्तु; कोई भी व्यक्ति किसी परगने या जिले की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार खरीदने की भूल नहीं करता था। केन्द्रीय सरकार की बढ़ती हुई निर्बलता के साथ-साथ उनका यह अधिकार पैतृक हो गया। जब इन ठेकेदारों की स्थिति दृढ़ हो गई और उन्हें अपने हटाये जाने का भय नहीं रहा तो उन्होंने असहाय किसानों पर मनमानी लागतें और अववाब लगाने आरम्भ कर दिये। निर्धारित मालगुजारी के अतिरिक्त वे लागतों और अववाब के रूप में किसानों से बहुत रुपया ऐंठ लेते थे। मुगल-साम्राज्य के विध्वंस होने पर तो यह राजनैतिक अंधकार और भी गहरा हो गया। इन ठेकेदारों ने भूमि पर अपना स्वामित्व भी स्थापित कर लिया। गांव की बंजर भूमि तथा 'सीर' पर तो उन्होंने यों ही अपना अधिकार स्थापित कर लिया और किसानों को उन्होंने अपनी भूमि उन (ठेकेदारों) के हाथ बेचने के लिए विवश कर दिया। पुरानी मालगुजारी पद्धति के इस प्रकार नष्ट हो जाने का परिणाम यह हुआ कि बहुत तरह के काश्तकार और जमींदार पैदा हो गए, जिनके अधिकार भिन्न थे। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के छिन्न-भिन्न हो जाने से नियमित बन्दोबस्त नहीं हो सकता था, इस कारण स्थिति और भी बिगड़ गई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दक्षिण और पश्चिम में ग्राम-संस्था सबल थी, इस कारण इन ठेकेदारों को मनमानी करने का अवसर नहीं मिला, किन्तु उत्तर में ग्राम-संस्था बिलकुल नष्ट हो गई और ठेकेदार भूमि के मालिक बन बैठे। दक्षिण में ग्राम-संस्था उस समय नष्ट हुई जब ब्रिटिश सरकार ने वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में रैय्यतवारी प्रथा प्रचलित की और बन्दोबस्त करवाया।

जब १७६५ में शाह आलम ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को मालगुजारी वसूल करने का अधिकार दिया, उस समय बंगाल में ठेकेदारी प्रथा प्रचिलित थी और लार्ड कार्नवालिस के समय में उन्होंने अपनी स्थिति को बहुत मजबूत कर लिया था। वे भूमि के स्वामी की भाँति अपने को प्रकट करते थे। लार्ड कार्नवालिस ने भूल से उन्हें उस भूमि का जमींदार मान लिया। लार्ड कार्नवालिस ठेकेदारी पद्धति से परिचित नहीं थे। उन्होंने समझा कि यही वास्तव में भूमि के मालिक हैं। अस्तु; मालगुजारी प्रथा का सुधार करने के उद्देश्य से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उन्हें पूर्ण जमींदारी के अधिकार प्रदान कर दिये और उन्हें भूमि का स्वामी स्वीकार कर लिया। १७९३ में स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) करके लार्ड कार्नवालिस ने भारतीय मालगुजारी के ठेकेदारों को इङ्गलैंड के भू-स्वामियों के सदृश बना दिया और

किसानों के अधिकार छीन लिए गए। अभी तक किसान यदि लगान देता था, तो उसको भूमि पर से बेदखल नहीं किया जा सकता था। किन्तु अब जमींदार की इच्छा पर वह बेदखल किया जा सकता था। यही नहीं, मकान बनाने की भूमि, बंजर, चरागाह, बन-भूमि, बांधों, तालाबों, सिंचाई की नहरों और मछलियों पर जो रैयत का अधिकार था, वह भी नष्ट होगया और उन सब पर जमींदार का अधिकार हो गया। यही नहीं गाँव के काम करने वालों से काम कराने तथा छोड़े हुए खेतो की उपज को लेने का अधिकार भी छिन गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लार्ड कार्नवालिस की यह इच्छा थी कि जिस प्रकार स्थायी बन्दोबस्त द्वारा जमींदारो की मालगुजारी, जो कि वे सरकार को देंगे, निर्धारित कर दी गई है, उसी प्रकार किसान जो लगान जमींदारों को देंगे, वह भी निर्धारित कर दी जावे। किन्तु ऐसा करने के लिए जो विस्तृत जांच की आवश्यकता थी, वह उसके युद्धों में फँसे रहने, जाँच का व्यय तथा कानूनगो के पद को तोड़ देने के कारण सम्भव न हो सकी। कुछ ही वर्षों में लगान की प्रचलित दर, जो रिवाज से निर्धारित होती थी, समाप्त हो गई। जमींदार मनमाना लगान लेने लगे। यही नहीं, किसानों के अधिकार इस शीघ्रता से लुप्त हो गए कि उनका मालूम करना कि वे क्या थे, असम्भव हो गया। ग्राम-संस्था बिलकुल नष्ट हो गई। किसान असंगठित थे। अस्तु; जमींदार ने बंजर और चरागाह पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया और उसको भी वे लगान पर उठाने लगे।

वास्तव में यदि देखा जावे तो यह जमींदारियाँ अभी कुछ समय हुआ ब्रिटिश शासन-काल में ही बनी हैं। यह भारत की प्राचीन संस्था नहीं है। जमींदारियों के बनने के मुख्य कारण नीचे लिखे हैं :—या तो जमींदारियाँ मालगुजारी के ठेकेदारो को जमींदार मान लेने से बनीं; जैसा कि बंगाल, बिहार, पूर्वीय उत्तर प्रदेश, उत्तरी मदरास, और बम्बई के कुछ भागों में हुआ; या फिर जमींदारियाँ उन छोटे-छोटे सामन्तो की रियासतों की बनी जिनका 'खिराज' मालगुजारी मे परिणत कर दिया गया; जैसा कि मदरास और मध्यप्रान्त में हुआ; अथवा राज्य की सेवा के उपलक्ष्य में दी गई जागीरों से बनी; जैसा कि अवध के ताल्लुकेदारो के साथ हुआ; अथवा रियासत के बंधक रखने और उसके खरीदने से जमींदारियाँ बनीं। यह जमींदारियाँ बैंकर्स तथा महाजनों के हाथ में आई। अस्तु; यह स्पष्ट है कि आधुनिक जमींदारी-प्रथा भारत की प्राचीन संस्था नहीं है। यह हमारे देश को ब्रिटिश शासन की देन है। इससे पहले भारत में जमींदार नहीं थे। जमींदारी-प्रथा के प्रचलित होने से ग्राम-संस्था लुप्त हो गई और किसान का भूमि पर से अधिकार उठ गया। साथ ही जमींदार किसान और राज्य के बीच में एक दलाल के रूप में प्रकट हुआ तथा वह किसान का मनमाना

शोषण करने लगा।

कुछ समय के उपरान्त स्थायी बन्दोबस्त पूर्वीय ,उत्तर प्रदेश में भी प्रचलित किया गया और उसका भी यही दुष्परिणाम हुआ। मध्यप्रान्त में मराठा काल के मालगुजारों को भूमि का स्वामी बना दिया गया, यद्यपि उनका दर्जा बंगाल के जमींदारों से नीचा था और वहाँ अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement) किया गया। अवध में १८५७ के गदर में वहाँ के छोटे-छोटे सामन्तों, जागीरदारों और मालगुजारी के ठेकेदारों को सिपाही विद्रोह के समय उनकी अंग्रेजों के लिए अमूल्य सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें जमींदार बना दिया गया। यही नहीं कि अवध में ताल्लुकेदारों की सृष्टि की गई, वरन् उन्हें विशेप अधिकार भी दे दिए गए।

इसके उपरान्त मदरास और बम्बई की बारी आई किन्तु मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद भी यहां राजनैतिक गड़बड़ी उपस्थित नहीं हुई, क्योंकि वहां शक्तिवान् मराठा साम्राज्य स्थापित था। अस्तु, वहाँ उत्तर भारत की भांति मालगुजारी के ठेकेदारों का वर्ग उत्पन्न नहीं हो सका, और ब्रिटिश शासक जमींदारों की सृष्टि न कर सके, जैसा कि उन्होंने उत्तर में किया था। किन्तु उन्होने वहाँ अत्यन्त शक्तिवान् ग्राम-संस्था की अवहेलना करके रैयतवारी प्रथा को प्रचलित किया। इस प्रकार इन प्रान्तों में अस्थायी बन्दोबस्त के साथ रैयतवारी प्रथा का जन्म हुआ। आरम्भ में जो मालगुजारी निश्चित की गई वह बहुत अधिक थी जिसके कारण किसानों को बहुत कष्ट हुआ। इसके अतिरिक्त शेप उत्तर प्रदेश में महलवारी प्रथा और अस्थायी बन्दोबस्त प्रचलित किया गया।

भूमि के बन्दोवस्त की भिन्न भिन्न पद्धतियाँ : जहाँ तक भूमि के स्वामित्व का प्रश्न है, हम पहले ही कह चुके हैं। यहाँ बन्दोबस्त की तीन विभिन्न पद्धतियाँ हैं— (१) जमींदारी पद्धति, (२) महलवारी पद्धति, (३) रैयतवारी पद्धति। वास्तव में भारत में और भी कई पद्धतियाँ हैं। इसका कारण यह है कि भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक दशा प्रत्येक भाग में एक-सी नहीं रही। यही कारण है कि देश में भूमि के बन्दोबस्त की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। परन्तु ऊपर बतलाई हुई पद्धतियाँ मुख्य हैं।

जमींदारी बन्दोबस्त : इस पद्धति में एक जमींदार या कई साझेदार समस्त रियासत पर लगान देने के जिम्मेदार होते हैं। इसका विशेष लक्षण यह है कि जमीन का मालिक एक जमींदार होता है, वह स्वयं खेती नहीं करता वरन् खेती के लिए भूमि किसानों को उठा देता है, जिनसे वह लगान वसूल कर सकता है। अपनी जमींदारी की मालगुजारी सरकार को देने की जिम्मेदारी जमींदार पर होती है और किसानों तथा राज्य का आपस में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। यह प्रथा बंगाल, बिहार, उत्तरी मदरास, बनारस और अवध तथा बम्बई और मध्यप्रान्त के कुछ भागों में प्रचलित है। अधि-

कांश बङ्गाल, उत्तरी मदरास, बिहार और बनारस में सरकार और जमींदारों में स्थायी बन्दोबस्त है और शेष प्रान्तों में अस्थायी बन्दोबस्त है। इस पद्धति में जमींदार सरकार और किसानों के बीच में दलाली का काम करते हैं।

ग्राम या महलवारी बन्दोबस्त : इस प्रकार के बन्दोबस्त का लक्षण यह है कि गाँव की जमीन का मालिक कोई एक जमींदार नहीं होता जो कि जमीन की मालगुजारी के लिए सरकार के सामने जिम्मेदार हो, पर सारे गाँव वाले मिलकर ही मालगुजारी के लिए जिम्मेदार होते हैं। गाँव वालों से मतलब गाँव के प्रत्येक रहने वाले से नहीं है, बल्कि सिर्फ उन लोगों से है, जो कि गाँव की जमीन के एक न एक हिस्से के मालिक होते हैं। यहाँ ध्यान रखने की बात सिर्फ इतनी सी है कि प्रत्येक गाँव में ऐसे लोग भी होते हैं, जिनका गाँव की भूमि में मालिक की हैसियत से कोई हिस्सा नहीं होता, जो जमीन के मालिकों से जमीन किराये पर लेकर खेती अवश्य करते हैं।

बात यह है कि वास्तव में गाँव की जमीन के यह हिस्सेदार एक ही कुटुम्ब के थे अथवा वहाँ ग्राम-संस्था इतनी शक्तिवान थी कि व्यक्तिगत रूप से सरकार और जमीन के मालिकों का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। सरकार से सम्बन्धित जो भी कार्य होते थे, उनमें ग्राम-संस्था एक व्यक्ति के समान सभी हिस्सेदारों का प्रतिनिधित्व करती थी। जब अंग्रेजी सरकार ने इन प्रदेशों की मालगुजारी पद्धति का नवीन संगठन किया तो उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया और सरकार भूमि के हिस्सेदारों अथवा ग्राम-संस्था से मालगुजारी के सम्बन्ध में इकरारनामा कर लेती है। यह हिस्सेदार व्यक्तिगत रूप से तथा सम्मिलित रूप से सरकार को मालगुजारी देने के लिए जिम्मेदार होते हैं। एक हिस्सेदार को सरकार लम्बरदार नियुक्त कर देती है। मध्यप्रदेश में उसे मालगुजार कहते हैं। यह सरकार तथा अन्य हिस्सेदारों के बीच में सम्पर्क स्थापित करता है।

महलवारी प्रथा उत्तरप्रदेश (बनारस और अवध को छोड़कर), पंजाब और मध्यप्रान्त में प्रचलित है। लम्बरदार या मालगुजार ग्राम-संस्था की ओर से सरकारी खजाने में मालगुजारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होता है। इन प्रान्तों में बन्दोबस्त अस्थायी (३० वर्ष के लिए) होता है। लगान का लगभग आधा सरकार मालगुजारी के रूप में ले लेती है।

रैयतवारी पद्धति : यह पद्धति अधिकांश मदरास (उत्तरी सरकार के जिलों को छोड़कर जहाँ कि स्थायी बन्दोबस्त है), आसाम, बम्बई (कुछ जिलों को छोड़कर जहाँ जमींदारी प्रथा है), सिंध और बरार में प्रचलित है। रैयतवारी पद्धति का लक्षण यह है कि यहाँ सरकार काश्तकारों से सीधा सम्बन्ध रखती है, दोनों के बीच में जमींदार रूपी दलाल नहीं होता। प्रत्येक किसान अपनी जमीन की मालगुजारी देने

लिए स्वयं सरकार के सामने जिम्मेवार होता है और उसके तथा सरकार के बीच में कोई तीसरा आदमी नहीं होता।

बन्दोबस्त : भारतवर्ष में कई प्रकार का बन्दोबस्त देखने को मिलता है। अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement) २० या ३० वर्ष के लिए होता है। किसी प्रान्त में ३० वर्षों के लिए बन्दोबस्त होता है तो किसी में २० वर्षों के लिए। स्थायी बन्दोबस्त सदैव के लिए होता है। बन्दोबस्त का यह विभाजन समय के ऊपर निर्धारित है। स्थायी बन्दोबस्त अधिकांश बंगाल, बनारस कमिश्नरी और मदरास के उत्तरी-पूर्वी जिलों में प्रचलित है। बन्दोबस्त का विभाजन भूमि के प्रबन्ध और मालगुजारी अदा करने के ढंग पर भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से बन्दोबस्त तीन तरह का होता है—, (१) जमींदारी, (२) महलवारी, (३) रैयतवारी।

बन्दोबस्त का अर्थ यह है कि यह निश्चय किया जावे कि कितनी मालगुजारी राज्य को दी जावेगी, मालगुजारी कौन देगा तथा भूमि पर जितने पक्षों का अधिकार है अथवा उनका स्वार्थ है, उनका लेखा रक्खा जावे।

बन्दोबस्त करने के लिए गांव के नकशे से भूमि सम्बन्धी पूरा लेखा तैयार किया जाता है। इसके अतिरिक्त भूमि पर किन का स्वामित्व है और किन का खेती करने का अधिकार है और मालगुजारी कितनी है और उसको कौन देगा इसका भी लेखा रहता है। भूमि की प्रत्येक बन्दोबस्त के समय पैमायश और जाँच होती है और नकशे तैयार किए जाते हैं। इन नकशों में गाँव में मिलने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि तथा किसानों की जोत (खेत) पृथक-पृथक देखी जा सकती है। अधिकारों का जो लेखा (Record of Rights) तैयार किया जाता है, उसमें जमींदार, पट्टीदार, भिन्न-भिन्न प्रकार के काश्तकार और उनके अधिकारों का वर्णन रहता है। उसमें भूमि के बंधक रखने, बेंच देने और पट्टे पर उठा देने के जो नवीन अधिकारी उत्पन्न हो जाते हैं, उनका भी उल्लेख रहता है। इसके उपरान्त भूमि का मूल्य कूता जाता है, पैदावार का हिसाब लगाया जाता है और उसके आधार पर मालगुजारी निर्धारित की जाती है। इसके उपरान्त किसको कितनी मालगुजारी देनी है इसका निर्णय किया जाता है। मालगुजारी एक साथ एक मुश्त नहीं वसूल की जाती, वरन् किश्तों में वसूल की जाती है। यदि भूमि पर अधिकार रखने वाला व्यक्ति मालगुजारी अदा नहीं करता है, तो उसको दण्ड दिया जाता है, राज्य की मालगुजारी वसूल की जाती है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में दण्ड की व्यवस्था भिन्न है। स्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में यदि मालगुजारी उचित समय पर नहीं दी जाती है, तो रियासत बेंच दी जाती है। अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में इतनी कठोरता नहीं बरती जाती। मालगुजारी न देने वालों की स्थिति का पूरा ध्यान

रक्खा जाता है और उन्हें काफी समय दिया जाता है। जब किसी प्रकार भी मालगुजारी वसूल नहीं होती और सब सुविधाएँ देने पर भी कोई मालगुजारी नहीं देता तो अन्त में उस भूमि को बेच दिया जाता है। किन्तु अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में शायद ही कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती हो जब कि भूमि को बेचना पड़े। स्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में फसल के नष्ट हो जाने या खेती की पैदावार के मूल्य के गिर जाने पर मालगुजारी में कोई छूट नहीं दी जाती। परन्तु अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में यदि फसल नष्ट हो जाती है या खेती की पैदावार की कीमत बहुत गिर जाती है तो माल-गुजारी में यथेष्ट छूट कर दी जाती है। जमींदार और किसान दोनों को ही छूट का लाभ मिलता है जिससे कि किसानों और जमींदारों पर क्रमशः लगान और माल-गुजारी का भार कम रहे। किन्तु इन प्रान्तों में भी लगान या मालगुजारी में छूट तभी दी जाती है, जबकि यह प्रमाणित हो जाता है कि छूट नितान्त आवश्यक है।

जहाँ तक मालगुजारी निर्धारित करने का प्रश्न है, ऐसा कोई एक सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है, जिसके आधार पर प्रत्येक प्रान्त में मालगुजारी निर्धारित की जाती हो। प्रत्येक प्रान्त में मालगुजारी भिन्न-भिन्न आधारों पर निर्धारित की जाती है। मध्यप्रान्त, पंजाब और उत्तरप्रदेश में मालगुजारी निर्धारित करने का आधार आर्थिक लगान (Economic Rent) है। मदरास में भूमि की पैदावार में से खेती का खर्च काट कर जो बचता है, मालगुजारी उसके आधार पर निर्धारित की जाती है। बम्बई में मालगुजारी भूमि की पिछले वर्षों में जो लगान मिलती रही है, उसके आधार पर निर्धारित की जाती है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि माल-गुजारी निर्धारित करते समय केवल इन्हीं बातों का ध्यान रक्खा जाता है; और भी बहुत-सी बातों का ध्यान रक्खा जाता है। आर्थिक लगान निर्धारित करने में अथवा खेती का खर्चा कितना है, इसका हिसाब लगाने में किसान की तथा उसके परिवार वालों की मजदूरी पूरी नहीं लगाई जाती। लगान का कितना हिस्सा सरकार लेती है, यह भी प्रत्येक प्रान्त में एकसा नहीं है। मदरास में उपज के मूल्य में से खर्चा कम करके जो बचता है, उसका सरकार २५ प्रतिशत लेती है। उत्तर प्रदेश और पंजाब में राज्य का भाग आर्थिक लगान का पचास प्रतिशत होता है।

जमींदारी बन्दोबस्त : बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त—यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बङ्गाल में १७९३ में स्थायी बन्दोबस्त हुआ था। हम यह भी कह चुके हैं कि मालगुजारी की ठेकेदारी प्रथा के फलस्वरूप किसानों के अधिकार छिनते गए, और उनके सिर पर जमींदार बिठा दिए गए। मुगल साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर मालगुजारी प्रबन्ध ऐसा बिगड़ गया कि बेचारे किसान को जमींदार तथा प्रान्तीय सूबे-दार मनमाना लूटने लगे। जमींदार तो मनमानी लगान वसूल करता और प्रान्तीय शासक

मनमानी लागतें और कर वसूल करते। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सम्राट् से दीवानी के अधिकार मिल गए तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रतिवर्ष मालगुजारी वसूल करने के अधिकार का सार्वजनिक नीलाम करती थी; और जो नीलाम में इस अधिकार को पाता था, वह किसानों से जितना भी धन चूस पाता था, उतना चूसने का प्रयत्न करता था। इसका फल यह हुआ कि बंगाल में मालगुजारी वसूल करने का काम बिलकुल गड़बड़ हो गया और उसका सुधार करने के उद्देश्य से ही लार्ड कार्नवालिस ने बङ्गाल में स्थायी बन्दोबस्त किया।

पूरी जांच के उपरान्त बंगाल के जमींदारों से जो कि वास्तव में मालगुजारी के ठेकेदार (Revenue Farmers) थे, एक बन्दोबस्त किया गया। स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत इन जमींदारों को उस भूमि का जिसकी वे मालगुजारी वसूल करते थे, पूर्ण कानूनी मालिक घोषित कर दिया गया। इस घोषणा का तात्पर्य यह था कि उनका अधिकार कानूनी कर दिया जावे, जिससे कि वे राज्य के प्रति अपनी जिम्मेदारी (मालगुजारी देने को) भली भाँति निभा सकें और अपनी रियासत (भूमि) की उन्नति करने का प्रयत्न करें। जमींदारों को जो भूमि पर मालिकाना हक दिया गया, उसके साथ मालगुजारी अदा करने की जिम्मेदारी थी। मालगुजारी सदा के लिए निश्चित कर दी गई और यह नियम भी बना दिया गया कि यदि जमींदार निश्चित समय पर मालगुजारी नहीं देगा, तो उसकी रियासत वेच दी जावेगी। जमींदार को जो लगान किसानों से मिलती थी उसका (१०/११) ग्यारह में से दस भाग मालगुजारी निर्धारित किया गया। शेष ग्यारह में से एक भाग जमींदार का हिस्सा रहा जो कि उसकी जिम्मेदारी और जोखिम उठाने के मूल्य रूप में छोड़ दिया गया। साथ ही सरकार ने इस अधिकार को भी अपने लिए सुरक्षित रक्खा कि वह जो भी कानून अथवा नियम अधीन ताल्लुकेदारों, रैयत तथा भूमि को जोतने वालों के संरक्षण और उनकी उन्नति के लिए बनाना चाहेगी बना सकेगी। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, बन्दोबस्त स्थायी कर दिया गया और मालगुजारी में कभी भी परिवर्तन न करने की घोषणा कर दी गई। साथ ही सरकार ने इस बात की भी घोषणा कर दी कि भविष्य में यदि जमींदार या उनके उत्तराधिकारी भूमि की उन्नति करके उसे अधिक पैदावार योग्य बना देंगे तो भी सरकार मालगुजारी नहीं बढ़ायेगी। अर्थात् किसी भी दशा में मालगुजारी में परिवर्तन नहीं होगा।

बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त करके लार्ड कार्नवालिस भारतवर्ष में भी इङ्गलैंड की भांति भू-स्वामियों का एक प्रभावशाली वर्ग उत्पन्न करना चाहता था। उसका विचार था कि वे लोग भूमि में सुधार करेंगे, अपने काश्तकारों (आसामियों) की उन्नति करने का प्रयत्न करेंगे और राज्य के प्रति सच्चे और उसके प्रमुख सहायक रहेंगे। लेकिन

बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त इतनी शीघ्रता में हुआ कि भूमि पर किसके क्या अधिकार हैं, इस ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। और न इसी बात का विचार किया जा सका कि भिन्न-भिन्न जमीनों की उत्पादन शक्ति में क्या अन्तर है, और न ठीक पैमाइश ही की जा सकी। यही कारण है कि बन्दोबस्त संतोषप्रद न हो सका और न उसका इच्छित फल हुआ।

बंगाल में इस बात को लेकर बहुत दिनों से विवाद चल रहा है कि स्थायी बन्दोबस्त लाभदायक है अथवा हानिकारक है। जो लोग कि स्थायी बन्दोबस्त के विरोधी हैं, उनका कहना है कि बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त में पहला दोष तो यह है कि बन्दोबस्त जल्दी में किया गया था और पैमाइश ठीक तरह से नहीं हुई। मिट्टी का वर्गीकरण नहीं किया गया और भूमि पर किसके क्या अधिकार हैं उनका लेखा तैयार नहीं किया गया। दूसरे, रैयत के अधिकारों को सुरक्षित नहीं किया गया; उनके अधिकारों को सुरक्षित रखने का काम जमींदारों पर छोड़ दिया गया। यह विचार कि जमींदार अपनी रैयत से कुछ समझौता कर लेंगे और उनके अधिकारों की रक्षा करेंगे, केवल पवित्र भावना मात्र रहा। जमींदारों ने कभी भी रैयत के अधिकारों को सुरक्षित करने का प्रयत्न नहीं किया। इससे किसानों के साथ बहुत अन्याय हुआ। उनका भूमि पर स्वामित्व सदैव के लिए नष्ट हो गया और वे जमींदारों की दया पर छोड़ दिये गये। जमींदारों ने इस अवसर का खूब ही लाभ उठाया और किसान का शोषण किया। तीसरे, सदैव के लिए जो मालगुजारी निश्चित कर दी गई, यह भी स्थायी बन्दोबस्त का एक बड़ा दोष है। किन्तु स्थायी बन्दोबस्त का यह दोष केवल बंगाल तक ही समिति नहीं है। अस्तु; इसके विषय में आगे लिखा जावेगा। बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त के आलोचकों का यह कहना है कि इससे केवल जमींदारों को ही लाभ पहुँचा और किसी को नहीं पहुँचा। इससे जमींदार स्थायी बन्दोबस्त की प्रशंसा करते नहीं थकते। उनका कहना है कि गांवों की उन्नति का यह एक मुख्य साधन है।

बनारस तथा मदरास में स्थायी बन्दोबस्त : यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि स्थायी बन्दोबस्त उत्तरप्रदेश की बनारस डिवीजन तथा मदरास प्रान्त के उत्तर-पूर्वी जिलों में भी प्रचलित किया गया था। बङ्गाल के उदाहरण को स्वीकार करके बनारस में १७९५ में स्थायी बन्दोबस्त किया गया। मदरास में अधिकारी कुछ समय तक यही निश्चित न कर सके कि वहाँ स्थायी बन्दोबस्त किया जावे या अस्थायी बन्दोबस्त किया जावे। उस समय सरकार स्थायी बन्दोबस्त की ओर बहुत झुकी हुई थी, क्योंकि उससे निश्चित मालगुजारी ठीक समय पर मिल जाती थी। किन्तु मदरास रैयतवारी प्रान्त था, वहाँ न तो मालगुजारी के ठेकेदार ही थे और न जमींदार ही थे;

जिनसे मालगुजारी के सम्बन्ध में कोई समझौता किया जा सकता। अधिकारियों ने इन रैयतों में से जो अधिक साहसी और कार्यशील थे उन्हें जमींदार बनाना चाहा। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिकारियों ने रैयतवारी गाँवों को इकट्ठा करके फर्जी जिलों में परिणत कर दिया और उन जिलों को नीलाम कर दिया। जिसने सबसे अधिक दाम लगाये, उसी को वह जिला बेच दिया गया। इस प्रकार उत्तर-पूर्वीय मदरास में जमींदार बनाये गए। यह बनाये हुए जमींदार स्थायी बन्दोबस्त को जहाँ तक मालगुजारी वसूली का प्रश्न था, सफल न बना सके। सरकार ने तो स्थायी बन्दोबस्त केवल इसीलिए किया था कि जिससे मालगुजारी वसूल करने में सुविधा हो। एक बार जब यह सिद्ध हो गया कि स्थायी बन्दोबस्त से मालगुजारी वसूल करने में सुविधा नहीं होती तो स्थायी बन्दोबस्त के लिए उत्साह मन्द पड़ गया और शेष प्रान्त में रैयतवारी पद्धति को चलने दिया गया तथा अस्थायी बन्दोबस्त कर दिया गया। बनारस और मदरास में स्थायी बन्दोबस्त का फल वही हुआ जो बङ्गाल में हुआ। रैयत के अधिकार छिन गए। इससे पूर्व रैयत को बहुत से अधिकार थे। उदाहरण के लिए जब तक कि रैयत लगान देता रहे तब तक उसे बेदखल नहीं किया जा सकता। यही नहीं उसको घर बनाने के लिए भूमि लेने और तालाब, बंजर, तथा चरागाह का उपयोग करने का भी अधिकार था। किन्तु स्थायी बन्दोबस्त के होते ही यह अधिकार नष्ट हो गए। ग्राम्य संस्था टूट गई और किसान असंगठित हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि जमींदार ने उन्हें मनमाने ढंग से लूटना आरम्भ कर दिया।

स्थायी बनाम अस्थायी बन्दोबस्त : स्थायी बन्दोबस्त को लेकर भारतवर्ष में बहुत वादविवाद चला। कुछ लोग स्थायी बन्दोबस्त के प्रशंसक हैं; उनका कहना है कि उससे किसानों, राज्य और कृषि के धन्धे को बहुत लाभ पहुँचा। इसके विरुद्ध बहुमत इस पक्ष में है कि स्थायी बन्दोबस्त बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ और उसको जितना शीघ्र हो समाप्त कर देना चाहिए।

जो स्थायी बन्दोबस्त के प्रशंसक हैं, उनका कहना है कि वह बंगाल में बहुत सफल हुआ। उनका कहना है कि स्थायी बन्दोबस्त से नीचे लिखे महत्त्वपूर्ण लाभ हुए :—

(१) राज्य को एक निश्चित मालगुजारी की रकम मिलती है और उसे मालगुजारी वसूल करने की झंझट तथा व्यय नहीं करना पड़ता। यही नहीं, हर तीस वर्ष बाद जो खर्चीला बन्दोबस्त करना पड़ता है, स्थायी बन्दोबस्त में राज्य उससे भी बच जाता है। (२) स्थायी बन्दोबस्त का राजनैतिक महत्त्व भी है। यह स्थायी बन्दोबस्त का ही परिणाम है कि जमींदार इतने अधिक राजभक्त रहे। (३) उनका यह भी

कहना है कि स्थायी बन्दोबस्त के कारण किसान को जमींदार के रूप में उनका स्वाभाविक नेता प्राप्त हो गया है और जमींदारों ने गाँवों में शिक्षा, चिकित्सा तथा सफाई का प्रबन्ध करके गाँवों को बहुत लाभ पहुँचाया है। उनका यह भी कहना है कि स्थायी बन्दोबस्त होने के कारण जमींदारों ने खेती की उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया और किसानों की दशा को सुधारने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि खेती की उन्नति हुई और एक ऐसा समृद्धिशाली किसान वर्ग उत्पन्न हुआ कि जिसकी दुर्भिक्ष के विरुद्ध सहनशक्ति बहुत अधिक है। अन्त में वे यह कहते हैं कि अस्थायी बन्दोबस्त के जितने भी दोष हैं वे सभी स्थायी बन्दोबस्त में दूर हो जाते हैं।

अस्थायी बन्दोबस्त में जब हर ३० वर्ष उपरान्त नया बन्दोबस्त होता है तो किसान को बहुत परेशानी और झंझट उठानी पड़ती है। उसे बन्दोबस्त करने वालों की भेंट-पूजा भी करनी पड़ती है। यही नहीं, सारे ग्राम प्रदेश में नवीन बन्दोबस्त के कारण बहुत लम्बे समय तक घोर उथल-पुथल मची रहती है। काश्तकार जब नवीन बन्दोबस्त होने वाला होता है, तो दो-चार वर्ष पूर्व से अपने खेतों की उपेक्षा करने लगता है, खाद इत्यादि नहीं डालता कि जिससे उनकी पैदावार कम हो जावे और उन पर लगान कम बाँधा जावे। भारत में कृषि का धन्धा वैसे ही बहुत गिरी हुई दशा में है और इसका परिणाम यह होगा कि भविष्य में भी धन्धा पनप नहीं सकेगा। स्थायी बन्दोबस्त इन सब कठिनाइयों को दूर कर देगा। साथ ही राज्य उस भयंकर व्यय से बच जावेगा कि जो नवीन बन्दोबस्त के समय करना पड़ता है।

इसके विरुद्ध स्थायी बन्दोबस्त के विरोधी स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध इससे भी अधिक प्रबल तर्क उपस्थित करते हैं। (१) स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध सबसे प्रबल तर्क यह है कि इसके कारण राज्य को प्रतिवर्ष भयंकर आर्थिक क्षति उठानी पड़ रही है। स्थायी बन्दोबस्त से मालगुजारी सदैव के लिए निश्चित कर दी जाती है। क्रमशः खेती की पैदावर के मूल्य के बढ़ने, गमनागमन के साधनों की उन्नति होने तथा जन-संख्या की वृद्धि होने से भूमि द्वारा होने वाली आय बढ़ती है। परन्तु स्थायी बन्दोबस्त होने के कारण उसका लाभ राज्य को न होकर जमींदारों को होता है। मालगुजारी प्रान्तीय सरकारों की आमदनी का सबसे बड़ा साधन है, और यदि इसी मद से यथेष्ट धन प्राप्त नहीं हो सकता तो प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय हो जावेगी। प्रान्तीय सरकारों को राष्ट्र निर्माणकारी विभागों—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, यातायात, कृषि, उद्योग धन्धे तथा सफाई—पर अधिकाधिक व्यय करना पड़ता है। यदि उनकी आय की सबसे महत्त्वपूर्ण मद सदैव के लिए निश्चित करदी जावे, तो उनके लिए इस बढ़ते हुए व्यय-भार को सहन करना असम्भव हो

जावेगा। इस तर्क की पुष्टि इसी से होती है कि बंगाल सरकार को प्रति वर्ष आठ करोड़ रुपये की हानि मालगुजारी सदैव के लिए निश्चित होने के कारण होती है। यह आशा की जाती थी कि स्थायी बन्दोबस्त होने के कारण आमदनी की दूसरी मदो में वृद्धि होगी, किन्तु वह आशा निर्मूल निकली, और प्रान्तीय सरकार की आय की दूसरी मदो में वृद्धि नहीं हुई। अस्तु; स्थायी बन्दोबस्त का परिणाम यह हुआ कि राज्य जमींदारों की बढ़ती हुई आय का साझीदार बनने से वंचित हो गया; यद्यपि जमींदारों की आय उनके प्रयत्नों से नहीं बढ़ी थी, वह तो सामाजिक कारणों से बढ़ी थी—उदाहरण के लिये जनसंख्या की वृद्धि, यातायात के साधनों की उन्नति तथा खेती की पैदावार के मूल्य में वृद्धि। (२) जहाँ तक राजनैतिक दृष्टि से लाभ का प्रश्न है, उसका भी अब कोई महत्त्व नहीं रहा। स्थायी बन्दोबस्त के समर्थकों का कहना यह है कि जमींदार सदैव राजभक्त रहेंगे। यह किसी समय महत्त्व की बात हो सकती थी, किन्तु आज तो राज्य को जमींदारों की भक्ति तथा समर्थन की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि किसान के समर्थन की और राजभक्ति की। अस्तु; इस तर्क में भी कोई वज़न नहीं है। फिर यदि थोड़ी देर के लिए यही मान लिया जावे कि राज्य को जमींदारों के समर्थन तथा राजभक्ति की आवश्यकता है, तो अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में भी तो जमींदार उतना राजभक्त है, जितना कि स्थायी बन्दोबस्त वाले बंगाल में। अस्तु; यह कहना उचित नहीं है कि स्थायी बन्दोबस्त का यह विशेष गुण है। (३) स्थायी बन्दोबस्त के समर्थक जो यह कहते नहीं थकते कि जमींदार गांवों का स्वाभाविक नेता है और वह गांवों की उन्नति का प्रयत्न करता है, शुद्ध झूठ है। हाँ, जब स्थायी बन्दोबस्त प्रचलित किया गया था, तब ऐसी आशा अवश्य की जाती थी कि जमींदार गांवों को नेतृत्व प्रदान करेगा और गांवों की उन्नति करने का प्रयत्न करेगा। किन्तु यह आशा सर्वथा निर्मूल सिद्ध हुई। अधिकांश जमींदार गांवों को छोड़कर शहरों में रहते हैं और उनके कारिंदे और गुमाश्ते जमींदारी को देखते हैं। यह कारिंदे किसानों को मनमाने ढंग से लूटते हैं और उन पर अत्याचार करते हैं। शहरी जीवन का आकर्षण इतना अधिक होता है कि जमींदार शहरों में विलासितामय जीवन व्यतीत करते हुए कभी यह भी नहीं सोचते कि उनकी रियासत की क्या दशा है; और उनके काश्तकार, जिनके दिये हुए रुपये से वे भोग-विलास करते हैं, कैसा दयनीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह स्वप्न कि स्थायी बन्दोबस्त से गांवों की उन्नति होगी, अब बिलकुल टूट चुका है और कोई इस तथ्यहीन बात में विश्वास नहीं करता। इसके विपरीत जमींदारों के एक शक्तिवान् वर्ग को उत्पन्न कर देने से गांवों की स्थिति और भी खराब हो गई।

अस्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध एक मुख्य तर्क यह है कि जब भी नवीन बन्दो-

वस्त होता है गांवों का आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। स्थायी बन्दोबस्त के विरोधियों का कहना है कि पहले ऐसा अवश्य होता था। किन्तु अब ऐसी बात नहीं है। बन्दोबस्त का काम इतने वैज्ञानिक ढंग से होता है कि अब कोई विशेष अड़चन या गड़बड़ नहीं होती, क्योंकि अब भूमि सम्बन्धी रेकार्ड पूरी तरह से रक्खे जाते हैं, अतएव बन्दोबस्त बहुत जल्दी हो जाता है। यही नहीं, खेतों की हदबंदी हो जाने से तथा भूमि का स्थायी वर्गीकरण हो जाने से जब नया बंदोबस्त होता है तो काम कम रहता है। इस कारण ग्राम प्रदेश में बन्दोबस्त से होने वाली गड़बड़ कम होती है। साथ ही अब उतना अधिक व्यय भी नहीं होता। किसानों को तंग करने की जो बात अस्थायी बन्दोबस्त के विरोधियों ने कही उसमें कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु क्रमशः उत्तम निरीक्षण के कारण वह दूर हो रही है। जहाँ तक घूस और रिश्वत लेने का प्रश्न है, वह भी अब कम होती जा रही है। उच्च अधिकारी छोटे कर्मचारियों पर निगरानी रखते हैं और वे (उच्च अधिकारी) किसानों के प्रति सहानुभूति रखने के कारण किसानों के कष्टों को कम करने का प्रयत्न करते हैं। अस्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध एक दोषारोपण यह भी किया गया है, कि उसके कारण किसान जब नवीन बन्दोबस्त होता है तो भूमि की उपेक्षा करने लगता है, जिससे कि खेत की पैदावार कम हो और उसके खेत की भूमि निम्न श्रेणी की मानली जावे, जिससे उसे लगान कम देना हो। वास्तव में यह भ्रम है और कुछ नहीं, क्योंकि लगान निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि यदि किसी काश्तकार ने परिश्रम और पूँजी लगाकर भूमि को अधिक उपजाऊ बनाया है, तो उसके कारण भूमि का लगान नहीं बढ़ाया जावेगा। अतएव किसान को भूमि में सुधार करने से कोई हानि नहीं होती। इस बात का खूब प्रचार करने से कि भूमि का सुधार करने से लगान बढ़ाया नहीं जावेगा, किसान निश्चिन्त होकर भूमि को अधिक उत्पादक बनाने के लिए उसमें पूँजी और श्रम लगावेगा। ऊपर लिखे कारणों से अस्थायी बन्दोबस्त के समर्थक इस बात का दावा करते हैं कि देश के लिए अस्थायी बन्दोबस्त लाभदायक है।

अन्त में स्थायी बन्दोबस्त के समर्थक इस तर्क का सहारा लेते हैं कि स्थायी बन्दोबस्त जमींदारों और सरकार के बीच एक इकरारनामा है, इसलिए वह जब सरकार चाहे तब बदला नहीं जा सकता। स्थायी बन्दोबस्त के विरोधी इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्थायी बन्दोबस्त एक इकरारनामा है, किन्तु वे इसके विरुद्ध यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जिन परिस्थितियों में स्थायी बन्दोबस्त प्रचलित किया गया था, वे आज से बहुत भिन्न थीं और वे आज बिलकुल बदल गई हैं। अब यदि स्थायी बंदोबस्त से देश को हानि हो रही है, तो उसे समाप्त कर देने में कोई हानि नहीं और न कोई अन्याय ही है।

वङ्गाल का फ्लाऊड कमीशन : ५ नवम्बर १६३८ में बंगाल सरकार ने श्री एफ० एल० सी० फ्लाऊड महोदय की अध्यक्षता में बंगाल की मालगुजारी के प्रबन्ध तथा स्थायी बंदोबस्त की जांच के लिए एक कमीशन बैठाया था। कमीशन से यह भी कहा गया था कि वह स्थायी बन्दोबस्त का बंगाल के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा इसकी भी जाँच करे। इसके साथ ही प्रान्त की मालगुजारी तथा शासन पर स्थायी बन्दोबस्त का क्या प्रभाव पड़ा, इसके बारे में अपनी राय दे और उसके गुण-दोषों का अध्ययन करे। फ्लाऊड कमीशन ने पूरी जांच करने के उपरान्त मार्च १६४० में अपनी रिपोर्ट दी। उसकी जांच का परिणाम नीचे दिया जाता है।

(१) मालगुजारी के सर्वदा के लिए निश्चित हो जाने के कारण प्रान्तीय सरकार को बहुत अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। कमीशन की राय में इस आर्थिक हानि का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकना कठिन है, किन्तु मोटे तौर पर यह आर्थिक हानि २ करोड़ रुपये से लेकर ८ करोड़ रुपये तक है।

कमीशन का यह भी कहना है कि मालगुजारी से बहुत कम आय होने के कारण तथा खेती से होने वाली आय पर कर न होने के कारण दूसरे करदाताओं पर बहुत अधिक भार पड़ता है। भूस्वामियों के साथ यह सुविधा होने के कारण देश में यह प्रवृत्ति बढ़ गई कि प्रत्येक व्यक्ति भूमि में अपनी पूँजी लगाने लगा और उद्योग-धन्धों की ओर से लोग उदासीन रहे।

(२) जमींदारी प्रान्तों में सरकार तथा किसानों के बीच में जमींदार एक दलाल की भांति रहता है; इस कारण सरकार और किसानों का सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में तो सरकार को नये बंदोबस्त के समय पर ग्रामों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता भी है और भूमि सम्बन्धी पूरे रेकार्ड रक्खे जाते हैं। किन्तु जहाँ स्थायी बंदोबस्त है, वहाँ सरकार और किसान का सीधा सम्पर्क ही नहीं है और न भूमि सम्बंधी रेकार्ड ही रक्खे जाते हैं। इसके विपरीत रैयतवारी प्रांतों में राज्य का किसानों से सीधा और घनिष्ट सम्पर्क रहता है जो अत्यन्त वाञ्छनीय है।

(३) स्थायी बन्दोबस्त का तीसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि कृषि की कोई उन्नति नहीं हुई। यही नहीं, स्थायी बंदोबस्त का कृषि पर बुरा प्रभाव पड़ा। लार्ड कार्नवालिस का विचार था कि स्थायी बंदोबस्त ऐसे जमींदारों को उत्पन्न करेगा कि जो भूमि की उन्नति करने तथा खेती को अधिक भूमि पर बढ़ाने के लिए अपनी पूँजी लगावेंगे; किंतु यह आशा निर्मूल निकाली। जो कुछ भी नई भूमि खेती के लायक वङ्गाल में बनाई गई, वह किसानों के प्रयत्नों का फल है। जमींदारों को उसका कोई श्रेय नहीं है।

बीच के अन्य उप-दलालों से होनेवाली हानि—वर्तमान पद्धति का एक सबसे बड़ा दोष यह है कि जमींदार और किसान के बीच में बहुत से उप-दलाल उत्पन्न हो गए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लगान और मालगुजारी में बहुत अधिक अन्तर है। जहाँ मालगुजारी तो सर्वदा के लिए निश्चित कर दी गई, वहाँ लगान बढ़ती गई और वह मालगुजारी की कई गुना हो गई। यही कारण है कि किसान तथा वास्तविक जमींदार के बीच में दलाल या आसामी और इन आसामियों या दलालों के भी आसामी या दलाल उत्पन्न हो गए हैं। कहीं-कहीं तो इन दलालों या उप-दलालों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया है कि कहीं-कहीं तो ५० आसामी या दलाल वास्तविक जमींदार और काश्तकार के बीच में पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि लगान की आय पर जीने वालों का पूरा वर्ग ही उत्पन्न हो गया है, जो कि किसान का शोषण करता है और जिसका भूमि की उन्नति अथवा खेती की वृद्धि में कोई हाथ नहीं होता। यह लोग कोई भी सेवा नहीं करते, केवल जोंक की भांति किसान को चूसते रहते हैं। इन बीच के दलालों को, भूमि का उचित उपयोग हो रहा है या नहीं इस पर नियंत्रण रखने की न तो शक्ति ही है और न कोई उत्साह ही होता है। अस्तु; यह एक राज रोग है जो कृषि के धन्धे को नष्ट किये डालता है। यही नहीं, इन बीच के दलालों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

शासन संबंधी दोष—बंगाल के जमीन सम्बन्धी बन्दोबस्त की यह गुत्थियां वहां बढ़ी हुई मुकदमेबाजी का मूल कारण हैं। अधिकतर दीवानी अदालतों का समय इसी में नष्ट होता रहता है कि वे यह फैसला दें कि अमुक भूमि में किसका कितना स्वार्थ है। यद्यपि इससे सरकार को कोर्ट-फीस तो बहुत मिलती है, किन्तु जनता को अपार हानि होती है और इसके कारण निर्धन किसान तबाह हो जाता है।

लगान में छूट नहीं दी जा सकती—स्थायी बन्दोबस्त का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि जब फसलें इत्यादि नष्ट हो जाती हैं तो भी छूट देना असम्भव होता है। यद्यपि छूट देने का विधान है, परन्तु व्यवहार में वह कभी भी लागू नहीं होता, क्योंकि कोई भी जमींदार मालगुजारी में छूट लेना पसन्द नहीं करता। कारण यह है कि यदि जमींदार मालगुजारी में १०० रुपये की छूट ले तो उसे लगान में १००० रुपये की छूट देना पड़े।

मौरूसी काश्तकारों के अधिकार नष्ट होते जा रहे हैं—बंगाल में लगान किसी सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित नहीं है। न तो उसका आधार भूमि की पैदावार है और न भूमि के वर्गीकरण पर ही वह निर्भर है। यह ठीक है कि कानूनी काश्तकार का लगान कम है, परन्तु उसको फिर किराये पर देने की प्रथा तथा स्वतन्त्रतापूर्वक

दूसरे को दे देने के अधिकार के कारण जो वास्तविक काश्तकार है, अर्थात जो खेत जोतता है, उसे या तो नकदी में बहुत अधिक लगान देना पड़ता है, जो आर्थिक लगान (Economic Rent) से भी अधिक होता है, अथवा वह आध बटाई पर खेत जोतता है। इसे बरगादारी पद्धति कहते हैं। इसमें भूमि के लगान स्वरूप आधी पैदावार किसान दे देता है। इससे वास्तविक काश्तकार की स्थिति बहुत खराब होती जा रही है और उसका दर्जा गिरता जा रहा है। यह ठीक है कि आगे चलकर जो टिनैंसी कानून बने उनसे रैयत (कानूनी) को व्यवहार में अपनी भूमि पर एक प्रकार से मालिकाना हक मिल गया। किन्तु एक बहुत बड़ी संख्या में जो वास्तविक काश्तकार हैं, उनको कोई संरक्षण नहीं मिला हुआ है। उनसे मनमाना लगान बढ़ाया जा सकता है और उन्हें जब चाहें बेदखल किया जा सकता है।

लगान वसूली में कठिनाई होती है—इसके साथ ही इस पद्धति में लगान वसूल करने वालों को भी बहुत कठिनाई होती है। वे बराबर यह शिकायत करते हैं कि लगान वसूल करने का कोई संतोषप्रद तरीका न होने के कारण उन्हें बहुत झंझट उठानी पड़ती है। लगान न देने पर दीवानी अदालत में जाने की जो सुविधा है, वह व्ययसाध्य, लम्बा समय लेने वाली और झंझट की है। इसका परिणाम यह होता है कि कई साल की लगान बकाया रह जाती है तब जाकर कहीं अदालत में दावा किया जाता है। वर्तमान स्थायी बन्दोबस्त का यह एक महत्वपूर्ण दुष्परिणाम है और जब तक कि जमींदारी बन्दोबस्त तथा स्थायी बन्दोबस्त हैं, तब तक इसको दूर नहीं किया जा सकता। यही नहीं; कुछ क्षेत्रों में रैयत में लगान न देने की प्रवृत्ति पाई जाती है, जो कि भूमि की वर्तमान पद्धति को ही नष्ट कर दे सकती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस पद्धति से भूमि का वास्तविक जोतने वाला बहुत बुरी दशा में है।

स्थायी बन्दोबस्त के ऊपर लिखे दोषों का अध्ययन कर चुकने के उपरान्त फ्लाउड कमीशन इस निर्णय पर पहुँचा कि १७९३ में स्थायी बन्दोबस्त के लिए जो भी कारण रहे हों, किंतु अब वह बिलकुल बेकार और हानिकर है और वर्तमान परिस्थिति में व्यर्थ है। उसका मत था कि जमींदारी प्रथा में इतने अधिक दोष उत्पन्न हो गए हैं कि उसका बनाए रखना राष्ट्र के हित के विरुद्ध है। उसके दोषों को अधूरे सुधारों से दूर नहीं किया जा सकता। इसका एकमात्र उपाय यह है कि सब लगान पाने वालों के स्वार्थ को सरकार उचित हर्जाना देकर खरीद ले और जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी जावे। नीति यह होनी चाहिये कि खेत के जोतने वालों को ऐसे आसामियों या काश्तकारों में परिणत किया जावे कि जो सीधे सरकार से भूमि लें। अवश्य ही कमीशन के कुछ सदस्य जो कि स्वयं जमींदार थे, उन्होंने बहुमत का विरोध किया। उनका कहना था कि जमींदारी प्रथा से देश को लाभ है, अतः उसे समाप्त नहीं

करना चाहिये। संक्षेप में उनका कहना यह है :—(१) बंगाल के किसान की जो गिरी हुई आर्थिक दशा है, उसका कारण वर्तमान जमींदारी प्रथा नहीं है, वरन् उसका कारण यह है कि भूमि पर जनसंख्या का भार बहुत अधिक बढ़ गया है। इसका सम्बन्ध भूमि के प्रबन्ध से बिलकुल नहीं है। (२) यदि राज्य जमींदारियों को खरीद लेगा तो उससे काश्तकारों को कोई लाभ नहीं होगा। (३) जमींदारी प्रथा के नष्ट करने से एक सामाजिक खतरा भी उपस्थित होगा। बङ्गाल में यद्यपि वास्तविक काश्तकार तथा जमींदार के बीच में बहुत से आसामी और आसामियों के आसामी उत्पन्न हो गये हैं, किंतु इससे सम्पत्ति का एक बहुत बड़े क्षेत्र में वितरण हो सका है और भूमि में मध्यम श्रेणी के स्वार्थ भी उत्पन्न हो गये हैं, जिनकी संख्या २५ लाख से ऊपर है। यदि ऐसा कोई परिवर्तन किया गया तो यह मध्यम श्रेणी के लोग घोर आन्दोलन करेंगे। (४) उनका यह भी कहना था कि बड़े जमींदार तो थोड़े से ही हैं, अतः जो कुछ भी छोटे जमींदारों को या बीच के दलालों या आसामियों को हर्जाना मिलेगा, वह इतना नहीं होगा कि वे उसे उद्योग-धन्धों में लगावें। वे लोग या तो उसे खर्च कर डालेंगे या फिर वे उसे मौरूसी भूमि खरीद कर भूमि में ही लगावेंगे। (५) पाँचवा कारण जमींदारी को बनाये रखने के पक्ष में उन्होंने यह बतलाया कि जब सरकार ही जमींदर हो जावेगी, तो किसान के पास वोट होने के कारण वह सरकार को विवश कर देगा कि लगान घटा दी जावे। अस्तु; जमींदारी को समाप्त नहीं करना चाहिए।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि फ्लाउड कमीशन का बहुमत इस पक्ष में था कि यह प्रथा समाप्त कर दी जावे। इसके सिवा इस समस्या को हल करने का दूसरा रास्ता नहीं है।

जमींदारी की प्रथा को समाप्त कर देने के लिए कमीशन की राय में यह आवश्यक था कि राज्य जमींदारों के अधिकारों को खरीद ले और उन्हें हर्जाना या मुआवजा दे दे। कमीशन ने केवल जमींदारों के अधिकारों को ही खरीदने का समर्थन नहीं किया, उन्होंने उन सभी बीच के आसामियों को खरीदने की सिफारिश की जो किसान और जमींदार के बीच में हैं।

कमीशन ने मुआवजे के बारे में यह राय दी कि मुआवजा एक ही रेट से सबों को मिलना चाहिये। यद्यपि उनका कहना था कि भिन्न-भिन्न जमींदारियों के मुआवजे की दर में भिन्नता न्यायपूर्ण हो सकती है, किंतु उससे कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जावेंगी। अस्तु; उनकी राय थी कि सबों को मुआवजा एक दर से दिया जाना चाहिए। कमीशन के कुछ सदस्यों का तो यहाँ तक कहना था कि क्योंकि जमींदारों ने अपनी रियासतों से बहुत लाभ कमा लिया है, इसलिए उन्हें कुछ मुआवजा नहीं मिलना चाहिये। कुछ ने वास्तविक मुनाफे का बीस गुना, कुछ ने पन्द्रह गुना और कुछ ने दस गुना मुआवजा

देने की सिफारिश की। अधिकांश सदस्यों का कहना था कि जो जमींदारी कि दान-खाते में दी गई हैं और जिनके मुनाफे से धार्मिक, शिक्षा सम्बन्धी या चिकित्सालय इत्यादि सार्वजनिक संस्थायें चलती हों, उनको वास्तविक मुनाफे का २५ गुना मुआवजा दिया जावे और साधारण जमींदारों को केवल दस गुना मुआवजा दिया जावे।

जमींदारी का वास्तविक मुनाफा क्या है, उसका हिसाव लगाने के लिए मुनाफे में से १८ प्रतिशत लगान वसूली का व्यय घटा देना होगा, तब जमींदारी का वास्तविक मुनाफा ज्ञात हो सकेगा। इस वास्तविक मुनाफे का १० गुना मुआवजा दिया जावे। कमीशन का मत था कि जहाँ तक हो सके मुआवजे का रुपया नकद दे दिया जावे, और यदि यह सम्भव न हो तो सरकार बौंड निकाले और उन्हें जमींदारों को दे दे। बौंडों पर सरकार ४ प्रतिशत सूद दे।

इस योजना का बंगाल के जमींदारों ने घोर विरोध किया। उनका कहना था कि मुआवजे की रकम बहुत थोड़ी है और यदि इतना थोड़ा मुआवजा देकर जमींदारियाँ लीं गईं, तो यह तो एक तरह से जमींदारियों का हड़पना हुआ। जमींदारों का और उनके समर्थकों का कहना था कि जमींदारों के नष्ट हो जाने से प्राचीन संस्कृति का जो भी चिन्ह प्रान्तों में शेष है, वह नष्ट हो जावेगा और बहुत-सी सार्वजनिक हितकर संस्थायें जिनको जमींदार सहायता देते हैं नष्ट हो जावेंगी। उनका यह भी कहना था कि ऐसा करने से सरकार की आमदनी नहीं बढ़ेगी, वरन् आमदनी कम होगी, क्योंकि स्टाम्प से होने वाली आय बहुत गिर जावेगी। इसके अलावा सरकार को मुआवजे की बहुत बड़ी रकम देनी होगी।

ऊपर लिखी आलोचना करने वाले जमींदार हैं। अस्तु; इसमें अतिशयोक्ति बहुत है। अतएव उनके विरोध की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत नहीं है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि जमींदारों का आज के समय में कोई भी उपयोग नहीं है और उनको समाप्त ही कर देना चाहिए। हो सकता है कि इस परिवर्तन-काल में जब कि जमींदारियाँ खरीदी जावें, तब कुछ कठिनाइयाँ हों, परन्तु बाद को वे दूर हो जावेंगी। कुछ समय के उपरान्त इस परिवर्तन से होने वाले आर्थिक लाभ दृष्टिगोचर होने लगेंगे और बंगाल की स्थिति में सुधार हो जावेगा। अस्तु; जितनी जल्दी जमींदारी समाप्त कर दी जावे, उतना ही अच्छा है।

कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के उपरान्त बंगाल सरकार ने श्री गरनर को इस सम्बन्ध में जांच करने के लिए नियुक्त किया था, कि वे मुआवजे इत्यादि के बारे में हिसाब लगावें। किन्तु उसके उपरान्त बंगाल में मुस्लिम लीगी मंत्रिमंडल स्थापित हो गया, जिसमें अधिकतर जमींदार थे। अस्तु; बंगाल में यह प्रश्न जहाँ का तहाँ रह गया, और जमींदारियों को खरीदने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

भूमि सम्बन्धी प्रबन्ध की जो दशा बंगाल में है, लगभग वही दशा उत्तर प्रदेश के बनारस डिवीजन तथा मदरास के उत्तरी पूर्वी जिलों की है, जहां कि बन्दोबस्त स्थायी है। वहां भी जमींदार और किसान के बीच बहुत से आसामी उत्पन्न हो गए हैं।

बंगाल के शेष जमींदारों तथा अवध के ताल्लुकेदारों के साथ अस्थायी बन्दोबस्त : बंगाल के कुछ भाग ऐसे हैं, जहां स्थायी बन्दोबन्त नहीं हुआ है। इस क्षेत्र में अस्थायी बन्दोबस्त है और सरकार जमींदार से ७० प्रतिशत मुनाफा ले लेती है, केवल ३० प्रतिशत जमींदार के लिए छोड़ती है। जहाँ तक मालगुजारी या लगान के निर्धारित करने का प्रश्न है, वह आगरा प्रांत की तरह ही निर्धारित होती है।

अवध के ताल्लुकेदारों के साथ जो बन्दोबस्त किया गया है, वह लगभग महलवारी बन्दोबस्त के समान है। उसमें और महलवारी बंदोबस्त में अधिक अंतर नहीं है, वह एक प्रकार से महलवारी बन्दोबस्त का परिवर्धित रूप है।

महलवारी बन्दोवस्त : महलवारी बंदोबस्त आगरा, पंजाब और मध्यप्रान्त में मिलता है। इन प्रांतों में गाँव के सभी पट्टीदारों को जमींदारों के अधिकार हैं। सम्भवतः यह सभी एक ही पूर्वज की सन्तान थे और प्राचीन समय से यह सभी एक गठित रूप में ही राज्य से व्यवहार करते रहे हैं, अलग-अलग नहीं। ब्रिटिश सरकार ने इन ग्राम-पट्टीदारों के संगठन को स्वीकार कर लिया। अस्तु, इन पट्टीदारों से मालगुजारी सम्बन्धी समझौता किया गया। यद्यपि सभी महलवारी प्रांतों में बन्दोबस्त के सिद्धान्त एक ही हैं, किन्तु थोड़ा-सा भेद भी है।

आगरा प्रान्त में बन्दोवस्त सीधा गाँव के पट्टीदारों से उनकी सामूहिक स्थिति में किया गया; यद्यपि एक प्रमुख पट्टीदार को चुन लिया गया है, जो सारे पट्टीदारों की मालगुजारी सरकारी खजाने में जमा करने के लिए उत्तरदायी था, और जिसने अन्य पट्टीदारों के एवज बंदोबस्त के समझौते पर हस्ताक्षर किया था। वह व्यक्ति लम्बरदार कहलाता है। सभी पट्टीदार या साझीदार मालगुजारी देने के लिए व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं। किन्तु साझीदारों का कोई समूह अथवा केवल एक साझीदार जिसका कुल गाँव में एक निश्चित हिस्सा हो, सरकार से इस बात की प्रार्थना कर सकता है कि मालगुजारी का पूर्ण बँटवारा (Perfect Partition) कर दिया जावे। दूसरे शब्दों में सभी साझीदारों की सामूहिक जिम्मेदारी के स्थान पर व्यक्तिगत जिम्मेदारी निश्चित कर दी जावे। मालगुजारी लगान का एक निश्चित प्रतिशत होती है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में मालगुजारी लगान की ८० प्रतिशत थी। १८८३ में वह घटा कर ६६ प्रतिशत कर दी गई और बाद को राज्य का हिस्सा और भी कम करके ५० प्रतिशत कर दिया गया। आजकल जो माल-

गुजारी वसूल की जाती है, उसका प्रतिशत ५० से भी कम है।

उत्तर प्रदेश में महलवारी बन्दोबस्त : जब इन प्रान्तों में बन्दोबस्त होता है, तब सैटिलमेंट आफिसर उन गाँवों का निरीक्षण करके उन्हें कुछ सर्किलों में बाँट देता है। एक सर्किल में एक तरह के ही गाँव रक्खे जाते हैं, अर्थात् जिनमें भूमि एक-सी है और प्राकृतिक स्थिति भी लगभग एक-सी ही है। तब प्रत्येक प्रकार की भूमि की लगान निश्चित की जाती है।

अवध में आगरे के समान ही जमीन का बन्दोबस्त होता है। केवल भेद इतना ही है कि वहाँ अधिकतर सैटिलमेंट ताल्लुकेदारों से होता है, जो बहुत से गाँवों के मालिक होते हैं; और बहुत कम दशाओं में ग्राम-संस्था से होता है। ताल्लुकेदार की मालगुजारी उसके गाँवों पर लगाई हुई लगान के ऊपर निर्धारित होती है। कुछ स्थानों में ग्राम-संस्था (Village Community) अपने अधिकारों की रक्षा करने में सफल हो गई। वहाँ बन्दोबस्त सम्बन्धी समझौता ग्राम-संस्था से किया जाता है और ताल्लुकेदार की मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है।

पंजाब में महलवारी बन्दोबस्त : पंजाब में मालगुजारी तय करने का तरीका दूसरा ही है। वहाँ काश्तकार बहुत कम हैं और जो भी हैं वे लगान नकदी में न देकर पैदावार के रूप में देते हैं। पंजाब में अधिकतर काश्तकार ही भूमि का मालिक है (Peasant Proprietorship)। इसलिए वहाँ सैटिलमेंट आफिसर भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी वाली भूमि की मालगुजारी की दर निर्धारित कर देता है।

मध्य प्रदेश का मालगुजारी बन्दोबस्त : मध्यप्रदेश में ब्रिटिश सरकार का जब शासन स्थापित हुआ तब उन्होने पाया कि मराठों ने कुछ व्यक्तियों को जिन्हें मालगुजार कहते हैं, मालगुजारी इकट्ठा करने का ठेका दे रक्खा है। ब्रिटिश सरकार ने उन्हीं ठेकेदारों को स्वामित्व के अधिकार दे दिये और उन्हें गाँव का मुखिया मान लिया। उस समय मध्यप्रदेश में काश्तकारों का ऐसा वर्ग था कि जिसका अपनी भूमि पर स्वामित्व स्थापित था, किन्तु उनके इस अधिकार को नष्ट कर दिया गया। वास्तविक बात तो यह थी कि मध्यप्रदेश के गाँव रैयतवारी थे, किन्तु उन्हें अपनी भूमि के मालिक के अधिकारों से वंचित करके मालगुजार के काश्तकार बना दिया गया। अस्तु; उनके अधिकार जब छीने गए तो उन्हें उसके बदले माल-गुजार के काश्तकार की हैसियत से बहुत कुछ संरक्षण प्रदान किया गया। इस कारण मध्यप्रदेश में सैटिलमेंट आफीसर केवल यही निर्धारित नहीं करता कि मालगुजार सर-कार को कितनी मालगुजारी दे वरन् यह भी निर्धारित कर देता है कि काश्तकार मालगुजार को कितनी लगान देगा। इसलिए बन्दोबस्त करते समय अधिकारियों को

लगान का हिसाब लगाते समय बहुत होशियारी रखनी पड़ती है। इसके लिए भूमि को उसकी उत्पादन शक्ति के अनुसार भिन्न भिन्न श्रेणियों में बाँटा जाता है।

रैयतवारी बन्दोवस्त : रैयतवारी बन्दोवस्त अस्थायी बन्दोवस्त होता है और रैयत के साथ होता है। वहाँ जमींदार या मालगुजार की भांति बीच में कोई दलाल नहीं होता, जैसा कि महलवारी या जमींदारी बन्दोवस्त में हमें देखने को मिलता है। रैयतवारी बंदोवस्त अधिकतर ३० वर्षों के लिए होते हैं। रैयतवारी बन्दोवस्त आसाम, बरार, मदरास और बम्बई में पाया जाता है। इन प्रान्तों के अतिरिक्त लगभग सभी देशी राज्यों में रैयतवारी बंदोवस्त है।

मदरास का रैयतवारी बन्दोबस्त—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि स्थायी बंदोवस्त के अधीन वहाँ पहले जमींदारी बंदोबस्त किया गया, जो नितान्त असफल रहा। तब फिर शेष प्रांत में रैयतवारी बन्दोवस्त किया गया। रैयतवारी बन्दोवस्त में भूमि का वर्गीकरण उसकी उत्पादन शक्ति के आधार पर किया जाता है। यह जानने के लिए कि भूमि की उत्पादन-शक्ति कैसी है, उस पर पैदा होने वाली किसी साधारण अनाज की फसल का कुछ वर्षों का औसत ले लिया जाता है। उस पैदावार का मूल्य रुपयों में लगा लिया जाता है। पैदावार के मूल्य को रुपयों में कूतने के लिए २० ऐसे वर्षों के मूल्य का औसत लिया जाता है, जिनमें अकाल न पड़ा हो। इसमें से खेती का खर्चा घटा दिया जाता है और इस प्रकार वास्तविक बचत का हिसाब लगाया जाता है। मंडियों से दूरी, व्यापारी का लाभ, अनुत्पादक क्षेत्र तथा मौसम के साथ मूल्य में परिवर्तन—इन सभी बातों का ध्यान वास्तविक बचत निश्चित करते समय कर लिया जाता है। इस बचत की लगभग आधी मालगुजारी निश्चित की जाती है। मालगुजारी की इस दर में सूखी भूमि होने पर मंडी के पास या दूरी के अनुसार संशोधन कर दिया जाता है, और नम भूमि के होने पर जल की व्यवस्था के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाता है।

बम्बई का रैयतवारी बन्दोवस्त—बम्बई के रैयतवारी बन्दोवस्त और मदरास के बन्दोवस्त की मुख्य बातें प्रायः एक-सी होती हैं, किन्तु मालगुजारी निर्धारित करने के ढंग में भेद है। बम्बई में भूमि का सदैव के लिए वर्गीकरण कर दिया गया है। इस वर्गीकरण का आधार है, मिट्टी की गहराई। उसकी बनावट वर्षा के जल को सुरक्षित रखने की शक्ति तथा प्राकृतिक गुणों पर निर्भर रहती है। भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टी का मूल्यांकन भिन्न होता है और वह आनों में व्यक्त किया जाता है। प्रथम श्रेणी की भूमि का मूल्यांकन १६ आने किया जाता है, अन्य घटिया भूमियों का मूल्यांकन उनकी उर्वराशक्ति के अनुसार कम किया जाता है। बम्बई में मदरास की तरह वास्तविक बचत के आधार पर मालगुजारी निश्चित नहीं की जाती, वरन् यह

भूमि का वर्गीकरण केवल इसलिए किया जाता है कि किसी क्षेत्र पर जितनी मालगुजारी लगाना निश्चित हुआ है, उसका बँटवारा किस प्रकार हो। मालगुजारी अन्य बातों पर निर्धारित होती है। मुख्य आधार तो यही होता है कि उस क्षेत्र में लगान कैसी है।

बरार में मालगुजारी निर्धारित करने का ढंग लगभग वही है जो बम्बई में है।

आसाम—आसाम में भूमि के मालिक स्थायी बन्दोबस्त द्वारा बनाये गए पुराने बंगाल के जिलों के जमींदार थे और कुछ स्थायी काश्तकार थे। उनका भूमि पर अधिकार इस बात पर निर्भर था कि यदि वे १८८६ के कानून बनने से पूर्व दस वर्ष से भूमि पर अधिकृत थे, तो वे भूमि के मालिक मान लिए गए। १८८६ के कानून बन जाने के उपरान्त उनको १० साल के पट्टे पर या १० साल के अस्थायी बन्दोबस्त पर भूमि मिलती है। बहुत-सी भूमि वार्षिक पट्टे पर है, जो प्रति वर्ष फिर कर दिया जाता है। आसाम में बंजर भूमि के नियम अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वहाँ २५ प्रतिशत भूमि पर ही खेती होती है, शेष बंजर है। आसाम के चाय के बागों की भूमि बहुत लम्बे पट्टे पर नाम मात्र की मालगुजारी पर चाय के बागों को दी हुई है।

लगान किस प्रकार निर्धारित की जाती है : उत्तरप्रदेश, मदरास और विहार के स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में लगान (जिसमें अववाब भी सम्मिलित है) इतनी अधिक से अधिक निर्धारित की गई, जितनी कि किसान दे सकता था। लगान ऊँची से ऊँची ली गई। यदि उससे अधिक लगान मांगी जाती तो किसान को विवश होकर अपना खेत जमींदार को सौंप देना पड़ता और वह अन्य किसी जमींदार का आसामी बन जाता।

बंगाल में जो मालगुजारी जमींदार को सरकार को देनी पड़ती थी उसको देखते हुए उस क्षेत्र की लगान की एक रकम निर्धारित करदी गई और उसको किसानों पर मनमाने ढंग पर बाँट दिया गया। जो जितनी लगान देने की शक्ति रखता था, उस पर उतनी ही लगान लगा दी गई। लगान निर्धारित करने की बंगाल में कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं रही। इसका फल यह हुआ कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई और भूमि की अधिकाधिक आवश्यकता होती गई, लगान बढ़ती गई।

मदरास में लगान निश्चित करने के लिए दो सिद्धान्त काम में लाये जाते हैं। एक तो वहाँ भूमि का अच्छी तरह वर्गीकरण किया जाता है और प्रत्येक प्रकार की भूमि पर साधारण वर्षों में एक बीघा में कितनी पैदावार होती है, इसका ठीक पता लगाया जाता है। जब यह मालूम हो जाता है कि प्रत्येक जाति की भूमि के एक बीघे में कितनी पैदावार होती है, तो उसका मूल्य मालूम कर लिया जाता है। पैदावार का मूल्य मालूम करने के लिए पिछले २० वर्षों के मूल्य का औसत निकाला

जाता है। उन वर्षों में अकाल के वर्ष सम्मिलित नहीं किये जाते।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि जब उस भूमि की पैदावार का पता चल जाता है, तो उसमें से कुछ खर्चों के लिए कुछ कटौती करके वास्तविक लाभ (Net Profit) मालूम किया जाता है। जलवायु तथा मौसम की गड़बड़ी से होने वाली हानि के लिए (उस भूमि में कुछ ऐसी भी भूमि होती है जिस पर खेती नहीं की जा सकती; जैसे तालाब या नहर जिससे सिंचाई की जाती है) इन मदों के लिए पैदावार में से ६½ से २५ प्रतिशत तक कमी कर दी जाती है। यदि खेत मंडी से दूर है, तो १० से २० प्रतिशत तक पैदावार में से कमी करदी जाती है, क्योंकि खेतों से मंडी तक पैदावार ले जाने में व्यय अधिक होता है। इसके अतिरिक्त खेती का खर्चा कम कर दिया जाता है। खेती के खर्च में बीज, बैलों और औजारों की कीमत का ह्रास (Depreciation) तथा खाद और मजदूरी को शामिल किया जाता है। जब पैदावार में से ऊपर लिखी कमी कर दी जाती है, तो उस भूमि से होने वाला वास्तविक लाभ मालूम हो जाता है और इसका ५० प्रतिशत के लगभग सरकार का हिस्सा निर्धारित कर दिया जाता है। अधिकतर सरकार का हिस्सा ५० प्रतिशत से कुछ कम ही होता है।

यदि आगे चलकर कुआं या तालाब बनाने से किसान अपनी पैदावार बढ़ा लेता है, तो सरकार उस बढ़े हुए लाभ में से हिस्सा नहीं मांगती। किन्तु यदि अन्य कारणों से लाभ बढ़ जाता है, तो सरकार उसका हिस्सा माँगती है और मालगुजारी बढ़ाती जाती है। उदाहरण के लिए यदि कोई रेल या सड़क निकल जावे, तो उससे बढ़े हुए लाभ में सरकार का भी हिस्सा होगा।

पंजाब—पंजाब में वैज्ञानिक ढंग से भूमि की पैदावार या उससे होने वाले लाभ को मालूम नहीं किया जाता। वहाँ साधारण तौर से भूमि की जो पैदावार है, उसका आधा तो खेती का खर्चा मान कर कम कर दिया जाता है। जो बचता है, उसे वास्तविक लाभ माना जाता है, अथवा आर्थिक लगान (Economic Rent) माना जाता है। १९२८ तक सरकार उसका आधा मालगुजारी के रूप में ले सकती थी, किन्तु १९२८ में राज्य ने अपना हिस्सा घटा कर एक चौथाई कर दिया; प्रत्येक गाँव कितनी मालगुजारी सरकार को देगा, यह निश्चित हो जाने पर गाँव के सब काश्तकार जमींदार (Peasant Proprietors) उसको अदा करने के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं।

बन्दोबस्त का आफिसर इस आधार पर जब किसी सर्किल की मालगुजारी निश्चित कर देता है और सरकार उसकी स्वीकृति दे देती है, तब सैटिलमैंट आफिसर अपनी जाँच के आधार पर प्रत्येक गाँव को कितनी मालगुजारी देनी होगी, यह निश्चित कर देता है। एक सर्किल में जितने भी गाँव हैं, उन पर वह मालगुजारी बाँट

दी जाती है, जो कि उस सर्किल के लिए निश्चित की गई है।

उत्तर प्रदेश—उत्तरप्रदेश में अस्थायी बन्दोबस्त वाले जिलों में पहले ३० वर्ष के उपरान्त बन्दोबस्त होता था; किन्तु १६२६ से ४० वर्ष के बाद बन्दोबस्त होने लगा है। केवल बुन्देलखण्ड में यह नियम लागू नहीं है। वहाँ जल्दी-जल्दी बन्दोबस्त हो सकता है।

सबसे पहले बन्दोबस्त के समय नये नकशे बनाये जाते हैं और फिर से पैमाइश होती है। जो भी हेर-फेर हुआ हो उसको उन नक्शों में दिखलाया जाता है और रैकर्ड पूरा किया जाता है। फिर सैटिलमेंट आफिसर प्रत्येक गाँव की भूमि की जाँच करके उसकी उत्पादन-शक्ति के अनुसार उसका वर्गीकरण करता है। फिर वह यह देखता है कि प्रत्येक प्रकार की भूमि के लिए काश्तकार औसत लगान क्या देते रहे हैं। और उसी लगान का लगभग आधा मालगुजारी निर्धारित कर दी जाती है।

ऊपर लिखे हुए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में लगान और मालगुजारी निर्धारित करने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। अधिकतर परिपाटी से ही काम लिया जा रहा है। होना तो यह चाहिए कि आर्थिक लगान (Economic Rent) के सिद्धान्त को लागू किया जावे और भूमि की जो आर्थिक बचत हो उसका जो भाग भी निश्चित किया जाय, काश्तकार पर लगाया जावे। भूमि की आर्थिक लगान निर्धारित करने में सब खर्चों के साथ किसान और उसके परिवार के लोगों के श्रम का मूल्य अर्थात् मजदूरी भी जोड़ना चाहिए। अभी तक जमीन की पैदावार में से खेती का खर्चा घटाते समय किसान के श्रम का मूल्य खर्चे में नहीं जोड़ा जाता। यदि किसान के स्वयं किये हुए श्रम तथा उसके परिवार वालों द्वारा किए गए श्रम के मूल्य को भी खर्चे में जोड़ दिया जावे, तो अधिकांश किसानों के पास कोई आर्थिक बचत (Economic Surplus) नहीं बचती और उनसे लगान या मालगुजारी वसूल ही नहीं की जानी चाहिए। वास्तविक सत्य तो यह है कि भारतीय किसान के पास इतनी कम भूमि है, और वह भी बिखरी हुई टुकड़ों में बँटी रहती है, कि खेती साधारणतः लाभदायक धन्धा नहीं रहा। ऐसी दशा में उन छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों पर खेती करने से कोई आर्थिक बचत हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि सरकार लगान या मालगुजारी निर्धारित करने में लगान सिद्धान्त को काम में नहीं लाती।

काश्तकारों के अधिकार : हमें केवल भूमि पर स्वामित्व की दृष्टि से ही उसके प्रबन्ध तथा उपयोग का अध्ययन नहीं करना चाहिए, क्योंकि भूमि राष्ट्र की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति है और उस पर ही राष्ट्र का आर्थिक संगठन बहुत कुछ निर्भर है। यदि भूमि का प्रबन्ध अच्छी तरह से होता है, उसमें सुधार किया जाता है और उसकी

बंगाल—बंगाल के सन् १८८५ ईसवी के काश्तकारी कानून के अनुसार वहाँ जमींदार के नीचे पाँच प्रकार के काश्तकार होते हैं—(१) पटनीदार (Permanent Tenure Holder), (२) काश्तकार शरह-मोअय्यन (Fixed Rate Tenant) (३) काश्तकार साख्तुल मिल्कियत (Exproprietary Tenant), (४) काश्तकार दखीलकार या मौरूसी (Occupancy Tenant), (५) काश्तकार गैरदखीलकार या गैर मौरूसी (Non-Occupancy Tenants) ।

(१) पटनीदार जोनदार या स्थायी हक रखने वाले काश्तकार कई प्रकार के होते हैं और वे दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं । प्रथम स्थायी जोतदार जो स्थायी प्रबन्ध द्वारा बनाये गए थे, और दूसरे पटनी तालुकदार ।

स्थायी जोतदार का लगान उस समय तक नहीं बढ़ाया जा सकता जब तक कि यह साबित न कर दिया जाय, कि रिवाज के अनुसार लगान बढ़ाने का अधिकार है, या पट्टे में इस बात की शर्त है । अगर स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement) के बाद लगान कभी नहीं बढ़ाया गया, तो अब नहीं बढ़ाया जा सकता । स्थायी जोतदार बड़े जमींदारों के नीचे छोटे जमींदारों की तरह रहते हैं ।

पटनी ताल्लुकदार वास्तव में जमींदारियों के स्थायी ठेकेदार हैं । इनका लगान हमेशा के लिए नियत है । यदि यह जमींदार को लगान न दें तो इनका हक फौरन कलक्टर द्वारा वेचा जा सकता है ।

काश्तकार शरह मोअय्यन (Fixed Rate Tenant) भी स्थायी जोतदार की तरह ही होता है, पर उनमें अन्तर यह होता है कि स्थायी जोतदार तो जमींदार की तरह होता है पर शरह मोअय्यन काश्तकार खुद ही काश्तकारी करता है । दोनों के लगान जो स्थायी बन्दोबस्त के समय कर दिये गए हैं, वही रहते हैं । पर जमींदार शरह मोअय्यन काश्तकार के लगान को यह कह कर बढ़वा सकता है कि काश्तकार के हक की जमीन गंगवार (Alluvial) से बढ़ गई है, और वह काश्तकार का लगान यह कह कर कम करवा सकता है कि उसकी जमीन का कुछ हिस्सा सार्वजनिक कार्यों के लिए ले लिया गया है, इसलिए वह पहले से कम हो गई है । इस हक काश्तकारी पर उत्तराधिकारियों का हक होता है, वह दूसरों को दिया जा सकता है या वेचा जा सकता है ।

काश्तकार शरह मोअय्यन के सिवा इस सिलसिले में काश्तकार साख्तउलमिल्कियत (Ex Proprietary Tenants) होते हैं । यह काश्तकार वास्तव में पहले उस भूमि को जिसे वे जोतते हैं, उसके स्वामी थे, किंतु ऋण इत्यादि के कारण उनकी रियासत उनके पास से निकल गई । केवल उनकी 'सीर' उनके पास रह गई, जिसे वह जोतते थे । वे अपनी भूमि का उस क्षेत्र में उस प्रकार की भूमि पर जो लगान

बंगाल—बंगाल के सन् १८८५ ईसवी के काश्तकारी कानून के अनुसार वहाँ जमींदार के नीचे पाँच प्रकार के काश्तकार होते हैं—(१) पटनीदार (Permanent Tenure Holder), (२) काश्तकार शरह-मोअय्यन (Fixed Rate Tenant) (३) काश्तकार साख्तुल मिल्कियत (Expropriietary Tenant), (४) काश्तकार दखीलकार या मौरूसी (Occupancy Tenant), (५) काश्तकार गैरदखीलकार या गैर मौरूसी (Non-Occupancy Tenants) ।

(१) पटनीदार जोतदार या स्थायी हक रखने वाले काश्तकार कई प्रकार के होते हैं और वे दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम स्थायी जोतदार जो स्थायी प्रबन्ध द्वारा बनाये गए थे, और दूसरे पटनी तालुकदार।

स्थायी जोतदार का लगान उस समय तक नहीं बढ़ाया जा सकता जब तक कि यह साबित न कर दिया जाय, कि रिवाज के अनुसार लगान बढ़ाने का अधिकार है, या पट्टे में इस बात की शर्त है। अगर स्थायी प्रबन्ध (Permanent Settlement) के बाद लगान कभी नहीं बढ़ाया गया, तो अब नहीं बढ़ाया जा सकता। स्थायी जोतदार बड़े जमींदारों के नीचे छोटे जमींदारों की तरह रहते हैं।

पटनी ताल्लुकदार वास्तव में जमींदारियों के स्थायी ठेकेदार हैं। इनका लगान हमेशा के लिए नियत है। यदि यह जमींदार को लगान न दें तो इनका हक फौरन कलक्टर द्वारा बेचा जा सकता है।

काश्तकार शरह मोअय्यन (Fixed Rate Tenant) भी स्थायी जोतदार की तरह ही होता है, पर उनमें अन्तर यह होता है कि स्थायी जोतदार तो जमींदार की तरह होता है पर शरह मोअय्यन काश्तकार खुद ही काश्तकारी करता है। दोनों के लगान जो स्थायी बन्दोबस्त के समय कर दिये गए हैं, वही रहते हैं। पर जमींदार शरह मोअय्यन काश्तकार के लगान को यह कह कर बढ़वा सकता है कि काश्तकार के हक की जमीन गंगवार (Alluvial) से बढ़ गई है, और वह काश्तकार का लगान यह कह कर कम करवा सकता है कि उसकी जमीन का कुछ हिस्सा सार्वजनिक कार्यों के लिए ले लिया गया है, इसलिए वह पहले से कम हो गई है। इस हक काश्तकारी पर उत्तराधिकारियों का हक होता है, वह दूसरों को दिया जा सकता है या बेचा जा सकता है।

काश्तकार शरह मोअय्यन के सिवा इस सिलसिले में काश्तकार साख्तउलमिल्कियत (Ex Proprietary Tenants) होते हैं। यह काश्तकार वास्तव में पहले उस भूमि को जिसे वे जोतते हैं, उसके स्वामी थे, किंतु ऋण इत्यादि के कारण, उनकी रियासत उनके पास से निकल गई। केवल उनकी 'सीर' उनके पास रह गई, जिसे वह जोतते थे। वे अपनी भूमि का उस क्षेत्र में उस प्रकार की भूमि पर जो लगान

कुछ कह देना आवश्यक है। गैर मौरूसी काश्तकार जमींदार को वह लगान देता है, जो उसके और जमींदार के बीच में तय हो गया हो। लगान न देने से, या जमीन के दुरुपयोग करने से, या उस जमीन के बारे में जो शर्त हुई है उसे तोड़ने से या उसकी अवधि समाप्त हो जाने से वह गैर मौरूसी काश्तकार बेदखल हो सकता है। गैर मौरूसी काश्तकार के हक की रक्षा करने के लिए सन् १८८५ ईसवी के कानून काश्तकारी के अनुसार कुछ ऐसे नियम बना दिये गए हैं, जिनसे वह अदालत माल या अफसर बन्दोबस्त द्वारा लगाये हुए लगान पर कम से कम पाँच साल के लिए उस जमीन को अपने पास रख सकता है।

बंगाल का काश्तकारी कानून : सबसे पहले बंगाल में १८५६ में काश्तकारों की बेदखली तथा मनमानी लगान वृद्धि से रक्षा करने के लिए एक कानून बनाया गया। बात यह थी, कि जब बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त करके जमींदारों की मालगुजारी सदा के लिए निश्चित कर दी गई, तब यह आशा की गई थी कि जमींदार किसानों से इसी प्रकार कोई समझौता कर लेंगे; किन्तु ऐसा नहीं हुआ और जैसे-जैसे भूमि की मांग बढ़ती गई, जमींदारों ने मनमाने ढंग से लगान में वृद्धि करना आरम्भ कर दिया। जो भी उन्हें अधिक लगान देता वे नजराना लेकर और लगान में वृद्धि करके जमीन उसी को दे देते और पुराने काश्तकारों को बेदखल कर देते थे। अस्तु; किसान की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई। अतः काश्तकारों के हितों की रक्षा करने की दृष्टि से १८५६ में काश्तकारी कानून बनाया गया। उस कानून के अनुसार जो भी काश्तकार किसी जमीन को १२ वर्ष तक लगातार जोत ले, वह उस भूमि का मौरूसी काश्तकार हो सकता था; किन्तु जमींदार लोग किसी भी काश्तकार को १२ वर्ष तक लगातार भूमि को जोतने नहीं देते थे। अस्तु; १८८५ में उस कानून में संशोधन किया गया और काश्तकारों को मौरूसी हक दिलाने के उद्देश्य से यह नियम बनाया गया कि यदि कोई काश्तकार उस गाँव में किसी भी भूमि को १२ वर्ष लगातार जोत ले तो वह काश्तकार मौरूसी काश्तकार हो जावेगा। इस कानून के बनने का यह फल हुआ कि बंगाल में ८० प्रतिशत से अधिक काश्तकारों को मौरूसी हक मिल गए। इसके साथ ही गैर मौरूसी काश्तकार को भी कुछ अधिकार दे दिये गए। वह बिना अदालत की डिगरी के बेदखल नहीं हो सकता था और पाँच वर्ष के अन्दर उसकी लगान में वृद्धि नहीं की जा सकती थी। १६२८में फिर एक नया काश्तकारी कानून बनाया गया, उसके अनुसार मौरूसी काश्तकार को अपना हक दूसरे को देने का अधिकार दे दिया गया। केवल शर्त यह रक्खी गई कि जमीन के ऊपर उस हक को बेचने से जो रकम मिले उसका २० प्रतिशत जमींदार को देना होगा। यही नहीं, मौरूसी काश्तकारों को अपनी भूमि पर मकान बनाने, तालाब खोदने और

दारी अलग-अलग पट्टीदारों पर आ पड़ती है और यह सब पट्टीदार लम्बरदार के जरिये अपनी-अपनी मालगुजारी सरकार को देते हैं। मगर एक महाल के सब पट्टीदार अलग-अलग और सामूहिक रूप से उस पूरे महाल की मालगुजारी के जिम्मेदार होते हैं। जब लम्बरदार दूसरे पट्टीदारों के लगान को भी वसूल करता है तो वह उस महाल में सरकारी मालगुजारी और पट्टीदारों का हिस्सा देने से पहले पाँच फीसदी हक लम्बरदारी ले सकता है। (४) भाई चारा—यह हिस्सेदारी का दूसरा रूप है। इसमें एक से अधिक मालिक होते हैं, जो साथ मिलकर किसी जमीन पर हक रखते हैं। बँटवारा हो जाने पर अपना-अपना हक वे लोग अलग कर लेते हैं। पर भाई चारे के हर एक हिस्सेदार के पास सचमुच में जो जमीन होती है, उसी के अनुसार उनमें से प्रत्येक का हक निश्चित किया जाता है। पट्टीदारी में पट्टीदारों का हक उनकी वंशावली में जो उनका स्थान होता है; उसी के अनुसार निश्चित किया जाता है। (५) अधूरी पट्टीदारी और अधूरा भाई चारा—यहाँ एक से अधिक जमींदार होते हैं। प्रत्येक के पास कुछ तो संयुक्त जमीन का हिस्सा होता है और कुछ अलग जमीन होती है।

किसानों के अधिकार : किसानों के अधिकार के आधार पर आगरा प्रान्त में निम्नलिखित प्रकार के काश्तकार पाये जाते हैं। साख्तुल मिल्कियत (Ex-Proprietary Tenants)। इसमें वे सब किसान आते हैं, जो पहले उसी महाल में जिसमें कि उनकी वर्तमान जमीन है, जमींदार थे और जिन्होंने उस जमीन पर अपना हक जमींदारी खो दिया। परन्तु जिनके पास उस जमीन पर सीर का हक था और जिसको वे लगातार १२ वर्षों से जोतते रहे थे, उनको उसी जमीन का साख्तुल मिल्कियत-काश्तकार का हक मिल गया है और उस जमीन की लगान जो कि एक मौरूसी काश्तकार देता है, उससे रुपये में चार आना कम देना पड़ता है। जब तक साख्तुल मिल्कियत काश्तकार अपने हिस्से का लगान देता रहेगा, तब तक उसे कोई बेदखल नहीं कर सकता और न उसका लगान ही साधारणतः बढ़ाया जा सकता है। इस किसान के हक पर उत्तराधिकारी का हक होता है। पर किसी अदालत के द्वारा दी हुई डिगरी के लिए वह बेचा नहीं जा सकता।

दूसरे प्रकार के काश्तकार मौरूसी काश्तकार होते हैं। सन् १९४० में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने जो काश्तकारी कानून बनाया उसके परिणाम स्वरूप आगरा तथा अवध प्रान्तों में अधिकांश किसानों को मौरूसी काश्तकार के हक दे दिये गए हैं। अस्तु; इस कानून के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

अवध में काश्तकारों के अधिकार : यहाँ जमींदारों के हक को ताल्लुकेदारी कहते हैं। यह भी आगरा के जमींदारों की भाँति ही होते हैं। परन्तु अवध के ताल्लुके-

दारी अलग-अलग पट्टीदारों पर आ पड़ती है और यह सब पट्टीदार लम्बरदार के जरिये अपनी-अपनी मालगुजारी सरकार को देते हैं। मगर एक महाल के सब पट्टीदार अलग-अलग और सामूहिक रूप से उस पूरे महाल की मालगुजारी के जिम्मेदार होते हैं। जब लम्बरदार दूसरे पट्टीदारों के लगान को भी वसूल करता है तो वह उस महाल में सरकारी मालगुजारी और पट्टीदारों का हिस्सा देने से पहले पाँच फीसदी हक लम्बरदारी ले सकता है। (४) भाई चारा—यह हिस्सेदारी का दूसरा रूप है। इसमें एक से अधिक मालिक होते हैं, जो साथ मिलकर किसी जमीन पर हक रखते हैं। बँटवारा हो जाने पर अपना-अपना हक वे लोग अलग कर लेते हैं। पर भाई चारे के हर एक हिस्सेदार के पास सचमुच में जो जमीन होती है, उसी के अनुसार उनमें से प्रत्येक का हक निश्चित किया जाता है। पट्टीदारी में पट्टीदारों का हक उनकी वंशावली में जो उनका स्थान होता है; उसी के अनुसार निश्चित किया जाता है। (५) अधूरी पट्टीदारी और अधूरा भाई चारा—यहाँ एक से अधिक जमींदार होते हैं। प्रत्येक के पास कुछ तो संयुक्त जमीन का हिस्सा होता है और कुछ अलग जमीन होती है।

किसानों के अधिकार : किसानों के अधिकार के आधार पर आगरा प्रान्त में निम्नलिखित प्रकार के काश्तकार पाये जाते हैं। साख्तुल मिल्कियत (Ex-Proprietary Tenants)। इसमें वे सब किसान आते हैं, जो पहले उसी महाल में जिसमें कि उनकी वर्तमान जमीन है, जमींदार थे और जिन्होंने उस जमीन पर अपना हक जमींदारी खो दिया। परन्तु जिनके पास उस जमीन पर सीर का हक था और जिसको वे लगातार १२ वर्षों से जोतते रहे थे, उनको उसी जमीन का साख्तुल मिल्कियत-काश्तकार का हक मिल गया है और उस जमीन की लगान जो कि एक मौरूसी काश्तकार देता है, उससे रुपये में चार आना कम देना पड़ता है। जब तक साख्तुल मिल्कियत काश्तकार अपने हिस्से का लगान देता रहेगा, तब तक उसे कोई बेदखल नहीं कर सकता और न उसका लगान ही साधारणतः बढ़ाया जा सकता है। इस किसान के हक पर उत्तराधिकारी का हक होता है। पर किसी अदालत के द्वारा दी हुई डिगरी के लिए वह बेचा नहीं जा सकता।

दूसरे प्रकार के काश्तकार मौरूसी काश्तकार होते हैं। सन् १६४० में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने जो काश्तकारी कानून बनाया उसके परिणाम स्वरूप आगरा तथा अवध प्रान्तों में अधिकांश किसानों को मौरूसी काश्तकार के हक दे दिये गए हैं। अस्तु; इस कानून के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

अवध में काश्तकारों के अधिकार : यहाँ जमींदारों के हक को ताल्लुकेदारी कहते हैं। यह भी आगरा के जमीदारों की भांति ही होते हैं। परन्तु अवध के ता...

दिया जा सकता है।

(३) हिस्सेदारों के नीचे खैकार होते हैं, जो बहुत कुछ मैदान के मौरूसी काश्तकारों से मिलते-जुलते हैं। और उनके अलावा एक किस्म के काश्तकार सिरतन होते हैं जो गैर-दखीलकार की तरह होते हैं। खैकारी जमीन के हिस्सेदार खैकारों से जो लगान वसूल करते है, उसमें का कुछ हिस्सा उन्हें मालिकाना रूप में मिलता है। और यदि खैकार बिना उत्तराधिकारी के मर जाय तो ज़मीन हिस्सेदारों की खुदकाश्त हो जाती है।

खैकार एक प्रकार का किसान होता है, जिसका हक उत्तराधिकारी को मिल जाता है। पर दूसरों को किसी अन्य प्रकार से नहीं मिल सकता। बन्दोबस्त के समय उनका लगान निश्चित कर दिया जाता है और उस बन्दोबस्त की अवधि में वह बढ़ाया नहीं जा सकता। सरकार भी उन लोगों को खैकारी हक देती है, जिन्होंने सरकारी बेकार जमीन की उन्नति करके उसे खेती के काम लायक कर दिया है।

सिरतन गैर-दखीलकार काश्तकार होते थे, किंतु वे कमायूँ में बहुत कम थे। केवल ६ प्रतिशत सिरतन काश्तकार थे; किंतु १९४० के अनुसार वे भी मौरूसी काश्तकार बना दिये गए।

बनारस डिवीजन में काश्तकारों के अधिकार : बनारस में स्थायी बन्दोबस्त है। अस्तु; वहाँ वे ही सब काश्तकारी के अधिकार हैं, जो बङ्गाल में हैं। अर्थात् वहाँ पटनीदार (Permanent Tenure Holders) काश्तकार शरह-मोअय्यन काश्तकार साख्तुलमिल्कियत (Ex-proprietary Tenants) मौरूसी काश्तकार होते हैं। १९४० के कानून के अनुसार गैर मौरूसी काश्तकारों को भी मौरूसी हक मिल गए हैं।

उत्तर प्रदेश का काश्तकारी कानून १९४० : यद्यपि १९२६ के काश्तकारी कानून से काश्तकारों को हक हीन-हयात मिल गया था, किंतु फिर भी किसानों की स्थिति बहुत सन्तोषजनक न थी। अधिक लगान वसूल करना, नजराना लेना, लाग और बेगार लेना और विनाशकारी मुकदमेंबाजी में कोई कमी नहीं हुई थी। अतएव यह सोचा गया कि जब तक काश्तकारों को मौरूसी हक नहीं दे दिए जावेंगे, तब तक काश्तकारों के हितों की रक्षा नहीं हो सकती।

जब नवीन शासन विधान के अन्दर प्रान्त में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई तो कांग्रेस मंत्रिमण्डल ने १९३९ में एक काश्तकारी कानून बनाकर काश्तकारों को मौरूसी हक दे दिए। उस कानून की मुख्य बातें नीचे लिखी हैं:—

यह कानून आगरा और अवध दोनों ही प्रान्तों में लागू है। केवल देहरादून और मिर्जापुर जिलों के कुछ भागों में, जिसे जौनसार बावर कहते हैं, यह लागू नहीं होता।

काश्तकार पटनीदार काश्तकार, तथा काश्तकार शरह-मोअय्यन अथवा अवध के विशेष प्रकार के काश्तकार कोई भी इमारत वना सकते हैं। कुयें, तालाव, तथा नाली वना सकते हैं, भूमि में सव तरह का सुधार कर सकते हैं, जैसे वंजर तोड़ना, जमीन के चारों ओर मेंड़ लगाना, भूमि को चौरस करना, तथा पहाड़ी ढाल को खेती के योग्य करना इत्यादि। आगरा का मौरूसी काश्तकार तथा साख्तुलमिल्कियत काश्तकार सभी अन्य सुधार कर सकता है, केवल वह तालाव नहीं वना सकता तथा अपने खेत के समीप ही कोई इमारत नहीं खड़ी कर सकता। यदि वहाँ ऐसा स्थानीय रिवाज हो अथवा उसने जमींदार से इसके लिए लिखित आज्ञा प्राप्त कर ली हो तो वह तालाव या इमारत भी वना सकता है। जमींदार भी काश्तकार की लिखित सम्मति से उसके खेत में सुधार कर सकता है। केवल अवध में जमींदार को यह अधिकार नहीं है। यदि किसी काश्तकार ने जमींदार की सम्मति से यह सुधार किये हों और आगे चल कर उसको वेदखल किया जावे, तो उसको मुआविजा दिया जावेगा। गैर मौरूसी काश्तकार के सिवा सभी काश्तकार अपनी जमीन पर पेड़ लगा सकते हैं। शर्त केवल इतनी है कि वे उससे दूसरों के खेत की कीमत कम न कर दें। काश्तकार के खेत में जो पेड़ होंगे, वह काश्तकार की सम्पत्ति होंगे।

लागात तथा वेगार को समाप्त कर देना—लगान से अधिक वसूल करना, नजराना लेना, अववाव, हरी वधाई इत्यादि लागात वसूल करना तथा वेगार लेना कानून के विरुद्ध कर दिया गया है। केवल वाजारों और मेलों पर लागात लगाना, जिसे प्रान्तीय सरकार ने स्वीकृत दे दी है, और किसी प्रकार की लाग वेगार, या कर नहीं लगाया जा सकता। यदि कोई जमींदार इसके विरुद्ध कार्य करेगा तो वह दण्ड का भागी होगा।

वेदखली—कोई काश्तकार केवल इसलिए कि वह जमीन पर से वेदखल हो गया है, गाँव में अपने रहने के मकान से वेदखल नहीं हो सकेगा। साख्तुल-मिल्कियत और मौरूसी काश्तकार तथा नवीन कानून से वनाये गए, पैतृक (मौरूसी) काश्तकार वकाया लगान के कारण केवल उसी दशा में वेदखल किये जा सकते हैं, जव कि एक साल से अधिक का लगान वकाया हो। काश्तकार को वकाया लगान देने के लिए दो वर्ष का समय दिया जाता है। यदि दो वर्षों में भी वह लगान अदा न करे तो वेदखल कर दिया जावेगा। किन्तु किसान के लगान न देने पर उसकी फसल को कुर्क करने का जो जमींदार का अधिकार था, वह छीन लिया गया। अस्तु; जमींदार को अव किसान को परेशान करने का अधिकार नहीं रहा। साथ ही वह अपनी मालगुजारी सुविधापूर्वक वसूल कर सकता है।

लगान का निश्चित करना और उसकी अदायगी : जव किसान जमींदार

ाश्तकार पटनीदार काश्तकार, तथा काश्तकार शरह-मोअय्यन अथवा अवध के ोशेष प्रकार के काश्तकार कोई भी इमारत बना सकते हैं। कुयें, तालाब, तथा नाली ना सकते हैं, भूमि में सब तरह का सुधार कर सकते हैं, जैसे बंजर तोड़ना, जमीन के ारों ओर मेंड़ लगाना, भूमि को चौरस करना, तथा पहाड़ी ढाल को खेती के योग्य रना इत्यादि। आगरा का मौरूसी काश्तकार तथा साख्तुलमिल्कियत काश्तकार सभी न्य सुधार कर सकता है, केवल वह तालाब नहीं बना सकता तथा अपने खेत के मीप ही कोई इमारत नहीं खड़ी कर सकता। यदि वहाँ ऐसा स्थानीय रिवाज हो थवा उसने जमींदार से इसके लिए लिखित आज्ञा प्राप्त कर ली हो तो वह तालाब ा इमारत भी बना सकता है। जमींदार भी काश्तकार की लिखित सम्मति से उसके ेत में सुधार कर सकता है। केवल अवध में जमींदार को यह अधिकार नहीं है। ादि किसी काश्तकार ने जमींदार की सम्मति से यह सुधार किये हों और आगे चल र उसको बेदखल किया जावे, तो उसको मुआविजा दिया जावेगा। गैर मौरूसी ाश्तकार के सिवा सभी काश्तकार अपनी जमीन पर पेड़ लगा सकते हैं। शर्त केवल तनी है कि वे उससे दूसरों के खेत की कीमत कम न कर दें। काश्तकार के खेत ं ो पेड़ होंगे, वह काश्तकार की सम्पत्ति होंगे।

लागात तथा बेगार को समाप्त कर देना—लगान से अधिक वसूल करना, जराना लेना, अबवाब, हरी बयाई इत्यादि लागात वसूल करना तथा बेगार लेना ानून के विरुद्ध कर दिया गया है। केवल बाजारों और मेलों पर लागात लगाना, जैसे प्रान्तीय सरकार ने स्वीकृत दे दी है, और किसी प्रकार की लाग बेगार, या कर हीं लगाया जा सकता। यदि कोई जमींदार इसके विरुद्ध कार्य करेगा तो वह दण्ड ा भागी होगा।

बेदखली—कोई काश्तकार केवल इसलिए कि वह जमीन पर से बेदखल हो ाया है, गाँव में अपने रहने के मकान से बेदखल नहीं हो सकेगा। साख्तुल-मिल्कियत और मौरूसी काश्तकार तथा नवीन कानून से बनाये गए, पैतृक (मौरूसी) ाश्तकार बकाया लगान के कारण केवल उसी दशा में बेदखल किये जा सकते हैं, ब कि एक साल से अधिक का लगान बकाया हो। काश्तकार को बकाया लगान ेने के लिए दो वर्ष का समय दिया जाता है। यदि दो वर्षों में भी वह लगान अदा ा करे तो बेदखल कर दिया जावेगा। किन्तु किसान के लगान न देने पर उसकी सल को कुर्क करने का जो जमींदार का अधिकार था, वह छीन लिया गया। रन्तु; जमींदार को अब किसान को परेशान करने का अधिकार [illegible] ाथ ही वह अपनी मालगुजारी सुविधापूर्वक [illegible] कर सकता है।

लगान का निश्चित करना [illegible]

सब मिलकर संयुक्त जमींदार माने जाते हैं और कानूनन सब एक साथ मिलकर मालगुजारी के जिम्मेदार होते हैं और उन सबका प्रतिनिधि उन्हीं में से एक होता है, जिसे सरदार या लम्बरदार कहते हैं। पर व्यवहार में प्रत्येक कुटुम्ब के हिस्से की मालगुज़ारी अलग-अलग वसूल की जाती है। इसलिए यह जमींदार ऐसे काश्तकार होते हैं, जो खुद अपनी जमीन के मालिक होते हैं, (Peasant Proprietors)। किसी-किसी अवस्था में किसी गांव के बहुत से काश्तकार मालिक (Peasant Proprietors) एक ही वंश के होते हैं। सब की जमीन एक होती है और अलग-अलग काश्तकार जो काश्तकारी करता है, वह उसे एक समूह के काश्तकार की हैसियत से करता है। उस जमीन में उनका जितना हिस्सा होता है, उतनी ही उनकी जमीन होती है और उसी के परिमाण में वे फायदे के हकदार होते हैं। मालगुजारी वगैरह उन्हीं के हिस्सों के अनुसार लगाई जाती है। पर वह समूह उस सारी जमीन की मालगुजारी का जिम्मेदार होता है। यदि उनमें से कोई एक काश्तकार अपना हिस्सा हिस्सेदारों को छोड़ किसी बाहरी आदमी को वेचे तो उसके साथ हिस्सेदारों को उस जमीन पर हकशफा का अधिकार होता है। अर्थात् दूसरा हिस्सेदार चाहे तो उतने ही दाम पर किसी बाहरी आदमी के बदले लेने का अधिकारी हो सकता है। यहाँ पर वेचने वाले को या उस बाहरी खरीदार को कुछ बोलने की गुञ्जाइश नहीं है। पर यह समूह टूट सकते हैं और उनके सब हिस्सेदार उस जमीन को अलग बँटवाकर मालगुजारी की जिम्मेदारी भी अलग करवा सकते हैं। उस जमीन का बँटवारा भाई-चारा या पट्टीदारी सिद्धान्त पर हो सकता है। ऊपर दिया हुआ सारा वर्णन पंजाब के मध्य भाग और नैऋत्य भाग में लागू होता है। पंजाब के नैऋत्य भाग में जमीन के मालिकों के सिवा एक प्रकार के और हकदार पाये जाते हैं, जिन्हें चकदार, सिलहदार, तरादादागार या कासूरख्वार कहते हैं। यह बहुधा दूसरो की जमीन में अपने पैसो से सिंचाई के लिए कुयें व नहर बनवाते हैं। उन कुओं या नहरों पर तथा उन कुओं और नहरो से जिस जमीन पर सिंचाई होती है उस पर, उसके उत्तराधिकार को दूसरों को दे देने का अधिकार होता है। पर जमींदार यदि चाहे तो उन हकदारों से उनके कुयें या नहरो के दाम देकर उन्हें खरीद सकता है।

जमींदारों को जो हक आगरा प्रान्त में हैं, वही पंजाब में होते हैं। परन्तु पंजाब के १९०० ईसवी के भूमि हस्तान्तरकरण कानून (Alienation of Land Act) से जमीन को वेचने में कुछ अड़चन हो गई है। इस कानून के अनुसार कुछ जातियाँ खेतिहर जातियाँ मान ली गई हैं। कोई काश्तकार ऐसे व्यक्ति के हाथ जमीन बेच या रहन नहीं रख सकता, जो खेतिहर जाति का नहीं है। वहाँ कुछ जमीन को छोड़कर बाकी की जमीन का कहीं-कहीं ३० वर्षों में और कहीं-कहीं २० वर्षों में

अधिकार आगरा प्रान्त के जमींदारों के बराबर होता है। पर मध्यप्रान्त के मालगुजारों का उनके किसानों पर अधिकार आगरा प्रान्त के जमींदारों से कम होता है। यहाँ के खास प्रकार के किसानों की बेदखली किसी खास कानूनी कारण से अदालत की डिग्री पर हो सकती है। मालगुजारों को काश्तकारों पर लगान बढ़ाने का अधिकार बहुत कम होता है, क्योंकि लगान बन्दोबस्त अफसरों द्वारा नियत किया जाता है; और जो कुछ किसी तरह बढ़ाया भी जाता है, वह कुछ नियमित-अवधि के बाद ही बढ़ाया जा सकता है। मध्यप्रान्त में बीस-बीस वर्ष के लिए बन्दोबस्त किया जाता है। अगर एक गांव में एक से ज्यादा मालगुजार हुए, तो उनमें से एक लम्बरदार बना दिया जाता है।

अगर गांव का बँटवारा न हुआ हो तो उस गाँव के व्यवहारों के अनुसार लम्बरदार गांव का प्रबन्ध बाकी हिस्सेदारों की तरफ से करता है। पर उसे यह अधिकार कभी नहीं होता कि वह हिस्सेदारों की जमीन हमेशा के लिए किसी को दे दे। वह गांव के चलन के अनुसार किसी जमीन को थोड़े दिनों के लिए किसान को पट्टे पर दे सकता है। किसानों से लगान वसूल करने का लम्बरदार का अधिकार गांव के व्यवहार या किसी समझौते पर निर्भर रहता है। यदि उस गाँव में ऐसा व्यवहार या समझौता नहीं है, तो केवल लम्बरदार बना देने से उसे यह अधिकार नहीं मिलता कि वह सारे गाँव के किसानों से लगान वसूल करे। जहाँ कहीं लम्बरदार लगान वसूल करता है, तो इसलिए कि वहाँ के मालगुजारों ने उसे ऐसा करने का हक दे दिया है। गाँव का बँटवारा करते समय मालगुजार उससे यह अधिकार वापस ले सकते हैं।

मध्यप्रान्त में तीन प्रकार के काश्तकार होते थे। (१) कतई मौरूसी काश्तकार (Absolute Occupancy Tenants), (२) मौरूसी किसान, (३) गैर मौरूसी किसान।

कतई मौरूसी हक पर उत्तराधिकार का हक होता है और मालगुजारों के हकशफा की शर्त पर दूसरों को बेचा जा सकता है। मौरूसी हक कुछ कैद के भीतर उत्तराधिकारियों तक जा सकता है; और वह कुछ उत्तराधिकारियों तक जा सकता है और कुछ उत्तराधिकारियों को बेचा भी जा सकता है। दूसरों के नाम बैय करने के लिए मालगुजार की आज्ञा की आवश्यकता होती है। और बिना उस आज्ञा के बैयनामा रद्द किया जा सकता है। अगर मौरूसी काश्तकार किसी बाहरी आदमी को अपनी जमीन बैय कर देना चाहता है, तो उसे सिर्फ मालगुजार ही की मंजूरी लेनी नहीं पड़ती वरन् यदि उसका कोई उत्तराधिकारी हो तो उसकी भी मंजूरी लेनी पड़ती है। मौरूसी काश्तकारी को रेहन नहीं किया जा सकता पर वह एक साल के लिए पट्टे

मान लिया गया और लाग बेगार इत्यादि गैर कानूनी बना दिये गए। उसके द्वारा बकाया लगान पर १२ प्रतिशत से सूद घटा कर ६ प्रतिशत कर दिया गया।

उड़ीसा सरकार ने किसानो की स्थिति को सुधारने के लिए १६३८ में एक बिल (Orissa Small Holders Bill) पास किया। उसके द्वारा असंख्य छोटे किसानों और काश्तकार मालिकों की वेदखली रोक दी गई और अदालत की डिग्री पर उनकी भूमि का नीलाम किया जाना रोक दिया गया।

बिहार : १६३७ में बिहार के कांग्रेस मंत्रिमंडल ने वहाँ के काश्तकारी कानून में संशोधन किया और उसके द्वारा किसानों को अधिक संरक्षण प्रदान किया गया।

अब बिहार के काश्तकारी कानून के अनुसार किसान को नीचे लिखी सुविधाएँ मिली हैं। (१) जनवरी १६११ और दिसम्बर १६३६ के बीच जो भी लगान में वृद्धि की गई थी, वह कम कर दी गई। (२) लगान को पैदावार के रूप में वसूल करने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। (३) जहाँ भूमि की उर्वरा शक्ति रेत जमने से, भूमि पर जल आ जाने से, या अन्य किसी कारण से कम हो गई है, अथवा जहाँ जमींदारों ने सिंचाई के साधनों की देख-भाल न करके उन्हें नष्ट हो जाने दिया हो उस भूमि की लगान में छूट कर दी जाती है। जहाँ स्थानीय बाजारों में (अस्थायी कारणों से नहीं) पैदावार का मूल्य घट गया हो, वहाँ भी लगान में कमी की जाती है। शेष भूमि पर एक उचित लगान बन्दोबस्त के समय निर्धारित करदी जाती है। (४) इस प्रकार घटाई हुई लगान या निर्धारित की हुई लगान १५ वर्ष तक बढ़ाई नहीं जा सकती। (५) मौरूसी अधिकार को बिना किसी रुकावट के काश्तकार दूसरे को दे सकता है। किसी प्रकार की सलामी जमींदार को नहीं देनी पड़ती। गैर मौरूसी काश्तकार यदि १२ वर्ष तक भूमि को जोतले तो उसे मौरूसी काश्तकार बना दिया जावेगा। (६) किसी प्रकार का अबवाब लगाना गैर कानूनी बना दिया गया है। (७) बकाया लगान पर ६½ प्रतिशत सूद निर्धारित कर दिया गया है।

रैय्यतवारी प्रथा (मदरास और वम्बई) : मदरास के उत्तरी भाग में स्थायी बन्दोबस्त पाया जाता है और यहाँ की जमींदारी और काश्तकारी प्रथा वैसी ही है, जैसी कि बंगाल की। बाकी हिस्सों में रैय्यतवारी प्रथा प्रचलित है। सरकार अपनी मालगुजारी वसूल करने के लिए किसी जमींदार के बदले किसानों से सम्बन्ध रखती है। कुछ अन्तर के साथ यह प्रथा बम्बई प्रांत, और बरार में भी पाई जाती हैं। लगान सीधे किसान से तय किया जाता है और प्रत्येक किसान जितनी जमीन पर खेती करता है, उतनी का ही लगान देता है। काश्तकारों का लगान ३० वर्षों के लिए नियत होता है। जब तक किसान लगान देता रहता है, तब तक जमीन उसकी बनी

बम्बई : बम्बई में एक कानून (Small Holders Act 1938) बनाकर कांग्रेस सरकार ने जमींदारी क्षेत्रों में काश्तकारों को सुरक्षित कर दिया है। इस कानून के अनुसार जमींदार काश्तकार को जमीन से बेदखल नहीं कर सकता, यदि काश्तकार १ जनवरी १६३२ से लगातर जमीन को जोतता रहा है और १६३८ की लगान उसने दे दी है। और उस जमीन को वह पुरानी शर्तों पर आगे भी जोतना चाहता है।

इससे पहले जमींदार लोग खालसा के गांव में काश्तकार को स्थायी अधिकार नहीं देना चाहते थे। जब वे चाहते थे, तभी शिकमी काश्तकार (Tenant at will) को बेदखल कर देते थे। शिकमी काश्तकार की स्थिति वास्तव में अत्यन्त दयनीय थी। बम्बई काश्तकारी बिल (Bombay Tenancy Bill) ऐसे काश्तकारों की रक्षा करता है। इस बिल के अनुसार सुरक्षित काश्तकारों (Protected Tenants) का नया वर्ग उत्पन्न कर दिया जावेगा। सुरक्षित काश्तकार वह होगा—(१) जो १ जनवरी १६३८ से पूर्व लगातार ६ वर्ष तक भूमि को इनाम, खोटी या ताल्लुकेदारी गांवों में जोतता रहा हो। (२) जिसने इस प्रकार की भूमि को व्यक्तिगत रूप से जोता हो और जिसके जमींदार के पास ३३$\frac{1}{3}$ ऐकड़ या अधिक सींची हुई भूमि या १०० एकड़ या अधिक दूसरे प्रकार की भूमि हो, या और किसी भी प्रकार की भूमि क्यों न हो जिसकी वार्षिक मालगुजारी १५० रु० से अधिक हो। ऐसे किसानों की जो भी १ दिसम्बर १६३८ को बकाया लगान है, वह ४ बराबर-बराबर किस्तों में देनी होगी। उन्हें तभी बेदखल किया जा सकेगा कि जब वे लगान न दें, जमीन को खराब करें, उसे दूसरों को उठा दें या स्वयं न जोतें या फिर जमींदार उस भूमि को स्वयं जोतना चाहे या फिर भूमि को खेती के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में लगाना चाहे। सरकार इस प्रकार के काश्तकारों से उचित लगान लिया जावेगा, इसकी गारंटी देती है। साथ ही यदि किसान ने भूमि में कुछ सुधार किये हों और वह बेदखल किया जावे तो उसको उसका मुआवजा दिया जावेगा। किसान उस अधिकार को रेहन या बैय नहीं कर सकता, किन्तु वह अपने वारिसों को कुछ कैद के साथ दे सकता है। इस अधिकार को अदालती डिग्री से भी नष्ट नहीं किया जा सकता। जहाँ तक सभी किसानों का प्रश्न है, इस बिल के अनुसार जमींदार द्वारा जो भी कर, लाग या बेगार ली जाती थीं, वे सब गैर कानूनी घोषित करदी गईं। यदि कोई जमींदार इस कानून की अवहेलना करे तो उस पर १००० रु० तक जुर्माना हो सकता है।

यद्यपि इस बिल से किसानों को भूमि पर स्थायी अधिकार मिलता है, भूमि में किये हुए सुधारों का मुआवजा मिलने की व्यवस्था की गई है और लाग, बेगार इत्यादि को गैर कानूनी बना दिया गया है, परन्तु इसका असर प्रान्त में ८ या ६

को पूंजी लगाकर खेती के योग्य बनाना चाहिए, उसमें सिंचाई के साधन उपलब्ध करने चाहिएँ और यह नियम बना देना चाहिए कि वह भूमि केवल खेत-मजदूरों को दी जावेगी। अच्छा तो यह हो कि वह भूमि खेत-मजदूरों को व्यक्तिगत रूप से न दी जावे। वरन् उनकी सहकारी कृषि समितियां स्थापित कर दी जावें और वह भूमि लम्बे पट्टे पर उन समितियों को दी जावे। इस प्रकार यहाँ सहकारी अथवा सामूहिक फार्मों का श्री गणेश किया जा सकता है। इससे केवल यही समस्या हल नहीं होगी कि खेत-मजदूरों को खेती के लिए भूमि मिल जावेगी, किन्तु सहकारी फार्म तथा सामूहिक खेती का भी देश में प्रचार हो सकेगा।

क्या जमींदारी प्रथा नष्ट की जानी चाहिए? हम ऊपर लिख चुके हैं कि जमींदारों के शोषण से किसानों की रक्षा करने के उद्देश्य से काश्तकारी कानून बनाकर काश्तकारों के अधिकारों के सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है; परन्तु फिर भी जमींदार लोग किसानों से बेगार लाग इत्यादि लेते ही हैं; और गैर-दखीलकार काश्तकार तथा शिकमी काश्तकारों से मनमाने लगान वसूल करने का प्रयत्न किया जाता है। सच तो यह है कि जब तक किसानों के सर पर जमींदार मौजूद हैं, तब तक काश्तकारों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता।

जमींदारों से यह आशा की गई थी कि वे किसानों को अपने परिवार का अंग समझेंगे और देश-हित के लिए समाज का नेतृत्व ग्रहण करने वाले होंगे। किन्तु अधिकांश जमींदारों ने अपनी उपयोगिता का परिचय नहीं दिया। प्रायः वे आराम-तलबी और कुछ दशाओं में विलासिता का जीवन बिताते हैं। कितने ही जमींदार गांव छोड़कर अपने शौक पूरा करने के लिए शहरों में जा बसते हैं। उन लोगों से यह आशा करना व्यर्थ है कि वे कभी गांवों के सुधार की ओर प्रयत्नशील होंगे। इस प्रथा के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें विचार करने योग्य हैं।

(१) जमींदार बिना श्रम किये धन पाते हैं और उसका उपयोग अपने व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं, समाज-हित के विचार से नहीं।

(२) वर्तमान अवस्था में किसान लगान के भारी बोझ से दबे रहते हैं; तो भी सरकार को राष्ट्र-निर्माण के कार्यों के लिये धन की कमी रहती है। यदि जमींदारी प्रथा नष्ट कर दी जावे, तो किसानों का बोझ भी हलका हो सकता है और राज्य की आय भी बढ़ सकती है।

(३) जमींदार गैर मौरूसी काश्तकारों से मनमाना लगान वसूल करते हैं और उन्हें पट्टा होने के समय बेदखल करने की धमकी देते हैं।

(४) जमींदार त्यौहार तथा विवाह शादी के अवसर पर किसानों से नजराना तथा अनेक कर लेते हैं।

अधिक न हो।

जमींदारों का यह मुआवजा सरकारी कोष से तिमाही या छमाही किश्त के रूप में मिलता रहे। अभिप्राय यह कि बदलने वाली अवस्था में यह रकम भत्ते के तौर से दी जाय, जिससे कि जमींदार अपने को नये युग के अनुसार बना लें। इसलिए यह रकम जमींदारों को उनके जीवन काल में तथा उनके एक उत्तराधिकारी के समय तक मिले। अगर वह और उसका उत्तराधिकारी जमींदारी के उठने के समय से २५ वर्ष से कम में मर जाय तो यह रकम २५ वर्ष तक मिलती रहे।

अधिकांश जमींदार केवल नाम के ही जमींदार हैं। उनके पास जमीन बहुत थोड़ी-सी है और उस पर वे खुद ही काश्त करते हैं। २५० रु० तक मालगुजारी देने वालों को यदि वे चाहें तो काश्तकार बनने का अधिकार मिल जाना चाहिए। इससे दिये जाने वाले मुआवजे की रकम कम हो जावेगी, और बड़ा लाभ यह होगा कि जमींदारी प्रथा हटाने के विरोधियों की संख्या कम रह जावेगी और जमींदारी प्रथा को हटा देने में सुविधा होगी। जो लोग खेती करने के योग्य हैं, उन्हें उसका अच्छा अवसर मिलेगा। जो जमींदार २५० रु० से अधिक सालाना मालगुजारी देते हैं, उनमें से जो चाहें वे ढाई सौ रुपये तक की मालगुजारी की जमीन अपने पास रक्खें और उसमें खुद खेती करें, नहीं तो ऊपर बताया हुआ मुआवजा लेकर जमींदारी का हक छोड़ दें। सारांश यह कि भविष्य में जमीन ऐसे ही आदमियों के अधिकार में रहे जो खुद खेती करते हों, दूसरो से खेती करा कर उसके मुनाफे से मौज उड़ाने वाले 'जमींदार' न हों।

क्या रैयतवारी प्रथा निर्दोष है ? : ऊपर हमने जमींदारी प्रथा को हटा देने की आवश्यकता बतलाई। किन्तु वर्तमान रैयतवारी प्रथा भी निर्दोष नहीं है। रैयतवारी प्रथा, जमींदारी-प्रथा की अपेक्षा, राज्य तथा प्रजा के बीच से एक मध्यस्थ कम होने के कारण अच्छी हो सकती है, परन्तु सिद्धांत से वह किसी भी दूसरी अनुपस्थित भू-स्वामी प्रणाली से भिन्न नहीं है। कृषक तथा जनता के दृष्टिकोण, जमींदार के स्थान पर, राज्य के अनुपस्थित भू-स्वामी बन जाने से भी कोई विशेष भलाई होने वाली नहीं है। रैयतवारी प्रणाली में सरकार अनुपस्थित भू-स्वामी से किसी प्रकार भी कम नहीं है, जिसका केवल लगान वसूल करने तथा अवसर पड़ने पर उसे बढ़ा देने में ही स्वार्थ रहता है। किसान को लगान, नकद अथवा जिन्स के रूप में चुकाने की जिम्मेदारी के बिना निर्वाह वेतन दिया जाना चाहिए। जब तक राज्य भूमि के, जिसका कि वह स्वामी होने का दावा रखता है, सुधार की जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेता तथा स्वयं मौसम तथा खेती की खराबी का उत्तरदायित्व वहन करते हुए, किसान को उसका निर्वाह वेतन नहीं दिलाता, वह अनुपस्थित भू-स्वामी से किसी हालत में अच्छा नहीं है।

साधारण चुनाव हुए और अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हो गई, तो "जमींदारी प्रथा का नाश हो" का आन्दोलन उग्र रूप धारण कर गया। कांग्रेस ने चुनाव सम्बन्धी घोषणा में किसानों को आश्वासन दिया था कि वे अधिकारारुढ़ होने पर जमींदारी प्रथा का नाश कर देंगे। अतएव बिहार तथा उत्तरप्रदेश में प्रान्तीय एसेम्बलियों ने जमींदारी प्रथा को नष्ट करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और जमींदारी नष्ट करने के लिए कमेटियाँ बिठा दी गईं। इन कमेटियों ने इस बात की सिफारिश की कि छोटे-बड़े सभी जमींदार नष्ट कर दिये जावें और उन्हें एक निश्चित योज़ना के अनुसार हर्जाना दे दिया जावे।

बिहार तथा उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल, बम्बई, उड़ीसा, तथा मद्रास में भी जमींदारी प्रथा का शीघ्र ही उन्मूलन होगा। यद्यपि यह तो निश्चित है कि अब जमींदारी प्रथा का शीघ्र ही अन्त होने जा रहा है, किन्तु उसके उपरान्त जमीन का बन्दोबस्त किस प्रकार होगा, यह अभी निश्चित नहीं है। यद्यपि सम्भावना इसी बात की है कि किसान का ही भूमि पर स्वामित्व स्वीकार कर लिया जावेगा।

होना तो यह चाहिए था कि इस अवसर से लाभ उठाकर सरकार सहकारी खेती (Co-operative Farming) को प्रोत्साहन देती, जिससे खेती का सुधार हो सकता और देश में गहरी खेती वैज्ञानिक ढङ्ग से हो सकती।

आवश्यकता इस बात की है कि जब जमींदारी प्रथा नष्ट हो जाय तो गाँवों में ग्राम-सहकारी समिति या ग्राम-सहकारी फार्म स्थापित कर दिये जावें। यह समितियाँ या सहकारी फार्म ही गाँव की भूमि का स्वामित्व ग्रहण करें। भारतवर्ष में ग्राम-सहकारी समितियाँ अधिक सफल होंगी। सहकारी समिति गांव वालों की ओर से भूमि का स्वामित्व ग्रहण करे। मूलतः किसान ही भूमि के स्वामी होंगे, किन्तु स्वामित्व का यह अधिकार सहकारी समिति ग्रहण करेगी। सहकारी समिति बहुमत होने पर चकबन्दी करवा सकेगी। सिंचाई के लिए सहकारी समिति कुएँ अथवा सहकारी तालाब खुदवा सकेगी। अच्छे बीज, औजार और खाद का प्रबन्ध करेगी और यंत्र किराये पर देगी। यही नहीं, सहकारी समिति किसान सदस्य को यह भी बतलावेगी कि उनको कितनी भूमि पर कितनी फसल उत्पन्न करनी होगी और समिति ही गांव की फसल को बेचने का प्रबन्ध करेगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि सहकारी समिति का संगठन हो जाने से किसान की स्वतन्त्रता कुछ कम हो जावेगी। किन्तु खेती की उन्नति के लिए तथा किसानों के लाभ के लिए यह आवश्यक है कि जमींदारी प्रथा का नाश होने के उपरान्त वह असंगठित न छोड़ दिये जावें।

इससे दो बड़े लाभ होंगे। एक तो किसान को बड़ी मात्रा की खेती के सभी लाभ प्राप्त हो जावेंगे, वे आधुनिक ढङ्ग से गहरी खेती कर सकेंगे और भूमि की पैदा-

उत्पादन पर नियंत्रण रखना होगा। साथ ही किसान में अत्यधिक व्यक्तिवाद तथा भूस्वामित्व की तीव्र भावना उत्पन्न न हो जावे, इसको भी देखना होगा। भविष्य में देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अन्न तथा अन्य खाद्य सामग्री तथा उद्योग-धन्धों के लिए अधिकाधिक कच्चा माल उत्पन्न करने की आवश्यकता होगी। यह सब छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों, पुराने औजारों तथा पिछड़ी हुई खेती की पद्धति से नहीं हो सकता। और जब तक हम किसान को आज की भांति असंगठित छोड़ देते हैं, तब तक यह कल्पना करना कि खेती की उन्नति होगी, दुराशा मात्र रहेगी। अस्तु; जमींदारी प्रथा को नष्ट करने के साथ-साथ हमें गाँव सहकारी समितियों की स्थापना की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

यदि हमने जमींदारी प्रथा को नष्ट करने के साथ-साथ खेती के उन दोषों को दूर नहीं कर दिया, जिनके कारण खेती का धन्धा आज पिछड़ी दशा में है; तो उसका परिणाम यह होगा कि न तो हम देश में उत्पादन ही बढ़ा सकेंगे, जिसकी आज देश को बहुत आवश्यकता है और न किसान को शोषण से ही बचा सकेंगे। यदि केवल जमींदारी प्रथा को ही नष्ट कर दिया गया, और कुछ सुधार न किए गए, तो कुछ समय के उपरान्त छोटे किसानों के स्थान पर पूँजीपति किसान दिखलाई देंगे और साधारण किसान का शोषण ज्यों का त्यों बना रहेगा। आज भी पूँजीपति इस ओर से उदासीन हों—ऐसी बात नहीं है। तनक उत्तर प्रदेश के लखीमपुर, सीतापुर तथा अवध के अन्य जिलों में जाइए। भारत के प्रसिद्ध व्यवसायियों के हजारों एकड़ के फार्म मिलेंगे। लखीमपुर जिले में बिड़लाजी के विशाल फार्म को देखिये, जहाँ बड़ी मात्रा की खेती के लिए सभी साधन उपलब्ध हैं। बिहार के चम्पारन तथा अन्य प्रदेशों में भी पूँजीपति किसानों का प्रादुर्भाव हो रहा है। लेखक का यह निश्चित मत है कि जमींदारी-प्रथा के नष्ट करने के साथ ही साथ सरकार ने यदि साधारण किसान की आर्थिक स्थिति को दृढ़ करने तथा उसको आधुनिक ढङ्ग की खेती करने की सारी सुविधायें प्रदान न कीं तो थोड़े वर्षों के उपरान्त देश में पूँजीपति किसान ही दिखलाई देंगे और किसान उन विशाल फार्मों पर मजदूर की भांति मजदूरी करता दिखलाई पड़ेगा। जमींदारी-प्रथा नष्ट कर देने से ही हमारा उद्देश्य सफल नहीं हो जावेगा, हमें उसके लिए नवीन प्रबन्ध करना होगा।

किन्तु दिखलाई ऐसा देता है कि हमारी प्रान्तीय सरकारों का ध्यान महत्त्व-पूर्ण प्रश्न की ओर इतना अधिक नहीं है। वे केवल इस समय जमींदारी प्रथा को नष्ट कर देने का ही विचार कर रही हैं और किसान को भूमि का स्वामी बना देना चाहती हैं।

उत्तर प्रदेश में जमींदारी-उन्मूलन कानून : उत्तर प्रदेश का जमींदारी

किसान मान लिए जावेंगे। (२) शेष किसान 'सीरदार' कहलावेंगे। इनका अपनी भूमि पर स्थायी और वंश परम्परागत अधिकार रहेगा और वे भूमि पर जो चाहें सुधार कर सकेंगे। उन्हें पूरी लगान देनी होगी और वे भूमि को न तो बेच सकेंगे और न बंधक रख सकेंगे। (३) थोड़े से किसान 'आसामी' रहेंगे जिन्हें भूमि में मौरूसी अधिकार नहीं दिए जा सकते। यह 'आसामी' किसान उन 'भूमिधर' और सीरदार किसानों की भूमि को जोतेंगे जो कि किसी कारणवश अपनी भूमि को नहीं जोत सकते।

इस आशंका को दूर करने के अभिप्राय से कि कहीं भविष्य में फिर जमींदारी प्रथा उत्पन्न न हो जावे, कानून में यह प्रतिबंध लगा दिया गया है कि कोई भूमिधर सीरदार अपनी भूमि को उठा नहीं सकता। उसको स्वयं खेती करनी होगी। केवल नाबालिगों, विधवाओं, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अशक्त व्यक्तियों तथा जल थल और नभ सेना में काम करने वालों को यह छूट दी गई है कि वे अपनी भूमि को आसामियों को उठा दें।

जो किसान कि इस कानून के पूर्व मौरूसी कश्तकार नहीं थे, और जैसे कि 'सीर' के काश्तकार अथवा जो किसी मौरूसी काश्तकार के उप-काश्तकार थे, उनको पाँच वर्ष तक बेदखल नहीं किया जा सकता। उसके बाद यदि वे उस भूमि की लगान का १५ गुना चुका देंगे तो वे 'भूमिधर' बन जावेंगे।

भविष्य में अलाभकारी जोत बढ़ न जावें इस उद्देश्य से आर्थिक जोतों का विभाजन कानून से वर्जित कर दिया गया है। साथ ही धनी व्यक्ति बहुत अधिक भूमि को न हथियालें इस उद्देश्य से यह नियम बना दिया गया है कि कोई भी व्यक्ति ३० एकड़ से अधिक भूमि खरीद कर अथवा भेंट स्वरूप प्राप्त कर नहीं रख सकता।

ऐसी भूमि जो कि सबों के उपयोग की है, जैसे आबादी, रास्ते, जलाशय, जंगल, मछलियाँ सार्वजनिक कुयें, तालाब, तथा नाले इनका स्वामित्व गाँव समाज को प्राप्त होगा। गाँव पंचायत गाँव समाज की ओर से उस भूमि का प्रबंध करेगी।

छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों पर वैज्ञानिक ढंग से खेती नहीं हो सकती अतएव इस कानून में सहकारी खेती करने की सुविधा प्रदान की गई है। कोई दस भूमिधर या सीरदार किसान जिनके पास ५० एकड़ अथवा उससे अधिक भूमि हो अपनी भूमि को एक सहकारी फार्म में परिणत कर सकते हैं। सहकारिता विभाग का रजिस्ट्रार उनके सहकारी फार्म की रजिस्ट्री कर लेगा।

दूसरे प्रकार का सहकारी फार्म अनार्थिक जोतों का होगा। यदि किसी गाँव के दो तिहाई अनार्थिक जोतों के किसान जिनके पास दो तिहाई भूमि हो सहकारी फार्म स्थापित करने की इच्छा प्रगट करें तो शेष किसानों को सहकारी फार्म में

सफल होते हैं उसका मुख्य कारण यह है कि उन्हें लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त है। यदि जमींदारों का यह अधिकार छीन लिया जावे तो वे किसान को परेशान न कर सकेंगे। बिहार के सर्व-प्रथम जमींदार महाराजा दरभंगा ने हाई कोर्ट में इस कानून के विरुद्ध दावा किया और हाईकोर्ट ने इसको अमान्य ठहरा दिया।

बंगाल : पश्चिमीय बंगाल में भी जमींदारी उन्मूलन विधेयक पास हो गया है। उसके अनुसार दस वर्षों के अन्दर जमींदारी उन्मूलन का कार्य सम्पन्न हो जावेगा। इस विधेयक में नीचे लिखी बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है (१) हर्जाना कितना हो और किस प्रकार दिया जावे (२) जो लगान बकाया है उसका और जमींदारों के कर्ज का क्या प्रबन्ध हो। (३) जमींदारी उन्मूलन के उपरान्त काश्तकारी कानून क्या हो। किस प्रकार बिखरे खेतों की चकबन्दी की जावे तथा बूगापद्धति जिससे किसान की स्थिति दयनीय बनी हुई है किस प्रकार नष्ट की जावे।

विधेयक के अनुसार जमींदारी की शुद्ध आय का आठ से पन्द्रह गुना तक हर्जाना दिया जावेगा। जमींदारी की शुद्ध आय को जानने के लिये जमींदारी की कुल आय में से लगान वसूली का उचित खर्चा, मालगुजारी, तथा तालाब अथवा कुआं की मरम्मत का खर्चा घटा दिया जावेगा। जो जमींदारियाँ किसी दान या धर्मादे में दी गई हैं उन मन्दिरों, पाठशालाओं तथा अन्य संस्थाओं को सरकार सदैव के लिए उतनी रकम प्रतिवर्ष देती रहेगी जितनी कि उनकी जमींदारियों की शुद्ध आय है। इस विधेयक के अनुसार छोटे जमींदारों के ऋण को घटा दिया जावेगा तथा उनकी कुल बकाया लगान को वसूल कर दिया जावेगा।

विधेयक के अनुसार जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् प्रान्त में केवल एक प्रकार का किसान रह जावेगा। सरकार एक मात्र जमींदार होगी और सब किसान मौरूसी काश्तकार होंगे। किसानों को अपनी भूमि को दूसरों को उठाने की छूट नहीं होगी, उन्हें भूमि स्वयं जोतानी होगी। साथ ही विधेयक में भूमि के विभाजन पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। किसी भी किसान के पास ६० बीघा से अथवा परिवार के प्रत्येक सदस्य पीछे ५ बीघा (जो भी अधिक हो) से अधिक भूमि नहीं रह सकती। यद्यपि इस विधेयक के अनुसार किसान को केवल मौरूसी काश्तकार के अधिकार प्राप्त हुये हैं, परन्तु व्यवहार में वह एक स्वामी कृषक (Peasant Proprietor) होगा।

मदरास : मदरास में भी जमींदारी उन्मूलन विधेयक एसैम्बली से पास हो गया। जमींदारों को नियमानुसार हर्जाना दे दिया जावेगा और उत्तरी सरकार के जिलों में भी किसान को शेष प्रान्त की भांति रैयत बना दिया जावेगा। सारे प्रान्त में रैयतवारी प्रथा स्थापित हो जावेगी। मदरास में क्योंकि कुछ जिलों में ही जमींदारी प्रथा प्रचलित है, अतः हर्जाने की रकम उतनी अधिक नहीं होगी जितनी कि उत्तरप्रदेश,

परिच्छेद १४

ग्राम-सुधार

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। लगभग चालीस करोड़ आबादी वाले इस महा देश में लगभग ७५ प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष रूप से खेती पर निर्भर है। जिस देश में लगभग तीन चौथाई जनसंख्या खेती करके गुजारा करती हो, वहाँ गांवों की बहुतायत होना अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि विभाजित भारत में साढे पांच लाख गांव हैं, जिनमें देश की लगभग ८८ प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। ऐसी दशा में यदि भारतवर्ष को गांवों का देश कहा जाता है, तो कोई आश्चर्य नहीं है। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा था कि 'वास्तविक भारत की जानकारी कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगरों को देखने से नहीं हो सकती है। यदि किसी को भारतवर्ष का सच्चा रूप देखना हो तो उसे गाँवों की ओर जाना चाहिए।'

ऊपर दिये हुए विवरण से यह तो ज्ञात हो गया कि हिन्दुस्तान में गाँवों का बहुत महत्त्व है। गाँव कोई नवीन संस्था नहीं है, वह हजारों वर्ष पुरानी है, और आज भी जब कि उसकी सब ओर से उपेक्षा हो रही है, वह जीवित है। परन्तु गाँवों की दशा अत्यन्त गिरी हुई है। गाँवों में रहने वाले अधिकांश ग्रामीण पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं। दरिद्रता, गन्दगी, रोग, ईर्ष्या-द्वेष, लड़ाई-झगड़े, रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, मुकदमेबाजी, ऋण और अशिक्षा का गांवों में एकछत्र राज्य है। सच तो यह है कि गाँवों की दशा अत्यन्त दयनीय है। वहाँ न तो स्कूल, हास्पिटल और सड़कें ही होती हैं और न सभ्यता के दूसरे साधन ही मिलते हैं।

सैकड़ों वर्षों से नगरों द्वारा गाँवों का शोषण होता रहा है। गाँवों का आर्थिक शोषण ही हुआ हो, केवल यही बात नहीं है। प्रान्तीय सरकार अपनी आय का अधिकांश भाग गाँवों से वसूल करती है और उस आय का अधिकांश भाग नगरों पर व्यय करती है। जमींदार भी लगान वसूल करके अधिकतर नगरों में व्यय करते हैं। इसका फल यह हुआ कि गाँव निर्धन हो गए। जमींदारों के नगरों में जाकर बसने से एक हानि यह हुई कि जो भी गाँवों में शिक्षित और बुद्धिमान व्यक्ति थे, वे गाँवों में नहीं रहे। क्रमशः गाँवों में बुद्धि और धन का अकाल हो गया। इसका फल यह हुआ

रुक नहीं सकता। वास्तव में हमारे ग्राम-सुधार आन्दोलन का यही लक्ष्य होना चाहिए।

मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि गांवों की नीचे लिखी मुख्य समस्यायें हैं :—

१—ग्रामवासियों का पूर्ण निराशावादी दृष्टिकोण। गांव वाला इस बात का विश्वास ही नहीं करता कि उसकी दशा सुधर सकती है। अतः वह अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न भी नहीं करता।

२—गाँव में सफाई का अभाव।

३—गाँव में स्वास्थ्य-रक्षा तथा उसके सिद्धान्तों की जानकारी न होना और चिकित्सा तथा औषधियों का नितान्त अभाव।

४—गाँवों में शिक्षा की कमी।

५—गांवों में मनोरंजन के साधनों की कमी।

६—पशुओं की समस्या तथा उनकी उन्नति के उपाय।

७—खेती बारी की उन्नति।

८—गांवों में लड़ाई-झगड़े और मुक़दमेबाज़ी।

९—ग्रामीण ऋण की समस्या।

१०—गांवों में धन्धों की कमी और आय के साधनों का न होना।

११—गांवों में गमनागमन के साधनों का अभाव।

१२—गांवों का सामाजिक जीवन गिरा हुआ होना।

अब हम इन समस्याओं के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखेंगे। इनमें से कुछ समस्याओं के सम्बन्ध में तो हम पहले ही विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। उदाहरण के लिए खेतीबारी की उन्नति, ग्रामीण ऋण, पशुपालन, इत्यादि। अस्तु; हम यहाँ केवल उन्हीं समस्याओं के सम्बन्ध में लिखेंगे, जिनके बारे में हमने पिछले परिच्छेदों में नहीं लिखा है।

किसानों का निराशावादी दृष्टिकोण—वास्तविक बात तो यह है कि ग्रामवासी इतने अधिक निराशावादी बन गए हैं कि उनको चाहे जितना कहा जावे, उन्हें यह विश्वास ही नहीं होता कि उनकी दशा सुधर सकती है। यही कारण है कि जब उनसे किसी नवीन सुधार को स्वीकार करने के लिए कहा जाता है, तो वे इच्छापूर्वक उसे कभी स्वीकार नहीं करते। यदि ग्राम का रहने वाला चेचक का टीका लगवाता है, तो इस कारण नहीं कि उसका विश्वास है कि वह लाभदायक है, किन्तु सरकारी कर्मचारियों के भय से अथवा सरकारी कर्मचारियों को प्रसन्न करने के लिए वह ऐसा करता है। सरकार किसानों के हितों की रक्षा करने के लिए कानून बनाती है, परन्तु वह कानून का

ग्रामवासियों को भाग्यवादी से पुरुषार्थी और निराशावादी से आशावादी कैसे बनाया जावे ? इसमें तनक भी संदेह नहीं, जब तक ग्रामवासी यह विश्वास नहीं करने लगते कि उनकी गिरी हुई दशा में सुधार होना सम्भव है, और अपनी दशा सुधारने के लिए उनमें उत्कट लालसा उत्पन्न नहीं होती तब तक गांवों का सुधार होना सम्भव नहीं है। गांवों का सुधार स्वयं ग्रामवासियों के द्वारा ही होना सम्भव है, अन्यथा हो ही नहीं सकता। यदि सरकार अथवा अन्य कोई संस्था किसी गांव में नालियाँ, सड़कें तथा अन्य आवश्यक सुविधायें उपलब्ध कर दे तो थोड़े दिनों के पश्चात् गाँव में उनका चिह्न भी नहीं रहेगा। नालियां और सड़कों की देखभाल, सफाई और मरम्मत कौन करेगा ? गाँव वाले तो उन्हें चाहते नहीं थे। वे तो उन्हें दान स्वरूप में मिली हैं। जिस वस्तु के लिए हम परिश्रम करते हैं अथवा धन व्यय करते हैं, उसका ठीक उपयोग भी करते हैं और उसकी देखभाल भी करते हैं। अतएव सरकार तथा ग्राम-सुधार का कार्य करने वाली संस्थाओं का कार्य केवल इतना ही होना चाहिए कि वे अनुसंधान करें। ग्राम-समस्याओं को किस प्रकार हल किया जा सकता है, इसका अध्ययन करें और उसके अनुसार योजना बनाकर गाँव वालों को बतावें।

यह तो हुआ काम करने का ढंग; परन्तु किसान के निराशावादी तथा भाग्यवादी दृष्टिकोण को कैसे बदला जावे। इसके लिए निरन्तर प्रचार तथा शिक्षा की आवश्यकता होगी। शिक्षा तथा प्रचार के द्वारा ही ग्रामवासियों का दृष्टिकोण बदला जा सकता है। जब ग्रामवासियों का दृष्टिकोण बदल जावेगा, तभी उनमें अपनी वर्तमान दयनीय दशा के विरुद्ध असंतोष और घृणा उत्पन्न होगी। जिस दिन ग्रामवासियों में अपनी गिरी हुई दशा के विरुद्ध असंतोष उत्पन्न हो जावेगा और वे भाग्यवादी नहीं रहेंगे, उसी दिन से गाँव की दशा स्वयं सुधरने लगेगी।

आज तो भारतीय किसान घोर भाग्यवादी बन गया है। यदि खेती की फसल नष्ट हो जाती है, बैल मर जाता है, कर्जे में जमीन-जायदाद बिक जाती है या बीमारी में उसके परिवार का कोई व्यक्ति मर जाता है, तो वह 'भाग्य का दोष' कह कर चुप हो जाता है। उस विपत्ति को दूर करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। बाप-दादों से चला आने वाला ऋण, जमींदार, पुलिस, तहसील के कर्मचारियों तथा अदालत के अहलकारों का अत्याचार और शोषण; निर्धनता-बीमारी, अशिक्षा और गरीबी ने उसे इतना निराशावादी बना दिया है कि वह यह स्वप्न में भी नहीं सोचता कि उसकी दयनीय स्थिति में सुधार हो सकता है। जब ग्राम-सुधार-कार्यकर्ता उससे कहता है कि यदि किसान उसकी बातों पर ध्यान दे, तो उसकी दशा सुधर सकती है, तो किसान उनकी बात सुन तो लेते हैं, किन्तु उस पर विश्वास नहीं करते। और जब तक गाँव के रहने वालों का यह निराशावादी दृष्टिकोण बना हुआ है, तब तक कोई स्थायी

पड़ती है। इस भयंकर आर्थिक हानि के अतिरिक्त प्रति वर्ष लाखों स्त्री-पुरुषों को घोर कष्ट उठाना पड़ता है।'

'इस सम्मेलन का विश्वास है कि इस भयंकर जनशक्ति की हानि अपेक्षाकृत थोड़े से व्यय से रोकी जा सकती है। सम्मेलन की राय में यह स्थिति अत्यन्त चिन्ता-जनक है, जिसका सुधार होना नितान्त आवश्यक है। इस सम्मेलन का यह भी विश्वास है कि भारत की निर्धनता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण रोके जा सकने वाले रोगों द्वारा होने वाली कार्यक्षमता की हानि ही है। अतएव धन की कमी इस आवश्यक सुधार में बाधक न होनी चाहिए।'

ध्यान रहे, ऊपर दिया हुआ प्रस्ताव भारत के प्रमुख डाक्टरों के सम्मेलन ने पास किया है। इससे हमारे गाँव के स्वास्थ्य और सफाई की समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

किसी-किसी प्रान्त में कुछ भयंकर रोगों ने स्थायी अड्डा जमा लिया है, जो प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में ग्रामवासियों को मृत्यु के कराल गाल में पहुँचा देते हैं। असहाय ग्रामवासी इनको दैवी कोप समझकर चुपचाप सहन करते रहते हैं। वे समझते हैं कि इनका कोई उपचार नहीं है। क्रमशः वे पूर्ण भाग्यवादी बन गए हैं। यह सब कुछ होते हुए भी गांवों में चिकित्सा का कोई भी प्रबन्ध नहीं है।

अब तनक गाँवों की सफाई के विषय में सुनिये। गाँवों में जाकर देखिए तो सर्वत्र गन्दगी पाइयेगा। यदि आप किसी रास्ते पर जा रहे हों, हवा में दुर्गन्ध आने लगे, मक्खियाँ उड़ती हुई अधिक दिखलाई दें, तो समझ लेना चाहिए कि गाँव समीप आ रहा है। यदि आगे बढ़ने पर गन्दे पानी से भरे हुए ताल और पोखरे तथा खाद और कूड़े के ढेर दिखलाई दें, तो समझ लेना चाहिए, कि हम आबादी में प्रवेश कर रहे हैं। इन तालाबों तथा पोखरों में गन्दा पानी सड़ा करता है। अनेकों रोगों के कीटाणु यहीं जन्म लेते हैं। घरों में नालियाँ या नाबदान नहीं होते, जिनके कारण घरों का पानी गलियों में बहता रहता है। गाँव की गलियाँ कच्ची होती हैं, वे कभी भी साफ नहीं होतीं, उन पर धूल और कूड़ा जमा रहता है। वर्षा में तो यह दलदल बन जाती हैं। किसानों की स्त्रियाँ घरों को तो साफ रखती हैं, किन्तु गली में कोई भी सफाई नहीं करता। अधिकतर गांवों के घरों में शौचगृह नहीं होते, स्त्री-पुरुष बाहर मैदान में शौच को जाते हैं। गाँव के चारों ओर मैदान, खेत, जङ्गल तथा तालाब ही गाँव वालों के शौच-स्थान होते हैं। इससे गांव में गन्दगी फैलती है, तथा वायु अशुद्ध होती है। गांव के तालाब का जल अंग साफ करने के काम में लाया जाता है। इस कारण वह बँधा हुआ पानी अत्यन्त दूषित और विषाक्त हो जाता है। गांव के अन्दर ही खाद के ढेर लगे रहते हैं, जिन पर मक्खियां भिनभिनाया करती हैं।

का पानी उसमें न जाने पावे । जब ताल बिलकुल सूख जावे, तब उसे लैवल (चौरस) करवा दिया जावे और गांव के बालकों के लिये खेल का मैदान बना दिया जावे । यदि गांव में चकबन्दी (Consolidation) कर दी जावे, तो गांव की आस-पास की भूमि, खाद के गड़हों, शौच-स्थाना, तथा खेल के मैदानों के लिए बचाई जा सकती है, और ताल कुछ दूरी पर खोदा जा सकता है । एक बात और ध्यान में रखने की है । नये ताल में गांव का पानी न जाने दिया जावे । गांव की ओर एक मेड़ बना दी जावे । केवल जंगल का ही पानी ताल में जावे । गांव से बहा हुआ पानी बहुत गन्दा होता है । गांव का पानी यदि खेतों की ओर बह जावे, तो अच्छा है । गांव की मरम्मत करने के लिये गांव वाले दूर से मिट्टी लावें, गांव के पास से न खोदें ।

खाद के गड़हे : अभी तक गांव वाले जो कुछ भी खाद बनाते हैं । वह ढेर लगाकर बनाते हैं, इससे खाद भी अच्छी तैयार नहीं होती और गांव में गंदगी बढ़ती है । इन्हीं खाद के ढेरों के कारण गांव में मक्खियां बढ़ जाती हैं और हवा से गंदगी के कण उड़-उड़ कर पानी, भोजन तथा आंख में पड़ते हैं । गाँव की सफाई के लिए यह आवश्यक है कि खाद को गड़हों में रक्खा जावे । प्रत्येक किसान दो गड़हे खोदे, और जब तक एक में खाद तैयार होवे, दूसरे में गोबर तथा कूड़ा-कचरा डाला जावे । गड़हे के भर जाने पर उसे मिट्टी से ढक दिया जावे । गड़हा पांच या ६ फुट गहरा होना चाहिये । इससे दो लाभ होंगे, एक तो गांव में कूड़े के ढेर नहीं रहेंगे और दूसरे अभी जो बहुत-सी खाद व्यर्थ फिक जाती है, वह उपयोग में आ जावेगी । अच्छी खाद से अच्छी फसल तैयार हो सकेगी । किंतु एक कठिनाई यह है कि गांव के पास गड़हे खोदने को जगह नहीं मिलती, और बहुत दूर खोदने पर घर का गोवर, तथा कूड़ा करकट उसमें सारा का सारा डाला नहीं जा सकता ।

शौच-स्थान : यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गांव के घरों में शौच-स्थान नहीं होते, इस कारण गांव के चारों ओर गन्दगी रहती है । गांव-वासी अधिकतर नंगे पैर रहते हैं, अतः मल उनके पैरों में लगता है । उससे एक प्रकार का हुकवर्म रोग उत्पन्न होता है । जब मल सूख जाता है तो वह हवा के साथ उड़ कर गाँव के कुएँ के पानी, भोजन तथा पशुओं के चारे को दूषित करता है और मनुष्यों की आँखों में पड़ता है । गाँव वालों का यह विचार भ्रमपूर्ण है कि खेतों में शौच जाने से भूमि की उत्पादक शक्ति बढ़ती है । जब तक खाद सड़ कर तैयार न हो जावे, वह भूमि की उत्पादक शक्ति नहीं बढ़ा सकती । जिस प्रकार कच्चा भोजन नहीं पचता, उसी प्रकार कच्ची खाद से कोई लाभ नहीं होता, वरन् उससे दीमक उत्पन्न होती है । खाद को गड़हों में सड़ा कर ही खेतों में डालना चाहिए । प्रयत्न तो यह करना चाहिए कि प्रत्येक घर में एक शौच-स्थान हो और कुछ सार्व-

में मिला दी जावें। यह नाली भी कंकरीट की बनाई जावे। कुएँ का पानी नाली द्वारा गांव के बाहर ले जाया जावे; या दूसरा उपाय यह हो सकता है कि कुएँ के पास ही एक बगीची लगाई जावे और उसके पेड़ों और पौधों की सिंचाई के लिए कुएँ के पानी का उपयोग कर लिया जावे। इन वाटिकाओं में फल और फूलों के पेड़ लगाये जावें। इनसे यह लाभ होगा कि गांव का सौन्दर्य बढ़ेगा और गन्दगी भी नहीं होगी। जिन घरों में जल बहुत अधिक काम में लाया जाता है, वहाँ भी गृह-वाटिका में, अथवा तरकारी में उस पानी का उपयोग किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश तथा अन्य प्रान्तों में इस समस्या को हल करने के लिए सोकेज पिट बनवाये गए हैं; किन्तु जब तक सोकेज पिट बहुत गहरे, बड़े तथा अच्छी तरह न बनवाये जावें, उनसे कोई विशेष लाभ न होगा। और कुछ प्रबन्ध न होने से वे ही अच्छे हैं। वाटिकाओं द्वारा इस समस्या को अच्छी तरह हल किया जा सकता है।

घरों में हवा और उजाले का प्रबन्ध—गाँव की स्त्रियां अपने घरों को गोबर तथा मिट्टी से लीप-पोत कर साफ रखती हैं और इस दृष्टि से गाँव के मकानों में बहुत सफाई रहती है। जहाँ गाँव गंदा रहता है, वहां घरों में यथेष्ट सफाई मिलती है। यह स्त्रियों के परिश्रम का फल है। घरों में जो भी वस्तु होगी वह साफ-सुथरी होगी। पीतल तथा कांसे के बर्तन तो इतने साफ रहते हैं कि उनकी चमक बहुत सुन्दर प्रतीत होती है। किन्तु ग्रामवासी अपने मकानों में हवा-रोशनी का उचित प्रबन्ध नहीं करते। उनके मकानों में खिड़की अथवा प्रकाश-मार्ग (रोशनदान) होते ही नहीं। ग्रामवासी खिड़की तथा प्रकाशमार्ग चोरों के भय से नहीं लगाते। परन्तु वायु और प्रकाश जीवन और स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं; अतएव प्रकाशमार्ग अवश्य होने चाहिएँ। यदि छत के समीप ऊँचे पर प्रकाशमार्ग बनाया जावे और उसमें लोहे की छड़ें हों तो चोरों का भी इतना भय नहीं रहेगा। यदि मकान एक दूसरे से भिड़े हों तो छत में प्रकाशमार्ग बनाना चाहिए। भविष्य में एक दूसरे मकान से सटा कर मकान न बनाने के लिए गाँव वालों को कहना चाहिए।

बहुत से घरों में स्त्रियाँ सोने के कमरे (कोठे) में ही एक किनारे भोजन बनाती हैं, जिससे धुआँ घुटता है और सोने का कमरा गंदा हो जाता है। अतएव उन्हें यह बतलाया जाना चाहिए कि रसोई घर आँगन के एक किनारे पर सोने के कमरे से दूर होना चाहिए और रसोईघर में धुआँ निकलने का मार्ग होना चाहिए। इससे दो लाभ होंगे; धुएं से रसोईघर काला नहीं होगा और घर की स्त्रियों की आँखें खराब होने से बच जावेंगी।

बहुत से किसान मकान में रहने के स्थान पर ही पशुओं को बाँध देते हैं, इससे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और गंदगी बढ़ती है। मकान के साथ एक

प्रान्तीय सरकार को प्रत्येक जिले में दाइयों की ट्रेनिंग के लिए स्कूल स्थापित करने चाहिएँ और डिस्ट्रिक्टबोर्ड तथा अन्य संस्थाओं को दाइयों तथा अन्य स्त्रियों को, जो दाई का काम करना चाहें, छात्रवृत्ति देकर वहां शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजना चाहिए।

जब यथेष्ट शिक्षित दाईयाँ तैयार हो जावें तब सरकार को यह कानून बना देना चाहिए कि बिना लायसेंस लिए हुए कोई भी दाई का काम नहीं कर सकती। और लाइसेंस केवल उन्हीं को दिया जावे कि जो ट्रेन्ड हैं और इस कार्य में कुशल हैं।

जब तक ऐसा नहीं किया जावेगा तब तक बच्चों और माताओं के जीवन की रक्षा नहीं की जा सकती।

केवल बच्चा जनाने के लिए कुशल दाइयों का प्रबन्ध कर देने से भी काम नहीं चलेगा। गांव की स्त्रियों को बच्चों के ठीक प्रकार से लालन-पालन करने की शिक्षा देना भी आवश्यक है। माताओं की अज्ञता तथा भूल से बच्चों का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। अतएव इन शिक्षित और ट्रेंड दाइयों का यह भी कर्तव्य होगा कि वे बच्चों के लालन-पालन की शिक्षा स्वयं प्राप्त करें और माताओं को दें।

प्रतिवर्ष गाँव के बच्चों के स्वास्थ्य का प्रदर्शन किया जावे और स्वस्थ बच्चों की माँ को पारितोषिक दिया जावे। इसके साथ ही बच्चों का लालन-पालन कैसे किया जाना चाहिए, इसकी भी शिक्षा माताओं को देने की आवश्यकता होगी।

चिकित्सा की सुविधा का अभाव : यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि कुछ रोगों ने तो गाँवों में स्थायी रूप से अड्डा जमा लिया है। पिछले कुछ वर्षों से क्षय रोग भी गाँवों में भयङ्कर रूप से बढ़ रहा है। फिर भी गाँवों में चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं है। किसी-किसी गाँव में अनपढ़ और अशिक्षित वैद्य या हकीम गाँव वालों का उपचार करते हैं। ऐसी स्थिति में गाँव वालों के जीवन का ईश्वर ही मालिक है। सच तो यह है कि चिकित्सा के अभाव में असंख्य ग्रामवासी अकाल मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

बङ्गाल की एण्टी मलेरिया समितियाँ : गाँव वालों को रोगों से बचाने के लिए बङ्गाल में एक सफल प्रयोग हुआ है। बङ्गाल में मलेरिया ज्वर का भीषण प्रकोप होता है। वहाँ प्रतिवर्ष बहुत बड़ी संख्या में लोग इससे मरते हैं और कहीं-कहीं तो मलेरिया के कारण गाँव के गाँव उजड़ जाते हैं। अभी तक विशेषज्ञों का मत था कि मलेरिया का कीटाणु रुके हुए पानी में उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के स्थान से ८ मील तक जा सकता है। सरकार का विश्वास था कि ऐसी दशा में मलेरिया को रोकने का केवल एक ही उपाय हो सकता है कि आठ मील के घेरे में जितने भी गड्ढे हों भर दिये जावें और पानी कहीं भी रुकने न दिया जावे। इस कार्य में इतना

हो जाता है, वहाँ समिति मिट्टी का तेल छुड़वाती है, जिससे मलेरिया के कीटाणु उत्पन्न न हो सकें। समिति के प्रत्येक सदस्य को एक छपी हुई पुस्तक दी जाती है जिसमें वह प्रति सप्ताह, उसके घर के लोग कितने दिन मलेरिया से बीमार पड़े यह लिख देता है। समिति का मंत्री इन पुस्तकों के द्वारा गाँव में मलेरिया का प्रकोप कैसा रहा, इसका लेखा तैयार करता है। इससे सदस्यों को यह ज्ञात हो जाता है कि मलेरिया घट रहा है कि नहीं।

लेखक की योजना—

भारतवर्ष में रोगों के कारण मनुष्य-जीवन तथा शक्ति का जो भयंकर ह्रास हो रहा है, वह हम पहले ही लिख चुके हैं। हमारे गाँवों की गंदगी और वहाँ चिकित्सा का कोई प्रबन्ध न होने के कारण ही यह ह्रास निरंतर हो रहा है, अस्तु; गांवों की सफाई तथा स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या हमारे लिए अत्यन्त महत्त्व की है। यह कार्य सहकारी समितियों के द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

होना यह चाहिए कि प्रत्येक गाँवों में एक स्वास्थ्य रक्षक समिति स्थापित की जावे। गाँव वालों को समिति के लाभ समझा कर समिति का सदस्य बना लिया जावे। प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रत्येक घर से एक सदस्य बनाया जावे। सदस्य चार आना प्रति मास चन्दा दे। जो लोग बहुत निर्धन हों और चार आना प्रति मास चन्दा न दे सकें उनसे चंदा न लिया जावे, उसके बदले वे महीने में एक दिन समिति का-कार्य कर दिया करें। यदि कोई सदस्य चाहे तो अपना चन्दा अनाज में भी दे सकता है। किन्तु चंदा देने वालों तथा कार्य करने वालों में कोई अन्तर न होना चाहिए। सब प्रकार के सदस्यों के अधिकार एक ही हों।

सब सदस्यों की एक साधारण सभा हो। प्रतिवर्ष सभा वार्षिक प्रोग्राम निश्चित करे और दो मंत्री तथा पंच निर्वाचित करदें। एक मंत्री गांव की सफाई की देखभाल करे और दूसरा मंत्री गांव में चिकित्सा और दवा का प्रबन्ध करे।

गांव के पास के सब गड्ढों को पाट दिया जावे। नालियों और खेतों के बहाव को ठीक कर दिया जावे। वर्षा समाप्त हो जाने पर जहाँ पानी रुक जावे वहां मिट्टी का तेल छिड़क दिया जाय। इससे मलेरिया बुखार गांव में नहीं फैलेगा। क्योंकि मलेरिया ज्वर का कीड़ा रुके हुए पानी में ही उत्पन्न होता है।

पास के चार-पांच गांवों की स्वास्थ्य-रक्षक समितियां मिलकर एक ग्रूप (समूह) समिति बनालें। हर एक ग्राम-समिति का पंच या अन्य प्रतिनिधि ग्रूप-समिति का सदस्य हो। ग्रूप समिति एक कुशल चिकित्सक तथा एक योग्य नर्स, जो कि दाई का काम भली भाँति जानती हो, रक्खे। दाई का काम यह होगा कि वह बड़ी समिति से सम्बन्धित गाँवों में बच्चे जनाने का काम करे। बड़ी समिति का चिकित्सक केन्द्रीय

ज़ए तनिक भी उत्साह नहीं होता। गांव के कार्यकर्ताओं को प्रायः गांवों के रहने वालों ; प्रति यह शिकायत करते हुए सुना गया है कि उनको स्वयं ही अपनी स्थिति के सुधारने की चिन्ता बहुत कम होती है। और यदि उनको कुछ आवश्यक सुधार काम में लाने के लिए कहा भी जाता है, तो वे उनको काम में लाने के लिए बहुत कम उत्साह प्रकट करते हैं। अतः इस बारे में दो मत नहीं हो सकते कि गाँव वालों की इस मनोवृत्ति को ही बदल दिया जावे। आज जो निराशावादिता, उत्साहहीनता, और उदासीनता उनमें पाई जाती है, जब तक इनका नाश नहीं हो जाता, गांवों की चतुर्मुखी समस्याओं का ठीक-ठीक हल निकाल सकना असम्भव सा ही है। अब तक देश में ग्रामोद्धार की जो भिन्न-भिन्न योजनायें चलाई गईं और उनमें कोई विशेष सफलता नहीं मिली, उनका मूल कारण यह है कि गांव वालों की वर्तमान मनोवृत्ति बदलने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसलिए इसमें तनक भी संदेह नहीं कि गांवों की यदि सबसे महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय समस्या कोई है, तो वह गांव के रहने वालों की वर्तमान मनोवृत्ति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की है। हमें उनमें नवीन उत्साह और आत्मविश्वास का संचार करना होगा और भाग्य और कर्म के प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों के प्रभाव से उन्हें मुक्त करना होगा। जब तक उनमें यह विश्वास उत्पन्न नहीं होता कि उनकी वर्तमान गिरी हुई अवस्था का कारण कोई ईश्वरीय कोप नहीं है, वरन् मनुष्य का ही कोप है, और उसका अन्त करने की शक्ति भी मनुष्य में ही है, वे अपने निराशावादी दृष्टिकोण को नहीं छोड़ सकते। अब प्रश्न यह है कि उनकी वर्तमान मनोवृत्ति को कैसे बदला जावे।

हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि गाँव वालों की वर्तमान मनोवृत्ति का कारण बहुत हद तक वे परिस्थितियाँ हैं, जिनके बीच वह जन्म लेता है, उसका पालन-पोषण होता है, और जिनके बीच में रहते-रहते वह अपनी जीवन यात्रा की समाप्ति भी कर देता है। जो किसान-बालक जन्म से ही कर्ज का बोझ लेकर इस संसार में आता है और माता-पिता को अत्याचार, कर्ज, शोषण और निर्धनता की चक्की में दिन-रात पिसते देखता है और जिसको अपने लिए भी इससे उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करने का कोई कारण नहीं दिखलाई देता, वह अगर जीवन में आशा और उत्साह से सर्वथा अछूता रहे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अस्तु; गाँव वालों की मौजूदा मनोवृत्ति को बदलने के लिए इन परिस्थितियों के बदलने की अत्यन्त आवश्यकता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। पर एक बात और है, जिसका महत्त्व भी कम नहीं है; और वह है उनमें फैली हुई अशिक्षा का अन्त करना और शिक्षा के द्वारा उनमें एक विचारक्रान्ति उत्पन्न कर देना। किसी भी मनुष्य या समूह की मनोवृत्ति बदलने का एक अत्यन्त कारगर उपाय उनमें विचार-क्रान्ति उत्पन्न कर देना है, जिसका सबसे सरल

की उनमें इच्छा होना अनिवार्य है। ये लोग जो शिक्षा के कार्य का सच्चा महत्त्व नहीं समझते हैं और जो उसको अपने जीवकोपार्जन के लिये एक पेशा मात्र समझते हैं, उनके हाथों में ग्रामशिक्षा का कार्य देना भूल होगी। यह कार्य तो सफलतापूर्वक वे ही लोग चला सकते हैं, जो स्वयं भी एक आदर्श विशेष से प्रेरित हों और उसको अपने जीवन का एक लक्ष्य मान कर चलें। अतः शिक्षा-योजना के साथ सच्चे शिक्षकों की समस्या का भी हल हमें सोचना होगा।

गाँवों में मनोरंजन के साधनों का अभाव : जो लोग कि ग्राम-जीवन से परिचित हैं वे जानते हैं कि गाँवों का जीवन कितना नीरस है। यह बात नहीं है कि गाँव के लोग मनोरंजन के इच्छुक नहीं होते। वास्तव में गाँव के लोग मनोरंजन के इतने भूखे होते हैं कि रद्दी से रद्दी तमाशे को वे बड़े चाव से देखते हैं। नौटंकी में रात-रात भर जमे रहना किस बात का द्योतक है, यदि कोई रीछ या बन्दर नचाने वाला किसी गाँव में पहुँच जाता है तो सारा गाँव उसके पीछे हो लेता है। यदि कहीं दो बैल या कुत्ते लड़ते हैं तो गाँव के लोग खड़े होकर उस लड़ाई को देखने लगते हैं। कुछ देर के लिए ग्रामवासियों के शुष्क जीवन में जानवरों की लड़ाई से उत्तेजना प्राप्त होती है। मेले-तमाशों में गाँव की स्त्रियाँ, बालक और वृद्ध सभी जिस उत्साह से भाग लेते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गाँवों वालो को मनोरंजन की बहुत आवश्यकता है।

यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि दिन भर कार्य करने के उपरान्त भोजन-विश्राम और मनोरंजन मनुष्य के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। दुर्भाग्यवश ग्राम-निवासियों को न तो उत्तम भोजन ही मिलता है और मनोरंजन का तो उनके जीवन में सर्वथा अभाव है। इस नीरसता का मनोवैज्ञानिक फल यह होता है कि उनका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है जिससे उनमें फौजदारियाँ होती हैं। यही नहीं मुकदमेबाजी में उन्हें खेल का आनन्द आता है और उसमें हानि-लाभ का विचार न करके वह हार-जीत का आनन्द और उत्तेजना का अनुभव करने लगते हैं। बहुत से विद्वानों का कहना है कि मनोरंजन के साधनों का अभाव गाँवो में लड़ाई-झगड़े और मुकदमेबाजी की बहुलता का मुख्य कारण है। श्रीयुत डार्लिंग महोदय का तो यहाँ तक कहना है कि ऐसा प्रतीत होता है कि मुकदमेबाजी भारतीयों का जातीय खेल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुकदमेबाजी और लड़ाई-झगड़ों का मनोरंजन के साधनो के अभाव से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है।

आवश्यकता इस बात की है कि गाँव के लड़के-लड़कियों तथा स्त्री-पुरुषों के लिए सुरुचिपूर्ण तथा स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन के साधन उपलब्ध किये जावें। मनोरंजन के साधनों से गांव का नीरस जीवन सरस बनेगा और गाँव वालों में जो लड़ाई

वाली बाल, बास्केट बाल, गेंद बल्ला इत्यादि तथा अन्य जितने भी खेल हों उनका चुनाव किया जावे और उनका प्रचार किया जावे। ग्राम खेल बोर्ड इन खेलों का नियन्त्रण, प्रचार और देखभाल करे, खेल ऐसे हों जो अधिक खर्चीले न हों, जिसे अधिक व्यक्ति खेल सकें और जिनमें सङ्गठन, सामूहिक भावना, शारीरिक विकास, साहस, स्फूर्ति तथा अनुशासन का उदय हो।

ग्राम सेवा दल : खेलों के अतिरिक्त लड़कों और युवकों को मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए तथा उनको योग्य नागरिक बनाने के लिए ग्राम सेवादल की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक गाँव में एक ग्राम सेवादल बनाया जावे। ग्राम सेवादल में गाँव के बड़े लड़के तथा युवक भर्ती किये जावें। ग्राम सेवा-दल के सदस्यों को सेवा का महत्त्व समझाया जावे। प्रयत्न यह किया जावे कि गांव का प्रत्येक युवक ग्राम सेवा को अपने लिए गौरव समझे। ग्राम सेवादल निम्नलिखित कार्य करे। होली, दिवाली, दशहरा, ईद इत्यादि त्यौहारों तथा अन्य अवसरों पर गाँव की सफाई करना, टिड्डी तथा अन्य फसलों के शत्रुओं (कीड़े आदि) को मारने में गाँव वालों की सहायता करना, विशेष अवसरों पर नाटक, प्रहसन, तथा अन्य खेल तमाशों का आयोजन करके गाँव वालों के लिए मनोरंजन के साधन उपलब्ध करना। गाँवों के रास्तों को ठीक करना और गाँव में फलों के वृक्ष लगाने का कार्य तो प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। इससे दो लाभ होंगे, एक गाँव की सुन्दरता बढ़ेगी, दूसरे खाने के लिए फल मिल सकेंगे। गाँव के रास्तों को ठीक करने तथा गाँव के समीपवर्ती गड्ढों को भरने में ग्राम सेवादल गाँव वालों की सहायता कर सकता है।

नाटक, प्रहसन, भजन-मंडली इत्यादि : गाँव के नीरस जीवन को सरस और मधुर बनाने के लिए यह आवश्यक है कि ग्राम सुधार विभाग अथवा अन्य कोई प्रान्तीय संस्था गाँव के जीवन, उनकी आवश्यकताओं के आधार पर छोटे-छोटे नाटक, प्रसहन, भजन योग्य लेखकों तथा कवियों से लिखवावें। वही नाटक स्कूलों तथा ग्राम सेवादल की सहायता से गाँवों में खेले जावें। गाँव का शिक्षक अथवा अन्य कोई शिक्षित व्यक्ति उनको तैयार करावें। स्टेज, पर्दे तथा पोशाकों की उन नाटकों में कोई आवश्यकता न होनी चाहिए। चाँदनी रात्रि में गांव की किसी चौपाल पर या गाँव के स्कूल में नाटक हों, गांव के लोग उन्हें देखें। विशेष अवसरों पर अथवा त्यौहारों पर लड़के सामूहिक रूप से उन गानों को गायें जो गाँवों के लिए विशेष रूप से लिखवाये गए हैं। अच्छे भजनों के प्रचार से दो लाभ होंगे। एक तो प्रचलित कुरीतियों के विरुद्ध वातावरण बनेगा, दूसरे मनोरजन होगा।

गांव में खेलकूद और मनोरंजन का प्रबन्ध करने वाली एक सभा स्थापित की जावे जो हिन्दुओं, मुसलमानों तथा ईसाइयों के त्यौहारों के समय मनोरंजन के

निर्धन किसान को अदालत के चपरासी से लेकर, वकील तथा अदालत के कर्मचारी तक किस प्रकार लूटते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। ग्राम-निवासी मुकदमेबाजी में जितना धन नष्ट करते हैं उसका अनुमान बहुत कम लोगों को है। लेखक ने इस सम्बन्ध में जो थोड़ी सी खोज की है, उससे उसे ज्ञात हुआ कि साधारणतः जितना लगान वह जमींदार को देता है उससे कहीं अधिक वह मुकदमेबाजी और अदालती कार्य में व्यय करता है लेकिन इतने ही से मुकदमेबाजी से होने वाली आर्थिक हानि का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किसान कितने दिन अदालतों में चक्कर काट कर व्यर्थ खोता है, उन दिनों खेती के काम की जो हानि होती है यदि उसका हिसाब लगाया जावे तो मुकदमेबाजी से होने वाली आर्थिक हानि का अनुमान लगाया जा सकता है।

यही नहीं, मुकदमेबाजी के फलस्वरूप गांव का सामाजिक जीवन कटु और विषाक्त हो जाता है। जिन दो व्यक्तियों में मुकदमेबाजी होती है उनमें तथा उनके सहायकों और सम्बन्धियों में सदैव के लिए वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है। वे कभी किसी कार्य में सामूहिक रूप से भाग नहीं ले सकते। एक दूसरे को सब प्रकार से हानि पहुँचाना चाहता है। इससे गाँव का वातावरण बहुत खराब होता है।

इस घातक मुकदमेबाजी को रोकने का उपाय यह है कि गाँव में मनोरंजन के साधन उपलब्ध किये जावें। गांव वालों को शिक्षित बनाया जावे, गांव में मुकदमेबाजी को एक दोष समझा जावे, ऐसा वातावरण बना दिया जावे जो लोग मुकदमेबाजी कराते हैं उन्हें नीचा समझा जावे। इस प्रकार गांव में मुकदमेबाजी के विरुद्ध प्रचार किया जावे। गांव वालों में स्नेह और भ्रातृ-भाव उत्पन्न हो इसके लिए त्यौहारों तथा उत्सवों पर ऐसा कार्यक्रम रक्खा जावे कि आपस में मेल बढ़े।

इसके अतिरिक्त गांवों को मुकदमेबाजी से होने वाली भयङ्कर आर्थिक हानि से बचाने के लिए दो चार गाँवों के बीच एक ग्राम पंचायत स्थापित की जावे जो कि गांव के झगड़ों का फैसला वहीं कर दिया करे। पंचायतों की स्थापना इस समस्या को हल करने के उद्देश्य से बहुत आवश्यक है। किन्तु वर्तमान पंचायतों में बहुत दोष हैं। पंचायतों को दीवानी और फौजदारी के यथेष्ट अधिकार मिलने चाहिए और यह नियम बना दिया जाना चाहिए कि वकील या कोई मुख्तार उनमें किसी पक्ष की पैरवी नहीं कर सकता। जितने शीघ्र इस प्रकार की पंचायतों का सङ्गठन किया जा सके, उतना ही अच्छा है। प्रचार, शिक्षा, तथा अन्य सब प्रकार से हमें गाँवों में मुकदमेबाजी से युद्ध करना होगा। तभी ग्राम निवासियों का इस रोग से छुटकारा होगा। यह रोग घुन की तरह से गाँवों को खाये जा रहा है।

रेडियो और सिनेमा फिल्म : गाँव में मनोरंजन के साधन उपलब्ध करने

इन्हीं सब कारणों से निर्धन व्यक्ति ऋणी हो जाता है।

विवाह में दहेज प्रथा ने तो और भी गजब ढा दिया है। प्रत्येक ग्राम निवासी यह समझता है कि यदि मैं रस्म को तोड़ूँगा तो नक्कू बनूँगा, यह है भी कुछ हद तक ठीक। यह समस्या तभी हल हो सकती है कि जब गाँव के अधिकांश लोग इन रीतियों को तोड़ें। इस समस्या को हल करने के लिए प्रचार तथा शिक्षा ही एकमात्र उपाय है।

रहन-सहन सुधार समितियाँ (Better Living Societies): धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों पर होने वाले अपव्यय को रोकने के लिए कुछ प्रान्तों में रहन-सहन सुधार समितियाँ स्थापित की गई हैं। पंजाब और उत्तरप्रदेश में इनकी संख्या अधिक है। पंजाब के सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार का कथन है कि जिन स्थानों पर यह समितियां स्थापित हो गई हैं वहाँ के रहने वालों को इनके द्वारा प्रतिवर्ष हजारों रुपये की बचत होती है। जो भी मनुष्य इन समितियों के सदस्य होते हैं वे तो नियमानुसार इस प्रकार का अपव्यय कर ही नहीं सकते, साथ ही वे अन्य किसी मनुष्य के विवाहादि उत्सवों में भी सम्मिलित नहीं हो सकते, जहाँ इस प्रकार का अपव्यय किया जावे। इस प्रकार समिति का प्रभाव गैर सदस्यों पर भी पड़ता है। समिति विवाह तथा अन्य उत्सवों पर कितना व्यय होना चाहिए, यह निश्चित करती है, और जो सदस्य नियमानुसार कार्य नहीं करता उस पर जुर्माना करती है। यह समितियां गाँवों की सफाई का कार्य भी करती हैं। गलियों को साफ तथा एक-सी करवाती हैं। कुछ समितियाँ गाँव वालों को हवा का महत्व बतला कर मकानों में खिड़की लगवाती हैं। यह समितियाँ जेवर बनवाने का भी विरोध करती हैं। यह समितियाँ सदस्यों को बाध्य करती हैं कि खाद को गड़हों में डालें जिससे कि गाँव में गंदगी न हो और खाद उत्तम हो। पंजाब में एक समिति ऐसी है जिसके सदस्यों ने कंडे न बनाने और सारे गोबर की खाद बनाकर खेतों में डालने का निश्चय किया है। रहन-सहन सुधार समितियों की संख्या पंजाब में ३०० से ऊपर है। यह समितियाँ इस बात का प्रयत्न करती हैं कि अपव्यय कम हो।

काश्मीर राज्य में सहकारी साख समितियों ने यह नियम बना लिया है कि यदि कोई सदस्य सामाजिक कार्यों पर अधिक व्यय करे तो उस पर जुर्माना किया जावे।

पिछले वर्षों में उत्तर प्रदेश में यह समितियाँ बहुत बड़ी संख्या में (एक हजार से अधिक) स्थापित की गई हैं। अधिकांश समितियाँ प्रान्त के पूर्वीय भाग में हैं। यह समितियाँ ग्राम सुधार विभाग की देखरेख में सड़कों की मरम्मत करती हैं, कुएँ खुदवाती हैं, तालाबों को साफ रखती हैं, गाँव की सफाई करवाती हैं, औषधालय

है, या जिसके पास कुछ धन इकट्ठा हो जाता है, अथवा यह कुछ न होते हुए यदि कोई महत्त्वाकांक्षी होता है तो वह गाँव छोड़कर शहरों की ओर दौड़ता है। यही नहीं, वृद्धावस्था में जब वह नौकरी या अपने धन्धे से छुट्टी लेता है तब भी वह गांव को न लौटकर शहर में ही बस जाता है। पढ़े-लिखे लोगों को बात जाने दीजिये, जमींदार भी गाँवों में रहना नहीं चाहते। वे भी गांवों की आमदनी से शहरों में रहना चाहते हैं। जो कारीगर गांव में रहकर कुशलता प्राप्त कर लेता है, वह भी शहर की ओर चल देता है। इस प्रकार आज हमारे गाँव से पूँजी, मस्तिष्क तथा हुनर बाहर निकला जा रहा है और गांवों के अशिक्षित तथा निर्धन किसानों और कारीगरों के बीच में चतुर साहूकार उनको लूटने के लिए रह जाता है। फल यह हो रहा कि गांवों में निर्धन किसानों को रास्ता दिखलाने वाला कोई नहीं रहता। जब मनुष्यों की छांटन ही गांवों में निवास करती है तो क्रमशः जातीय ह्रास होने लगता है और राष्ट्र की शक्ति क्षीण होती जाती है। सरकारी कर्मचारी, महाजन, जमींदार सभी निर्धन किन्तु भोले किसान को लूटते हैं। अस्तु; गाँवों को उजड़ने से बचाने के लिए तथा जातीय ह्रास को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि गाँवों को दशा में सुधार किया जावे जिससे पढ़े-लिखे युवक तथा धनी व्यक्ति गांव छोड़ कर शहरों की ओर न दौड़ें।

अब हमें यह देखना चाहिए कि गाँवों में महत्त्वाकांक्षी, शिक्षित, धनी और साहसी व्यक्ति क्यों नहीं रहते। गाँवों में जमींदारी के अतिरिक्त यथेष्ट आय के साधन, ऊँचे दर्जे का सामाजिक जीवन, मानसिक विकास तथा स्वस्थ मनोरंजन के साधन उपलब्ध नहीं हैं। इसके अतिरिक्त गमनागमन के साधन तथा चिकित्सा का अभाव है। यही कारण है कि कुशाग्र बुद्धि तथा क्षमतावान् युवक गाँवों से भाग जाते हैं। समस्या बहुत जटिल है। जब तक गाँवों में यथेष्ट आय के साधन न हों तब तक यह समस्या हल नहीं हो सकती। जब गाँवों में भी यथेष्ट धन कमाने के अवसर हों और फिर गांव के सामाजिक जीवन को उन्नत करने तथा गांवों के अन्य अभावों को दूर करने का प्रयत्न किया जावे तभी यह समस्या हल हो सकती है। किन्तु भारतीय ग्रामों की आर्थिक दशा इस समय ऐसी गिर गई है कि साधारण प्रयत्नों से वह ठीक नहीं हो सकती। इसके लिए क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता होगी।

हमें आवश्यकता पड़ने पर दबाव डाल कर भी बिखरे हुये खेतों की चकबन्दी करनी होगी तथा एक दूसरा कानून बना कर यह नियम बनाना होगा कि किसी किसान के पास परिवार पालन योग्य भूमि से कम भूमि न रहे। साथ ही भविष्य में परिवार पालन योग्य भूमि का भाइयों में बँटवारा न हो सके। अब प्रश्न यह हो सकता है कि इस प्रकार का कानून बना देने से किसान बेकार हो जावेंगे। इसके लिये हमें वैज्ञानिक ढंग से संगठित गृह-उद्योग धंधों को सरकार की सहायता से गाँवों में स्थापित करना

अतिरिक्त ऊँचे दर्जे का सामाजिक जीवन भी निर्माण करना होगा। आर्थिक स्थिति के सुधरने पर गांव के रहने वाले भी इन कार्यों पर व्यय करेंगे। इसके अतिरिक्त राज्य-कर्मचारियों की मनोवृत्ति को बदलना होगा। आज गांव में रहने वाला नीची दृष्टि से देखा जाता है, उससे अभद्रतापूर्वक बोलना तथा उसको पद-पद पर अपमानित करना, कोई अपराध नहीं समझा जाता है। यह सब कठोरतापूर्वक बन्द करना होगा। तभी ग्रामीण स्वाभिमानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेगा और अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकेगा। गांवों के पुनः निर्माण का कार्य अर्द्ध-निद्रित अवस्था में नहीं हो सकता। इसके लिये समस्त राष्ट्र की शक्ति को केन्द्रित करना होगा। देश के आर्थिक ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन करना होगा।

कुछ समय हुआ कि भारतवासियों का ध्यान उन लाखों गांवों की ओर गया जो कि अत्यन्त गिरी हुई अवस्था में थे। क्रमशः कुछ व्यक्तियों ने अपने-अपने क्षेत्रों में ग्राम-सुधार कार्य करना आरम्भ किया। इन प्रयत्नों में श्री ब्रेन और श्रीमती ब्रेन का पंजाब के गुरगाँव जिले का ग्रामसुधार कार्य, स्वर्गीय विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का श्री निकेतन का प्रयोग तथा वाई० एम० सी० ए० का दक्षिण भारत के मालाबार प्रान्त में किया जाने वाला ग्राम-सुधार कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त बनारस जिले में श्री बी० एम० मेहता के उद्योग से ग्रामसुधार का प्रशंसनीय कार्य हुआ। डैनियल हैमिल्टन द्वारा स्थापित सुन्दरबन उपनिवेश भी इस दिशा में एक प्रशंसनीय कदम था। कुछ अन्य स्थानों पर भी समाजसेवी व्यक्तियों ने ग्रामसुधार कार्य किये। उधर अखिल भारतीय चर्खा संघ भी ग्रामसुधार कार्य को परीक्षण रूप से कर रहा था। परन्तु राज्य का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर उस समय तक नहीं गया जब तक कि दिसम्बर १९३४ के बम्बई कांग्रेस के अधिवेशन में महात्मा गाँधी की अध्यक्षता में ग्राम-उद्योग संघ (Village Industries Association) की स्थापना हुई। ग्राम-उद्योग संघ की स्थापना से सरकार बहुत ही चौकन्नी हुई। सरकार ने महात्माजी के इस कार्य को केवल गाँवों में काँग्रेस के प्रभाव को बढ़ाने की एक चाल समझा। अतएव भारत-सरकार ने भी एक करोड़ रुपये की ग्रांट देकर प्रान्तीय सरकारों को ग्राम-सुधार-कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। अस्तु; सभी प्रान्तों में १९३५ के आरम्भ से ग्रामसुधार का कार्य आरम्भ हो गया। तब तक इस कार्य के लिए कोई पृथक विभाग स्थापित नहीं किया गया था। जब नवीन निर्वाचन हुआ और सब प्रान्तों में उत्तरदायी मंत्रिमंडल स्थापित हुए तो हर एक प्रान्त में ग्राम-सुधार विभाग स्थापित करके मंत्रिमंडलों ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया।

आज तो भारत में ग्राम सुधार आन्दोलन की बहुत चर्चा है। प्रत्येक प्रान्तीय

सतेज बनाने के लिए के लिएँ यह आवश्यक है कि गाँव वालों में अपनी वर्तमान दयनीय स्थिति से असंतोष उत्पन्न कर दिया जाय। उससे ग्रामीण जनता में अपनी स्थिति में सुधार करने की इच्छा बलवती हो उठेगी। गाँवो पर बाहर से सुधार लादने में कभी भी सफलता नहीं मिल सकती। खेद है कि इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर कार्यकर्ताओं का ध्यान बहुत कम गया है। शीघ्र सफलता मिलने की आशा में उत्साही कार्यकर्ता गाँव की प्रत्येक बुराई को दूर करने के लिए दौड़ पड़ते हैं, किन्तु वे सुधार ग्रामीणों को छूते तक नहीं। फल यह होता है कि जब कार्यकर्ता का उत्साह मन्द पड़ जाता है अथवा वह वहाँ से हट जाता है तो उस गाँव की दशा पहले जैसी ही होजाती है। गाँव वाले अधिकांश सुधारों को अधिकारियो के दबाव या भय से स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु वें स्वयं उनको नहीं चाहते। आज गाँवों में जो सुधार-कार्य हो रहा है वह अधिकतर इसी तरह का है। ग्राम-सुधार-कार्य तभी स्थायी और सफल हो सकता हैं जब सुधार अन्दर से हो न कि बाहर से। साथ ही ग्राम-सुधार-कार्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह भी आवश्यक हैं कि ग्राम-सुधार-आन्दोलन चलाने के लिए ग्रामीण नेतृत्व उत्पन्न किया जावें।

एक दूसरा प्रश्न भी इस विषय में महत्त्वपूर्ण है। अभी तक ग्राम-सुधार-कार्य को टुकड़े-टुकड़े करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस प्रकार सफलता मिलना कठिन है। गाँवों की जितनी भी समस्याएँ हैं एक दूसरे से सम्बन्ध रखती हैं। अतएव ग्राम-सुधार-कार्य में सफलता तभी मिल सकती है कि जब सारी समस्याओं के विरुद्ध एक साथ युद्ध छेड़ दिया जाय। उदाहरण के लिए ग्रामीण ऋण की समस्या तभी हल हो सकती हैं जब मुकदमेबाजी, सामाजिक कुरीतियां खेती की उन्नति, स्वास्थ्य और सफाई, पशुओं की चिकित्सा और शिक्षा की समस्यायें हल की जाँय। फिर पुराने ऋण को चुकाने के लिए कानून बनाने और भविष्य में पूँजी का प्रबन्ध करने के लिए साख समितियां स्थापित करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार मुकदमेबाजी का रोग दूसरी कुरीतियों तथा मनोरंजन के साधनों के अभाव से सम्बन्ध रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय ग्रामो की समस्याओं को एक-एक करके हल नहीं किया जा सकता।

भारतवर्ष में ५ लाख से ऊपर गाँव हैं। यदि मान लिया जाय कि एक गांव को दशा को सुधारने में पांच वर्ष लगेंगे तो कार्य की गुरुता स्पष्ट हो जाती है। ऐसी दशा में यह निश्चय करना कि ग्राम-सुधार-कार्य की प्रणाली कैसी हो, अत्यन्त आवश्यक हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि एक केन्द्रीय ग्राम सुधार केन्द्र स्थापित किया जाय और समीपवर्ती ग्रामों को उस केन्द्र का प्रभाव क्षेत्र बनाया जाय। केन्द्र का ग्राम-सुधार केन्द्र समीपवर्ती गाँवों पर प्रभाव डालने वाला (Reflecting Centre)

परिच्छेद १५

दुर्भिक्ष और खाद्य समस्या

दुर्भिक्ष भारत में कोई नई घटना नहीं है, अत्यन्त प्राचीन काल में भी भारत में दुर्भिक्ष पड़ते थे, किन्तु हमें उनका विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। फिर प्राचीन संस्कृत साहित्य में दुर्भिक्षो के सम्बन्ध में हमें कुछ पढ़ने को मिल ही जाता है। मुसलिम काल में जो दुर्भिक्ष इस देश में हुए उनका विस्तृत विवरण हमें प्राप्त है। उनमें से चार दुर्भिक्ष अत्यन्त भयङ्कर थे जिनमें लाखों मनुष्यों की मृत्यु हो गई।

पहला भयानक दुर्भिक्ष १३४३ में मुहम्मद तुग़लक के शासन काल में पड़ा इस दुर्भिक्ष में बहुत अधिक जन हानि हुई। दूसरा भयङ्कर दुर्भिक्ष अकबर के शासन-काल में पड़ा। यह दुर्भिक्ष समस्त देश में था और तीन चार वर्षों तक देश को इस भयङ्करं दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा। शाहजहाँ के शासन काल में तीसरा और सबसे भयङ्कर दुर्भिक्ष हुआ। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ऐसा भयङ्कर दुर्भिक्ष भारत में कभी नहीं पड़ा। चौथा भयङ्कर दुर्भिक्ष औरङ्गजेब के शासन काल में पड़ा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल (१७६० से १८५७ तक) में १६ दुर्भिक्ष पड़े। इनमें १७७०, १७८४, १८०२, १८२४ और १८३७ के दुर्भिक्ष अत्यन्त भयानक थे इन दुर्भिक्षो में अपार जन हानि हुई किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। हिन्दू तथा मुसलिम शासन काल में शासक दुर्भिक्ष के समय सब प्रकार से प्रजा के जीवन की रक्षा का प्रयत्न करते थे। स्थान स्थान पर राज्य की ओर से अन्न संग्रहित हुआ रक्खा रहता था, दुर्भिक्ष के समय प्रजा को अनाज दिया जाता था। दुर्भिक्ष के दिनों में राज्य कुयें, तालाब, सड़कें तथा इमारतें बनवाकर प्रजा को काम देता था। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी इस जिम्मे-दारी की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। कम्पनी तो भारत का शोषण करके लाभ कमाने के लिए आई थी उसने निरीह प्रजा को क्षुधा से मरने दिया।

१८५८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हो गया और ब्रिटिश सरकार के हाथ में भारत का शासन आगया। १८५८ से बीसवी शताब्दी के आरम्भ तक कई दुर्भिक्ष पड़े। इनमें नीचे लिखे दुर्भिक्ष प्रमुख थे—१८६० में उत्तर पश्चिम

दुर्भिक्ष का प्रतिकार : प्रश्न यह है कि दुर्भिक्षों को किस प्रकार रोका जावे। दुर्भिक्षों को रोकने का एक मात्र उपाय खेती के धन्धे को निश्चित और समृद्धिशाली बनाना है, जब तक खेती का धन्धा आज की भांति पिछड़ा हुआ और अनिश्चित रहेगा तब तक दुर्भिक्षों के अभिशाप से नहीं बचा जा सकता।

दुर्भिक्षों से देश की रक्षा करने के लिये देश भर में छोटे-बड़े सिंचाई के साधनों की व्यवस्था करनी होगी जिससे कि देश की अधिकांश भूमि के लिए निश्चित और वर्ष भर सिंचाई की व्यवस्था हो सके। बाढ़ों को नियन्त्रित किया जावे जिससे कि फसलों की हानि न हो सके। टिड्डी दल का विनाश करने व फसलों की उनसे रक्षा करने के लिए प्रभावशाली और वैज्ञानिक तरीके निकाले जावें। तथा फसलों के रोगों को रोकने के वैज्ञानिक तरीके निकाले जावें। आज के वैज्ञानिक युग में यह कठिन नहीं होना चाहिए।

इतना सब होने पर भी हम दुर्भिक्षों का भली भाँति सामना तभी कर सकते हैं जब कि निर्धनंता को दूर किया जावे। इसके लिये हमें खेती के धन्धे का पुनर्गठन करना होगा, ग्राम्य तथा कुटीर धन्धों को नवजीवन प्रदान करके उनकी उन्नति करनी होगी तथा बड़े धन्धों का विकेन्द्रीयकरण करना होगा। दुर्भिक्ष का सम्बन्ध ग्रामीण जन-संख्या की कल्पनातीत निर्धनता से है, और जब तक हम उसको नष्ट नहीं करते तब तक दुर्भिक्ष का भूत दूर नहीं किया जा सकता।

दुर्भिक्ष निवारण नीति का विकास : दुर्भिक्ष निवारण नीति के विकास की दृष्टि से १८६५, १८७६-७८, १८६६-६७ तथा १८६६-१६०० के दुर्भिक्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। इन्हीं दुर्भिक्षों में राज्य ने दुर्भिक्षों से प्रजा की रक्षा करने के लिए व्यवस्थित प्रयत्न किया और उस अनुभव के आधार पर दुर्भिक्ष निवारण नीति विकसित हुई। १८६५ में उड़ीसा में जो दुर्भिक्ष पड़ा उसमें पहली बार राज्य ने बड़ी मात्रा में दुर्भिक्ष निवारण के लिए व्यवस्थित राजकीय प्रयत्न किया।

किन्तु दक्षिण के भयंकर दुर्भिक्ष (१८७६-७८) के पश्चात् ही सरकार ने प्रथम दुर्भिक्ष कमीशन सर रिचार्ड स्ट्रैची की अध्यक्षता में दुर्भिक्षों के सम्बन्ध में स्थायी नीति निर्धारित करने के लिए बिठाया। उक्त कमीशन ने दुर्भिक्ष निवारण के सिद्धान्तों को निर्धारित किया जिनके आधार पर भविष्य में दुर्भिक्ष निवारण नीति निर्धारित की गई। कमीशन ने नीचे लिखे सिद्धान्त स्थापित किए :—

(१) जो मनुष्य स्वस्थ शरीर के हैं उनको दुर्भिक्ष काल में दुर्भिक्ष निवारण निर्माण कार्यों पर काम देना राज्य का उत्तरदायित्व होना चाहिए और उनको इतनी मजदूरी देनी चाहिए कि वे अपना भरण पोषण कर सकें।

(२) उन व्यक्तियों को जो अत्यन्त वृद्ध हैं, अशक्त हैं, अपंग हैं, अथवा जो

मनुष्यों के नैतिक स्तर को बनाये रक्खा जावे, उनको निराश न होने दिया जावे, उनको आश्वासन और धैर्य बँधाया जावे। इसके लिए कमीशन ने यह सिफारिश की कि जैसे ही दुर्भिक्ष की आशंका भर हो, गाँव वालों को तकावी ऋण दिया जावे, मालगुजारी को वसूल करना बंद कर दिया जावे। उस प्रदेश में आवश्यकता पड़ने पर कौन कौन से दुर्भिक्ष निवारण निर्माण-कार्य चलाए जा सकते हैं उनकी एक योजना तैयार की जावे। बराबर उस प्रदेश की निगरानी रक्खी जावे कि दुर्भिक्ष आ रहा है अथवा नहीं। खतरे के चिह्नों को देखा जावे और दुर्भिक्ष निवारण कार्य के लिए गैर सरकारी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जावे। कमीशन ने चारे की समस्या को भी हल करने का सुझाव दिया जिससे कि पशुओं की रक्षा की जा सके इसके अतिरिक्त कमीशन ने सहकारी समितियों की स्थापना करने तथा नहरें और तालाब बनवाने पर भी बल दिया जिससे कि दुर्भिक्ष से प्रजा की रक्षा की जा सके। दुर्भिक्ष निवारण नीति को निर्धारित करने के साथ-साथ सरकार ने देश की दुर्भिक्षों से रक्षा करने के उपाय भी करना आरम्भ किए। दुर्भिक्ष निवारण ग्रांट में से राज्य ने नहरें, तालाब तथा रेलें बनवाईं।

दुर्भिक्ष निवारण कोष : जब १६१६ में भारत में शासन सुधार हुए और प्रान्तों में उत्तरदायी शासन का श्री गणेश हुआ तो दुर्भिक्ष निवारण कार्य प्रान्तों के जिम्मे आ गया। अस्तु; १६१६ के ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक प्रान्त को अपनी आय में से एक निश्चित रकम प्रति वर्ष दुर्भिक्ष निवारण कोष में जमा करनी पड़ती थी। यह कोष केन्द्रीय सरकार के पास जमा रहता था जिस पर केन्द्रीय सरकार सूद देती थी। यह रकम जब दुर्भिक्ष पड़े तो काम में आती थी। १६३५ के ऐक्ट में दुर्भिक्ष निवारण कोष में प्रतिवर्ष रकम जमा करने के सम्बन्ध में कोई धारा नहीं है। परन्तु कुछ प्रान्तीय सरकारों ने यह दुर्भिक्ष निवारण कोष स्थापित किया है और उस रकम को केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूति (सिक्योरिटी) में लगा दिया जाता है।

दुर्भिक्ष निवारण : अब हम दुर्भिक्ष निवारण प्रणाली के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार करेंगे। सरकार ने दुर्भिक्ष निवारण की प्रणाली को ऐसा पूर्ण और सुव्यवस्थित कर लिया है कि यदि दुर्भिक्ष होता है तो सरकार उसका सामना कर सकती है। प्रत्येक जिले में दुर्भिक्ष निवारण के समय क्या निर्माण कार्य खोले जावेंगे उनकी एक विस्तृत सूची रहती है। उनके बनाने में कितना व्यय होगा, कितने मजदूरों की जरूरत होगी, कितने औजार चाहियें—इस सबका विस्तृत व्योरा रहता है और औजार स्टाक में रहते हैं। उसके नकशे इत्यादि सार्वजनिक निर्माण विभाग के पास रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना किसी लम्बी तैयारी के उन कार्यों को आरम्भ किया जा सकता है।

रेलों के विस्तार के परिणाम स्वरुप खाद्य पदार्थ सरलता से एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जा सकते हैं। फिर सरकार की दुर्भिक्ष निवारण व्यवस्था से स्थिति में और भी अधिक सुधार हो गया था। परन्तु यह नीति बंगाल के दुर्भिक्ष (१९४३-४४) में बिलकुल असफल रही और इस दुर्भिक्ष में अपार जनहानि हुई।

बंगाल का दुर्भिक्ष (१९४३-४४) : युद्ध के पहले दो वर्षों में यद्यपि खाद्य-पदार्थ की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी, क्योंकि खाद्य पदार्थों का मूल्य ऊँचा उठ रहा था; परन्तु स्थिति भयावह नहीं हुई थी। किन्तु दिसम्बर १९४१ में जब जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया तो बंगाल की स्थिति बहुत खराब हो गई। बंगाल के अतिरिक्त मदरास, बम्बई तथा ट्रावन्कोर और कोचीन में भी खाद्य पदार्थों की बहुत कमी अनुभव होने लगी, किन्तु बंगाल में तो प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया। बंगाल दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार इस दुर्भिक्ष में पन्द्रह लाख से अधिक मनुष्यों की मृत्यु हुई।

बंगाल दुर्भिक्ष के नीचे लिखे मुख्य कारण थे :—

(१) बंगाल में चावल की बहुत कमी हो गई क्योंकि पिछली वर्ष का स्टाक बहुत कम था और १९४२ की चावल की फसल कम हुई। (२) राशन व्यवस्था और खाद्यान्नों के वितरण का प्रबन्ध बहुत दोषपूर्ण था, सरकारी कर्मचारी भ्रष्ट थे। सरकार इस भ्रष्टाचार को रोक नहीं सकी। (३) बर्मा पर जापान का अधिकार हो जाने से बर्मा से चावल का आयात बन्द हो गया। (४) रेलवे के डिब्बों की कमी के कारण अनाज को लाना कठिन हो गया। किन्तु बंगाल के दुर्भिक्ष का मुख्य कारण सरकार की अकर्मण्यता और सरकारी कर्मचारियों का भ्रष्टाचार था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बंगाल दुर्भिक्ष के तीन मुख्य कारण थे।

(१) चावल की कमी। (२) सरकारी वितरण व्यवस्था का भंग हो जाना। (३) सरकारी कर्मचारियों की अकर्मण्यता और उनका भ्रष्टाचार।

वास्तव में यदि देखा जावे तो बंगाल का दुर्भिक्ष देशव्यापी खाद्य संकट की भूमिका मात्र था। आज जो देश खाद्य संकट में से गुजर रहा है वह एक प्रकार से बंगाल के दुर्भिक्ष का फैलाव ही है। सच तो यह है कि बंगाल दुर्भिक्ष के दिन से आज तक देश अनवरत दुर्भिक्ष की काली छाया में रह रहा है। अब हम देश में खाद्य संकट का अध्ययन करेंगे।

भारत में खाद्य पदार्थों की कमी : १९३९ में जो द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ उसके पूर्व यद्यपि साधारणतः लोग यह तो समझते थे कि भारतीय कृषि का धन्धा पिछड़ा हुआ है, उसमें उन्नति की आवश्यकता है, प्रति बीघा यहाँ पैदावार कम होती है। किन्तु उन्हें यह कल्पना तक नहीं थी कि भारतवर्ष में खाद्य पदार्थों का ऐसा भयङ्कर टोटा भी हो सकता है कि विदेशों से खाद्य पदार्थ न आने पर यहाँ अकाल पड़

अधिक खाने लगा। साथ ही गेहूँ इत्यादि भी बहुधा खाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि खाद्य पदार्थों की कमी गाँवों से हटकर शहरों में पहुँच गई। शहरों में खाद्य पदार्थों का टोटा पड़ गया। और तब जाकर सरकार तथा सर्वसाधारण को ज्ञात हुआ कि देश जनसंख्या के लिए यथेष्ट भोजन उत्पन्न नहीं करता।

भारत में युद्ध काल में खाद्य पदार्थों की कमी अनुभव होने का ऊपर लिखा केवल एक कारण ही नहीं था। दूसरे कारण भी उपस्थित हो गए, जिनसे कि खाद्य पदार्थों की कमी और भी बढ़ गई और भोजन की समस्या ने और भी विकट रूप धारण कर लिया।

बर्मा पर जापान का आधिपत्य हो गया। इस कारण बर्मा से बङ्गाल तथा मदरास में जो चावल आता था उसका आयात एकदम बन्द हो गया, इस कारण उन प्रांतों में खाद्य पदार्थों का और भी अधिक टोटा पड़ गया।

युद्ध काल में सेना के लिए तथा उन असंख्य धन्धों के लिए जो कि युद्ध-सामग्री तैयार करने के लिए देश में स्थापति किए गए थे, असंख्य व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी। बहुत बड़ी संख्या में छोटे किसान और विशेषकर खेत मजदूर सेना में और इन युद्ध जनित धन्धों में भरती हो गए। खेती के लिए श्रमिकों की कमी हो गई। किसी-किसी प्रदेश में तो अधिक सैनिक भरती होने के कारण तथा मजदूरों के धन्धों में चले जाने कारण खेती करने के लिए यथेष्ट मजदूर ही नहीं रहे। कुछ भूमि तो परती पड़ी रही और शेष को भली भांति जोता न जा सका।। यही नहीं, युद्ध काल में खेती के औजारों की भी कमी हो गई। लोहा इत्यादि न मिलने के कारण औजारों को प्राप्त करना कठिन हो गया। पुराने औजार घिस गए और बेकार हो गए। नये औजार मिलने कठिन हो गए। सैनिकों के लिए माँस की बेहद माँग बढ़ जाने के कारण पशुओं का बध भी अधिक हुआ, इस कारण अच्छे बैलों का अभाव हो गया। इन सब कारणों से खेती को बहुत हानि हुई। यों ही भारत में खेती बहुत पिछड़ी थी, इन कारणों से खेती की दशा और भी बिगड़ गई।

केवल स्थिति यहीं तक नहीं बिगड़ी, विदेशी सेनाओं (अमेरिकन तथा आस्ट्रेलियनों) के यहाँ आ जाने के कारण खाद्य पदार्थों की माँग बेहद बढ़ गई। खेत मजदूर जो कि गांवों में कठिनता से दिन में एक बार मोटा भोजन पाता था, सेना में भरती हो जाने पर दिन में चार बार भर पेट अच्छा भोजन पाने लगा। इस कारण सैनिक आवश्यकताएँ कई गुना बढ़ गईं। सरकार ने बहुत अधिक अनाज भर कर रखना आरम्भ कर दिया, सैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बड़े-बड़े अन्न-भण्डार स्थापित किए गए।

पूर्वीय बङ्गाल तथा आसाम की स्थिति और भी बिगड़ गई। इम्फाल के पास

१६३१-१६४१ के दशाब्द में स्थिति और भी बिगड़ती गई। जहाँ इन दस वर्षों में खाद्यान्नों को उत्पन्न करने वाली भूमि में १·५ (डेढ़) प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु खाद्यान्नों की उत्पत्ति में ४ प्रतिशत कमी हो गई, वहाँ जनसंख्या में १५ प्रतिशत की वृद्धि होगई। अस्तु; १६४१ तक जनसंख्या ने खाद्यान्नों की उत्पत्ति को बहुत पीछे छोड़ दिया। १६३३ में सर जान मैगा जो भारत के अन्यतम चिकित्सा शास्त्री थे उन्होने हिसाब लगागा था कि भारत के ४० प्रतिशत गाँवो में जनसंख्या खाद्य पदार्थों की तुलना में अधिक है।

जब जनसंख्या खाद्य पदार्थों की तुलना में अधिक बढ़ गई तो भारत प्रति-वर्ष पन्द्रह बीस लाख टन खाद्यान्न विदेशों से मंगवाने लगा। डाक्टर राधाकमल के अनुसार भारत अपनी १२ प्रतिशत जनसंख्या को भोजन नहीं दे सकता। आज तो ५० लाख टन से अधिक खाद्य पदार्थों की देश में कमी का अनुमान है।

पिछले राजनैतिक परिवर्तनो के कारण भी भारत में खाद्य पदार्थों की कमी हो गई। बर्मा जब भारत से अलग किया गया तो भारत में १३ लाख टन चावल की कमी हो गई। बर्मा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के पश्चात १३ लाख टन अधिक चावल उत्पन्न करता था। १६४७ में भारत का विभाजन होने के कारण भारत को सतत्तर लाख टन खाद्यान्नों का और घाटा हो गया। भारत को विभाजन के उपरान्त अविभाजित भारत की ७८ प्रतिशत से अधिक जनसंख्या मिली किन्तु केवल ६६ प्रतिशत चावल और ६६ प्रकिशत गेहूँ की उत्पत्ति मिली। यही नहीं सक्खर बांध, सतलज और पंजाब की अद्वितीय नहर प्रणालियाँ सब पाकिस्तान में चली गईं। इसके अतिरिक्त जो लाखों शरणार्थी अधिक संख्या में भारत में आये उनके कारण भी खाद्य पदार्थों की कमी हो गई। विभाजन के फल स्वरुप भारत में जूट और कपास की कमी पड़ गई। यदि हम जूट और कपास अधिक उत्पन्न न कर सके तो हमारे जूट और कपास के धन्धे ठप्प हो जावेंगे।

योजना आयोग (प्लानिङ्ग कमीशन) का अनुमान है कि जो खेती के विकास की योजना उन्होंने तैयार की है उसके अनुसार उत्पादन होने पर १६५५-५६ तक भारत में ७२ लाख टन अधिक खाद्यान्न की उत्पत्ति हो सकेगी। उनका अनुमान है कि इतना होने पर भी भारत को विदेशों से अनाज मंगवाना पड़ जा सकता है।

पौष्टिक भोजन की कमी : खाद्य पदार्थों की समस्या का हमने अभी तक केवल इस दृष्टि से अध्ययन किया है कि हमें कितनी राशि में अधिक खाद्यान्न चाहिए, परन्तु पौष्टिक तत्वो की दृष्टि से यदि हम खाद्य समस्या का अध्ययन करें तो स्थिति और भी अधिक भयावह दिखलाई पड़ती है। भारत में मनुष्यों को केवल कम खाने को ही नहीं मिलता, उनके भोजन में पौष्टिक तत्वो की भी कमी रहती है। इसका

१९४६	२२५०	७६·१
१९४७	२३३०	६३·७
१९४८	२८४०	१२९·५
१९४९	३७००	१४८·०
१९५०	२१६५	
१९५१	५५००*	

प्लानिंग कमीशन का मत है कि उत्पादन के बढ़ने तथा अन्न-वसूली की पद्धति में सुधार करने पर भी अभी कुछ वर्षों तक भारत को ३० लाख टन अनाज प्रति वर्ष मंगवाना ही पड़ेगा। प्लानिंग कमीशन के मतानुसार भारत १९५१ या ५२ में खाद्यान्नों की दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं हो सकता।

देश में स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई थी कि खेती के धन्धे में क्रांतिकारी परिवर्तन किया जाता और खेती के धन्धे का नवीन योजना के अनुसार पुनस्संगठन किया जाता। किन्तु सरकार ने ऐसा कुछ न करके केवल खाद्य पदार्थों की पैदावार को बढ़ाने का ही झिझकते हुए थोड़ा-सा प्रयत्न किया।

खाद्य पदार्थ अधिक उत्पन्न करो आन्दोलन : खाद्य पदार्थों की ऐसी कमी देखकर भारत सरकार ने खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने के लिए अप्रैल १९४२ में एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन ने "खाद्य पदार्थ अधिक उत्पन्न करो आन्दोलन" चलाने की राय दी। फलस्वरूप, १९४२ के ग्रीष्मकाल में 'खाद्य पदार्थ अधिक उत्पन्न करो' आन्दोलन चलाया गया। आरम्भ में छोटे फूल वाली कपास पैदा करने वालों को प्रोत्साहित किया गया कि वे अपनी भूमि पर कपास पैदा न करके अनाज पैदा करें। भारत सरकार ने 'कपास कोष' में से किसानों को इस कार्य के लिए आर्थिक सहायता दी जिससे वे अपने कपास के खेतों पर अनाज पैदा कर सकें। यही नहीं, सरकार ने अनाज उत्पन्न करने वालों को यह आश्वासन दे दिया कि सरकार अनाज के मूल्य को गिरने नहीं देगी। इसके उपरान्त १९४३-४४ के लिए यह निर्धारित कर दिया गया कि अनाज को उत्पन्न करने वाली भूमि को कितना बढ़ाया जावे। खाद्य विभाग ने खरीफ की पैदावार को १०० लाख एकड़ तथा रबी की फसल को १२$\frac{1}{3}$ लाख एकड़ बढ़ाने का निश्चय किया। कपास कोष में से ग्रांट देने के अतिरिक्त भारत-सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को भी आर्थिक सहायता दी कि जिससे पैदावार बढ़ाई जा सके।

'खाद्य पदार्थ अधिक उत्पन्न करो आन्दोलन' को थोड़ी सी सफलता मिली। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, आसाम और बङ्गाल में अधिक भूमि पर अनाज उत्पन्न किया गया और कुछ ऐसी भूमि भी जोती गई जो पहले जोती नहीं जाती थी। हाँ, बम्बई

*अनुमानित

व्यवसायियों को ३५०,००० टन प्रतिवर्ष अमोनियाँ सलफेट उत्पन्न करने के लिए मशीनों को विदेशों से मँगाने की सुविधा प्रधान करे। खेती के औजारों को बनाने के लिए तथा पुराने और घिसे हुए औजारों को बदलने के लिए अधिक इस्पात और लोह देने का प्रबन्ध करे। इसके अतिरिक्त शहरों के कूड़े तथा मल की खाद बनाने, अच्छे बीज को बांटने तथा सिंचाई के उन साधनों का निर्माण करने जिनको जल्दी पूरा किया जा सके, दूध देने तथा खेती में काम आने वाले पशुओं का वध रोकने, ट्रैक्टर तथा अन्य खेती के यन्त्रों को बाहर से मँगवाने की सिफारिश भी कमेटी ने की। इसके अतिरिक्त कमेटी ने इस बात की भी सिफारिश की कि प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दे दिया जावे कि वे फसलों को पैदा करने पर नियंत्रण स्थापित करें तथा जोते जा सकने वाली बंजर भूमि को जुतवावें तथा खेती के सम्बन्ध में अनुसन्धान करें। यदि इन सभी सिफारिशों को मान कर काम किया गया होता तो अनाज की उत्पत्ति बहुत बढ़ गई होती; किन्तु सरकार ने कुछ सिफारिशों के अनुसार थोड़ा बहुत कार्य किया, विशेष कुछ नहीं किया। कमेटी का यह भी मत था कि प्रति व्यक्ति पीछे प्रतिदिन एक पौंड अनाज मिलना चाहिए और उसके लिए आवश्यकता हो तो अनाज बाहर से मंगवाया जावे। इसके अतिरिक्त कमेटी ने खाद्य बोर्ड (Food board) की स्थापना भी आवश्यक बतलाई जो कि खाद्य सम्बन्धी सभी प्रयत्नों का नेतृत्व करे। कमेटी का मत था कि अनाज के मूल्य, अनाज का भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लिए कोटा नियत करने तथा केन्द्रीय अनाज रक्षित कोष का नियंत्रण एक मात्र केन्द्रीय सरकार के हाथ में होना चाहिए।

खाद कमीशन की रिपोर्ट : कमेटी ने इस बात की सिफारिश की थी कि अमोनियाँ सलफेट उत्पन्न करने के लिए कारखाना खड़ा किया जावे। सरकार ने इस प्रश्न पर पुनः विचार करने के लिए एक खाद कमीशन बिठाया। उसकी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने दो बड़े कारखाने स्थापित करने की घोषणा की है। एक कार-खाना उत्तर भारत के लिए ३५०,००० टन अमोनिया सल्फेट उत्पन्न करेगा और दक्षिण का कारखाना १००,००० टन उत्पन्न करेगा। उत्तरीय कारखानों में अधिकांश पूँजी भारत-सरकार लगावेगी, किन्तु दक्षिणी कारखानों में बम्बई, मदरास, मैसोर हैदराबाद और कोचीन साझीदार होंगे। ट्रावनकोर में एक कारखाना चल रहा है। खाद कमीशन का मत था कि इन कारखानों के लिए १० करोड़ पूँजी अपेक्षित होगी और १२६ रुपये प्रति टन के हिसाब से अमोनिया सल्फेट की लागत होगी।

ऊपर लिखे निश्चय के अनुसार भारत सरकार ने बिहार में सिंदरी नामक स्थान पर २३ करोड़ रुपए की लागत से एक कृत्रिम खाद बनाने का विशाल कारखाना स्थापित किया है जो शीघ्र ही (एक वर्ष के अन्दर) बड़ी मात्रा में कृत्रिम खाद तैयार

१९४८ में अपनी अन्तिम रिपोर्ट उपस्थित की।

कमेटी के मतानुसार अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के अन्तर्गत जो प्रयत्न किए वे ठीक दिशा में थे, किन्तु उनकी व्यवस्था ठीक नहीं थी और जितना प्रयत्न करना चाहिए उतना नहीं किया गया।

कमेटी का मत था कि भारत में खाद्य पदार्थों की स्थिति को खराब करने वाली तीन मुख्य बातें हैं: (१) जनसंख्या की आवश्यकताओं के लिए भारत में खाद्यान्नों की कमी है। (२) खाद्यान्नों की वार्षिक उत्पत्ति बहुत अनिश्चित है। (३) कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ सदैव खाद्यान्नों की कमी रहती है।

कमेटी का कहना था कि भारत में खेती की पैदावार को बढ़ाने की बहुत गुंजाइश है। बहुउद्देश्य वाली जलविद्युत तथा सिंचाई की बड़ी योजनाओं के बन जाने पर भारत में खेती वर्षा पर निर्भर नहीं रहेगी। उस दशा में भूमि की उपज को गहरी खेती के द्वारा उत्तम बीज, अधिक खाद तथा उत्तम सिंचाई के द्वारा बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है।

जिन प्रदेशों में अनाज की सदैव कमी रहती है उनके लिए कमेटी का मत था कि वहाँ सिंचाई की सुविधायें अधिक दी जावें, सूखी खेती का प्रचार किया जावे तथा कुटीर धन्धे तथा छोटी मात्रा के धन्धों को विकसित किया जावे जिससे लोगों को उनमें काम मिल सके।

कमेटी का यह भी मत था कि देश में जो खेती योग्य बंजर पड़ा है उसको तोड़ कर खेती योग्य बनाने के लिए एक केन्द्रीय भूमि-सुधार संगठन स्थापित किया जावे जिसकी पूंजी ५० करोड़ रुपए हो और जो बंजर भूमि को तोड़ कर भूमि को खेती योग्य बनाने का काम करे।

कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि सरकार को अगले पाँच वर्षों तक दस लाख टन का गेहूं और चावल का रक्षित कोष रखना चाहिए।

भारत में खाद्यान्नों की कमी को दूर करने के लिए अर्थात एक करोड़ टन अधिक अनाज उत्पन्न करने के लिए कमेटी ने एक पंच वर्षीय योजना उपस्थित की। कमेटी का मत था कि इस पंच वर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के बाद प्रति वर्ष ३० लाख टन अनाज अधिक उत्पन्न होने लगेगा।

पंच वर्षीय योजना में कमेटी ने उन्हीं पुरानी बातों पर बल दिया। अर्थात् सिंचाई की सुविधायें उपस्थित की जावें, यानी कुयें ट्यूब वेल बनाये जावें, तालाब बनाये जावें, नहरें निकाली जावें। अच्छी खाद, अच्छे बीज औजार दिए जावें, ट्रैक्टर इत्यादि की भी व्यवस्था की जावे, नई बंजर भूमि को तोड़ा जावे और उस पर खेती की जावे। कमेटी का मत था, कि ६० लाख एकड़ बंजर को आसानी से तोड़ा जा

परिच्छेद १६

कृषि सम्बन्धी नवीन योजनायें

बम्बई योजना : युद्ध काल में भारत की आर्थिक उन्नति के लिए बहुत सी आर्थिक योजनायें बनीं, उनमें ताता, बिड़ला इत्यादि उद्योगपतियों द्वारा उपस्थित किया हुआ प्लान (योजना) महत्वपूर्ण है। पहले हम उस योजना का जहाँ तक कृषि से सम्बन्ध है अध्ययन करेंगे।

बम्बई योजना का मुख्य उद्देश्य पन्द्रह वर्षों में भारत में प्रति मनुष्य पीछे औसत आय को दुगुना करना था। क्योंकि पन्द्रह वर्षों में देश की जनसंख्या में भी वृद्धि हो जावेगी, अतः आय को दुगनी करने के लिए देश में धनोत्पत्ति तिगुनी होना आवश्यक थी। बम्बई योजना इस वृद्धि को इस प्रकार प्राप्त करना चाहती थी :—

आमदनी करोड़ रुपयों में

	१९३१-३२	पन्द्रह वर्षों के उपरान्त सम्भावित आय	प्रतिशत वृद्धि
उद्योग-धन्धे	३७४	२२४०	५००%
कृषि	११६६	२६७०	१३०%
सेवा कार्य	४८४	१४५०	२००%

बम्बई योजना के निर्माताओं का मत था कि पन्द्रह वर्षों के उपरान्त भारत कृषि की उपज में १३० प्रतिशत की वृद्धि का उपयोग न कर सकेगा, उस दशा में कुल धनोत्पत्ति का ४० प्रतिशत कृषि के द्वारा होगा। अवश्य ही बम्बई योजना के निर्माता स्वयं व्यवसायी थे अतएव उन्होंने उद्योग धन्धों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया। जो भी हो, खेती में जो भी वृद्धि वे चाहते थे उसके लिए उन्होंने नीचे लिखे उपाय सुझाये थे।

बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी की जावे और जोतों को आर्थिक जोत बना दिया जावे। दबाव डालकर भी सहकारी खेती की उन्नति की जावे। उनकी राय में सहकारी समितियों द्वारा किसान के ऋण को भी चुका देना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त भूमि के कटाव को रोकना तथा भूमि की उन्नति करना आवश्यक है।

कौंसिल ने इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं किया कि खेती में शक्ति तथा यन्त्रों का उपयोग कहाँ तक लाभदायक होगा, भूमि की चकबंदी ही यथेष्ट होगी अथवा सामूहिक या सहकारी खेती आवश्यक होगी। उसका कहना है कि इसके लिए विशेष रूप से अनुसंधान किया जावे।

पशुओं की नस्ल को सुधारने के लिए कौंसिल ने ५० बुल-फार्म स्थापित करने की सलाह दी है। इसके अतिरिक्त चारे की उचित व्यवस्था करना, पशु-रोगों को रोकना, तथा दूध के धंधे की वैज्ञानिक पद्धति का प्रचार करना भी आवश्यक है। कौंसिल ने मछलियों को अधिक उत्पन्न करने की आवश्यकता बतलाई है।

कौंसिल का यह भी विचार है कि खेती की उन्नति इस कारण भी रुकी हुई है क्योंकि उसके सामने बहुत-सी आर्थिक कठिनाइयाँ हैं। जब तक किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं मिलता, उसकी फसल का बीमा नहीं होता जिससे कि फसल नष्ट हो जाने पर उसकी हानि की पूर्ति हो जावे, उसके ऋण-भार को दूर नहीं कर दिया जाता, उसके लिए उचित सूद पर यथेष्ट साख का प्रबन्ध नहीं होता तथा मालगुजारी-पद्धति में आवश्यक संशोधन नहीं होता, सहायक तथा ग्राम्य उद्योग-धन्धों की उन्नति नहीं होती तथा ग्राम सुधार के द्वारा गाँव के सामाजिक जीवन को अधिक आकर्षक नहीं बनाया जाता, तब तक खेती की आशाजनक उन्नति नहीं हो सकती।

खेती की पैदावार की बिक्री की उचित व्यवस्था करने के लिए कौंसिल का मत है कि जो देश में २००० मण्डियाँ हैं उनको कानून बनाकर 'नियन्त्रित मण्डी' बना दिया जावे। प्रत्येक मण्डी के लिये एक निरीक्षक इन्सपेक्टर) रख दिया जावे। प्रत्येक मण्डी में वैज्ञानिक ढंग के अन्न-भण्डार (गोदाम) बनाये जावें जहाँ दो करोड़ मन अनाज रक्खा जा सके। खेती की पैदावार की बिक्री सहकारी विक्रय समितियों के द्वारा हो। सभी प्रकार के व्यापारियों को लायसेंस लेना अनिवार्य कर दिया जावे तथा सरकार को कुछ अनाज अपने अधिकार में रखना चाहिए जिसको आवश्यकता पड़ने पर बेंच कर अथवा और खरीदकर सरकार मूल्य में स्थिरता कायम कर सके।

फलों की अधिक उत्पत्ति करने के उद्देश्य से कृषि-कौंसिल ने यह राय दी है कि जो फलों के बाग पुराने हो गए हैं उन्हें काट दिया जावे और नये बाग लगाये जावें तथा एक फल टैकनालाजी इंस्टिट्यूट तथा एक केन्द्रीय फल सलाहकर नियुक्त किया जावे और प्रत्येक प्रान्त में फलों की पैदावार को बढ़ाने के लिए बोर्ड स्थापित किया जावे।

कौंसिल का कहना है कि ऊपर लिखी योजना के अनुसार कार्य किया जावे तो १५ वर्षों में खेती की पैदावार दुगुनी बढ़ सकती है। इस योजना को पूरा करने का

की नहरें सब पाकिस्तान में चली गईं। यही कारण है कि जहाँ तक खाद्य पदार्थों का प्रश्न है अपनी जनसंख्या को देखते हुए पाकिस्तान हिन्दुस्तान की तुलना में अधिक खाद्य पदार्थ उत्पन्न करता है।

इस विभाजन के फलस्वरूप भारतवर्ष के लिए कुछ नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। पहली समस्या तो यह है कि खाद्य पदार्थ की देश में यों ही कमी थी किन्तु अब खाद्य पदार्थों की कमी और अधिक होगी। जहाँ तक मोटे अनाज का प्रश्न है पाकिस्तान की अपेक्षा हिन्दोस्तान की स्थिति अच्छी है, परन्तु गेहूँ और चावल की दृष्टि से भारत की स्थिति खराब है। हाँ गन्ने की दृष्टि से भारत की स्थिति कहीं अधिक अच्छी है, पाकिस्तान में तो शक्कर का टोटा ही रहेगा क्योंकि वहाँ शक्कर के केवल ३ कारखाने हैं; जबकि १५० से अधिक चीनी के कारखाने हिन्दोस्तान में हैं। परन्तु हिन्दोस्तान की स्थिति जूट की दृष्टि से बहुत बुरी है। इस देश में ६७ मिलें जूट की हैं जो कि सारी की सारी हिन्दोस्तान में आ गई हैं। किन्तु जूट भारत में केवल २७ प्रतिशत ही उत्पन्न होता है। ७२·६ प्रतिशत जूट पाकिस्तान में उत्पन्न होता है। जहाँ तक कपास का प्रश्न है, भारत की स्थिति अच्छी नहीं है। यहाँ यथेष्ट कपास उत्पन्न नहीं होती है। जो कपास का १३ प्रतिशत भूमि पाकिस्तान में चली गई है वह पश्चिमी पंजाब तथा सिंध में है और वहीं लम्बे फूल वाली उत्तम जाति की अमेरिकन कपास उत्पन्न होती थी। भारत में छोटे फूल वाली कपास ही अधिक होती है।

भविष्य में हिन्दोस्तान के क्षेत्र में हमें केवल खाद्य पदार्थ ही अधिकाधिक उत्पन्न करना नहीं है वरन् जूट और बढ़िया लम्बी फूल वाली कपास भी उत्पन्न करना होगा। साथ ही, जो लाखों शरणार्थी पाकिस्तान छोड़कर हिन्दोस्तान में चले आये हैं उनके भोजन की समस्या को भी हल करना होगा।

अस्तु, यदि हम खेती को उन्नतिशील धन्धा बनाना चाहते हैं तो हमें खेती में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे; नहीं तो खेती के धन्धे की दशा में सुधार नहीं हो सकता और न तब तक गाँवों और ग्रामीण जनता की ही आर्थिक स्थिति सुधर सकती है।

आर्थिक कार्यक्रम कमेटी की रिपोर्ट : यह निश्चित है कि भारतवर्ष आज ऐसी स्थिति में पहुँच गया है कि बिना खेती में क्रांतिकारी परिवर्तन किये हम अपने देशवासियों के लिए यथेष्ट कच्चा माल उत्पन्न नहीं कर सकते। अभी हाल में भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर कांग्रेस कमेटी में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आर्थिक कार्यक्रम कमेटी बिठाई थी। उस कमेटी के अनुसार खेती के धन्धे का पुनर्निर्माण सहकारिता के आधार पर होना चाहिए। खेती के सम्बन्ध में नेहरू कमेटी का मत नीचे लिखा है।

उसके उपरान्त दूसरा प्रश्न यह है कि भारत में जो अलाभकारी जोत की समस्या है उसको दूर किया जावे। आज जो अधिकांश किसान चार-पांच बीघा भूमि को अत्यन्त अवैज्ञानिक ढङ्ग से जोतते हैं उसको हटाना होगा। इसके लिए आवश्यकता इस बात की होगी कि प्रत्येक जिले में एक निश्चित भूमि के क्षेत्रफल को आर्थिक जोत घोषित कर दिया जावे जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता। साथ ही बिखरे हुए खेतों की आवश्यकता पड़ने पर दबाव डालकर चकबन्दी करनी होगी।

इसका परिणाम यह होगा कि कुछ लोग जो कि आज दो-चार बीघा भूमि जोतते हैं, और अर्द्ध खेत-मजदूर हैं, वे खेती से बिलकुल हट जावेंगे। आज भी भारतवर्ष में जो खेत-मजदूर वर्ग है उसकी स्थिति दयनीय है। गाँव में उसे जुताई और बुवाई के समय तथा फसल कटने के समय खेती में काम मिलता है। बहुधा वह अपने मालिक का कर्जदार होता है। उस ऋण के बदले फसल की बुवाई और कटने के समय उसे मालिक के खेत पर भोजनमात्र पर कार्य करना पड़ता है। कहीं-कहीं मालिक उसे कुछ मजदूरी भी दे देता है। शेष महीनों में वह खेत मजदूर घास छीलकर, भट्टों पर काम करके, लकड़ी बेचकर, समीपवर्ती कस्बों तथा शहरों में मजदूरी करके आजीविका चलाता है। उसकी स्थिति एक दास की भाँति होती है। हाँ, युद्ध के फलस्वरूप उसकी स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, फिर भी उसकी दशा अत्यन्त दयनीय है।

इनके अतिरिक्त करोड़ों छोटे किसान हैं जो चार-पाँच बीघा भूमि जोतते हैं, किन्तु उनके खेत पर उनके लिए यथेष्ट काम नहीं होता। अस्तु; शेष समय में वे भी खेत-मजदूरों की भाँति ही काम करते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक जोत देने का प्रयत्न किया गया तो ऐसे खेत-मजदूरों की संख्या बढ़ जावेगी कि जिनके पास भूमि नहीं होगी। उनको गाँवों में काम देने की समस्या उठ खड़ी होगी।

उसके लिए हमें नीचे लिखे उपाय करने होंगे। एक तो देश में जो लगभग ६ करोड़ एकड़ भूमि जोती जा सकने वाली बंजर भूमि है, राज्य को उसे खेती के योग्य बनाना होगा। उसके लिए सिंचाई इत्यादि के साधनों को उपलब्ध करना होगा। तदुपरान्त उस भूमि पर खेत-मजदूरों के सहकारी फार्म स्थापित करने होंगे। खेत-मजदूरों को वह भूमि व्यक्तिगत रूप से न दी जाकर उस पर खेत-मजदूरों के सहकारी फार्म स्थापित करने से एक लाभ यह होगा कि देश में सहकारी फार्मों की उन्नति होगी। जब यह सहकारी फार्म अधिक लाभदायक होंगे तो अन्य किसान भी सहकारी खेती के लिए तैयार हो जावेंगे।

किन्तु इतना करने से ही जो लोग कि खेती पर काम नहीं पा सकेंगे उनकी समस्या हल नहीं हो जावेगी। इसके लिए हमें खेत-मजदूरों की सहकारी श्रम समितियाँ स्थापित करनी होंगी। राज्य तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सड़कों, नहरों तथा अन्य निर्माण

के लिए हमें सहकारी फार्म भी स्थापित करने होंगे। हो सकता है कि आरम्भ में किसान सहकारी फार्म का सदस्य बनना स्वीकार न करें। परन्तु खेत-मजदूरों के परती भूमि पर सहकारी फार्मों को अधिक लाभदायक देखकर वे उसका स्वागत करेंगे। फिर सरकार सहकारी फार्मों को मालगुजारी तथा सिंचाई में कुछ छूट देकर किसानों को सहकारी फार्म स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है। प्रत्येक १० सहकारी फार्मों के बीच में एक राज्य का कृषि स्टेशन हो। उसमें एक कृषि विशेषज्ञ रहे जिससे सहकारी फार्म सलाह ले सकें, स्टेशन में ट्रैक्टर तथा अन्य कीमती यंत्र भी रहें जोकि फार्मों को किराये पर दिये जा सकें, तथा खाद और अच्छे बीज भी वहाँ से मिल सकें। इस प्रकार हम अपनी भूमि से अधिक से अधिक पैदावार प्राप्त कर सकते हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ग्रामीण ऋण, गाँवों की सड़कों इत्यादि की समस्याओं को राज्य को अविलम्ब पूरी करना होगा। इस प्रकार खेती के धन्धे का नवीन ढङ्ग से सङ्गठन करने पर ही हम ग्राम्य जीवन को अधिक समृद्धिशाली बना सकते हैं।

पंच-वर्षीय योजना और कृषि

योजना आयोग ने जुलाई १९५१ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। उसके अनुसार खेती के धन्धे की इस समय नीचे लिखी विशेषतायें हैं :—

(१) साधारण वर्ष में भारत में लगभग ३० लाख टन खाद्यान्न की कमी रहती है और यदि किसी वर्ष फसल खराब हो जावे तो इससे भी अधिक खाद्यान्न विदेशों से मंगवाना पड़ सकता है। भारत में कपास की १२ लाख गांठों की कमी पड़ती है। जूट की २० लाख गांठों की कमी पड़ती है। इसके अतिरिक्त गन्ने और तिलहन की भी कमी है। अस्तु, खेती के धन्धे के लिए योजना बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि देश को शीघ्र से शीघ्र ऊपर लिखी फसलों की दृष्टि से स्वावलम्बी बनना है।

(२) ऐसा प्रतीत होता है कि परती भूमि पहले की अपेक्षा एक करोड़ एकड़ अधिक हो गई है।

(३) प्रति एकड़ खाद्यान्न की पैदावार ६१९ पौंड से घटकर ५६५ पौंड रह गई है।

अतएव देश का प्रयत्न यह होना चाहिए कि भारत खाद्य पदार्थों, कपास, जूट, गन्ना और तिलहन की दृष्टि में स्वावलम्बी हो उसके लिए गहरी खेती के द्वारा प्रति एकड़ पैदावार को बढ़ाना होगा। ऐसा प्रयत्न करना होगा कि परती भूमि कम छूटे और नई बजर भूमि को तोड़ कर खेती का विस्तार किया जावे।

योजना आयोग (प्लानिंग कमीशन) का कार्यक्रम

योजना आयोग ने खेती के लिए नीचे लिखा कार्यक्रम बनाया है :—

tive village management) को खेती की व्यवस्था का अन्तिम आदर्श स्वीकार किया है। परन्तु सहकारी गांव प्रबंध स्थापित करने में अधिक समय लगेगा, अस्तु इस समय खेती की उन्नति के लिए दो प्रकार के खेतों की स्थापना की सिफारिश की है—(१) बड़े रजिस्टर्ड फार्म (२) छोटे सहकारी फार्म।

रजिस्टर्ड फार्म का क्षेत्रफल भिन्न-भिन्न प्रान्तों में वहाँ की परिस्थिति के अनुसार निर्धारित किया जावेगा। साधारणतः वह आर्थिक जोत से ६ गुना होगा। रजिस्टर्ड फार्म तभी स्वीकार किया जावेगा जब कि वह कृषि विभाग द्वारा स्वीकृत उन्नत खेती की पद्धति को अपनावे, सरकार को अच्छे बीज बेचना स्वीकार करे, अतिरिक्त खाद्यान्न सरकार को बेचे, तथा सरकार द्वारा निर्धारित मजदूरी खेत-मजदूरों को देना स्वीकार करे।

जिन किसानों के पास थोड़ी-थोड़ी भूमि है वे सहकारी कृषि समितियों में संगठित होकर खेती करें। सरकार इन सहकारी कृषि समितियों को कुछ सहायता तथा सुविधायें दे।

मुद्रक—पं० धर्मचन्द भार्गव, बी० एस-सी०
अमृत-इलैक्ट्रिक प्रेस, बेलनगंज (भैरों), आगरा।

भारती अर्थशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ आधुनिक पुस्तक

भारतीय अर्थशास्त्र की रूपरेखा

द्वितीय भाग

लेखक

शंकर सहाय सक्सेना एम० ए०, एम० कॉम०

प्रिंसिपल, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर

डीन, कामर्स फैकल्टी, राजपूताना विश्वविद्यालय, जयपुर

तथा

प्रेमनारायण माथुर एम० ए०, बी० कॉम०

भूतपूर्व गृह तथा शिक्षा मंत्री, राजस्थान

एवं आचार्य, वनस्थली विद्यापीठ